॥ वनपर्व ॥

अ० १ (व० १) पाण्डवों का वन गमन, और ब्राह्मणों का साथ

मूल—एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः। धार्त-राष्ट्रैः सहामात्यैर्निर्ययुः गजसाह्वयात् ॥ १ ॥ वर्धमान पुरद्वारा दभि निष्क्रम्य पाण्डवाः । उदङ्मुखाः शस्त्रभृतः प्रययुः सह कृष्णया ॥ २ ॥ इन्द्रसेनादयश्चैव भृत्याः परि चतुर्दश । रथैरनु ययुः शीघ्रैः स्त्रिय आदाय सर्वशः ॥ ३ ॥

अर्थ—इस प्रकार जुए में जीते हुए, और धृतराष्ट्र के दुर्जन पुत्रों और उन के मन्त्रियों से कोप में लाए हुए पाण्डव, हस्ति-नापुर से बाहर निकले ॥ १ ॥ वर्धमानपुर (की सड़क वाले) द्वार से बाहर निकल कर पाण्डव शस्त्र धारे हुए कृष्णा सहित उत्तराभिमुख गए ॥ २ ॥ इन्द्रसेन आदि लग भग चौदह भृत्य स्त्रियों को साथ लिये शीघ्रगामी रथों से उनके पीछे गए ॥ ३ ॥

मूल—गतानेतान् विदित्वा तु पौराः शोकाभिपीडिताः । गर्हयन्तोऽसकृद् भीष्मविदुरद्रोणगौतमान् ॥ ४ ॥ ऊचुर्विगत संत्रासाः समागम्य परस्परम् ॥ ५ ॥ न तत्कुलं न चाचारो न धर्मोऽर्थः कुतः सुखम् । यत्र पापसहायोऽयं पापो राज्यं चिकीर्षति ॥ ६ ॥ दुर्योधनो गुरुद्वेषी त्यक्ताचारसुहृज्जनः । अर्थलुब्धोऽ-भिमानी च नीचः प्रकृतिनिर्घृणः ॥ ७ ॥ नेयमस्ति मही कृत्स्ना यत्र दुर्योधनो नृपः । साधु गच्छामहे सर्वे यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ॥ ८ ॥ सानुक्रोशा महात्मानो विजितेन्द्रियशात्रवः । ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च धर्माचार परायणाः ॥ ९ ॥ एवमुक्त्वाऽनु जग्मुस्ते पाण्डवांस्तान् समेत्य च । ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे कौन्तेयान् मा-

द्रिनन्दनान् ॥ १० ॥

अर्थ—इन को चले गए जान कर पुर के लोग शोक से पीड़ित होकर बार२ भीष्म विदुर द्रोण और कृपाचार्य को निन्दते हुए, निडर हो, आपस में कहने लगे ॥ ४—५ ॥ वहां न कुल, न आचार, न धर्म, न अर्थ है, और सुख कहां ? जहां पापी साथियों वाला, गुरुओं का द्वेषी, आचार और सुहृज्जनों को त्यागे हुए, अर्थ का लालची, अभिमानी, नीच, स्वभाव से निर्दय यह पापी दुर्योधन राज्य करना चाहता है ॥ ६-७ ॥ यह सारी भूमि (रहने) योग्य नहीं है, जहां दुर्योधन राजा है । हम सब भले ही वहां जाएंगे, जहां पाण्डव जा रहे हैं ॥ ८ ॥ जो दयावान्, उदार हृदय, इन्द्रियों और शत्रुओं के जीतने वाले, लज्जा वाले, कीर्ति वाले और धर्माचरण में तत्पर हैं ॥ ९ ॥ यह कह कर वह सब पाण्डवों के पीछे गए, और हाथ जोड़ कुन्ती और माद्री के पुत्रों से यह बोले ॥ १० ॥

मूल—क्वगमिष्यथ भद्रंवस्त्यक्त्वाऽस्मान् दुःख भागिनः । वयमप्यनुयास्यामो यत्र यूयं गमिष्यथ॥ ११ ॥ अधर्मेण जितान् श्रुत्वा युष्मांस्त्यक्तघृणैः परैः । उद्विग्नाः स्मो भृशं सर्वे नास्मान् हातु मिहार्हथ ॥ १२ ॥ भक्तानुरक्तान् सुहृदः सदा प्रियहिते रतान् । कुराजाधिष्ठिते राज्ये न विनश्येम सर्वशः॥ १३॥ श्रूयतां चाभिधास्यामो गुणदोषान् नरर्षभाः । शुभाशुभाधिवासेन संसर्गः कुरुते यथा ॥१४॥+ वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा। पुष्पाणा मधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥ १५ ॥ मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः । अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधु समागमः ॥ १६ ॥ तस्माद् प्राज्ञैश्च महद्भिश्च सुस्वभावैस्तपस्विभिः ।

सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शम परायणैः ॥ १७ ॥

अर्थ--तुम्हारा कल्याण हो, हम दुःख भागियों को त्याग कर कहां जाओगे, हम भी आप के साथ जाएंगे, जहां तुम जाओगे ॥ ११ ॥ निर्दय शत्रुओं ने तुम्हें अधर्म से जीता है, यह सुन कर हम सब बड़े दुःखी हुए हैं, कृपया हमारा त्याग न करो ॥ १२ ॥ जो कि तुम्हारे भक्त, प्रेमी, सुहृद्, सदा प्रीतिपात्र हैं और हित में रत हैं। कुराजा के अधीन राज्य में रह कर हम अपना विनाश नहीं चाहते हैं ॥ १३ ॥ सुनिये हे पुरुषवरो ! सुनिये, हम शुभ अशुभ की वास से गुण दोष बतलाएंगे, जैसा कि संसर्ग उत्पन्न कर देता है ॥ १४ ॥ गन्ध पुष्पों की वास से वस्त्र, जल, तिलों (तैल) और भूमि को वास वाला बना देता है, इस प्रकार गुण संसर्ग से उत्पन्न होते हैं ॥ १५ ॥ मूर्खों के साथ समागम मोह जाल का कारण होता है, और दिन पर दिन धर्मात्माओं के साथ समागम धर्म का कारण होता है ॥ १६ ॥ इस लिये प्राज्ञ, उदार चित्त, अच्छे स्वभाव वाले, तपस्वी, धर्मात्मा, शान्ति से पूर्ण पुरुषों के साथ समागम करना चाहिये ॥१७॥

मूल—येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च। तान् सेवेत तैः समास्याहि शास्त्रेभ्योपि गरीयसी ॥ १८ ॥ +असतां दर्शनात् स्पर्शात् संजल्पाच्च सहासनात् । धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिध्यन्ति च न मानवाः ॥ १९ ॥ बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् । मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥ २० ॥ ये गुणाः कीर्तिता लोके धर्मकामार्थ संभवाः । लोकाचारेषु सम्भूता वेदोक्ताः शिष्टसम्मताः ॥ २१ ॥ ते युष्मासु समस्ताश्च व्यस्ताश्चैवेह सद्गुणाः । इच्छामो गुणवन्मध्ये वस्तुं श्रेयोऽभि

काङ्क्षिणः ॥ २२ ॥

अर्थ—जिन के यह तीन शुद्ध हैं विद्या (धर्माचार सिखलाने वाली वेदादि विद्या), योनि (पिता माता की शुद्धि) और कर्म। उन का सेवन करे, उनकी संगति शास्त्रों से भी बढ़ कर है ॥ १८ ॥ असत्पुरुषों के दर्शन स्पर्शन से, बात करने से और साथ बैठने से धर्माचार गिर जाते हैं, और (वह गिरे हुए) मनुष्य सिद्धि को नहीं पाते हैं ॥१९॥ नीचों के साथ समागम से पुरुषों की बुद्धि हीन होजाती है, साधारणों के साथ साधारण होती है, और उत्तमों के साथ उत्तम होजाती है ॥ २० ॥ वेद में कहे हुए वा लोकाचारों में प्रकट हुए शिष्ट सम्मत जो गुण लोक में धर्म काम अर्थ के उत्पन्न करने वाले कहे गए हैं ॥ २१ ॥ वह सद्गुण तुम में इकट्ठे और अलग २ विद्यमान हैं, सो अपना कल्याण चाहते हुए हम गुणवानों के बीच में रहना चाहते हैं॥२२॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—धन्या वयं यदस्माकं स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः। असतोपि गुणानाहुर्ब्राह्मणप्रमुखाः प्रजाः ॥ २३ ॥ तदहं भ्रातृसहितः सर्वान् विज्ञापयामि वः। नान्यथा तद्धि कर्तव्यमस्मत्स्नेहानुकम्पया ॥ २४ ॥ भीष्मः पितामहो राजा विदुरो जननी च मे। सुहृज्जनश्च प्रायो मे नगरे नागसाह्वये ॥ २५ ॥ ते त्वत्समद्धित कामार्थ पालनीयाः प्रयत्नतः। युष्माभिः सहिताः सर्वे शोक संताप विह्वलाः ॥ २६ ॥ निवर्ततागता दूरं समागमन भाविताः। स्वजने न्यासभूते मे कार्या स्नेहान्विता मतिः ॥२७॥ एतद्धि ममकार्याणांपरमं हृदि संस्थितम्। कृतेनानेन तुष्टिर्मे सत्कारश्च भविष्यति ॥ २८ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हम धन्य हैं, जब कि प्रेम और

कृपा दिखलाते हुए ब्राह्मण आदि प्रजाजन हमारे (अन्दर) न होते हुए गुणों को भी कहते हैं ॥ २३ ॥ सो मैं भाइयों सहित आप से विनति करता हूं, हमारे (ऊपर) प्रेम और कृपा से उस को अन्यथा न करना ॥ २४ ॥ पितामह भीष्म, राजा (धृतराष्ट्र) विदुर, मेरी जननी, और बहुत से मेरे सुहृज्जन हस्तिनापुर में हैं॥ २५ ॥ हमारी हितकामना के लिये उन का प्रयत्न से पालन करना, जो तुम्हारे साथ हमारे शोक और संताप से व्याकुल होंगे ॥ २६॥ मेरे (फिर) आने की शपथ है,अब लौटो,दूर आगए हो, मेरे बन्धुजन जो तुम्हारे पास मेरी अमानत हैं, उन पर स्नेह युक्त मति रखना ॥ २७ ॥ यह (इस समय के कर्तव्यों में) सब से ऊंचा मेरे हृदय में है, इसके पूरा करने से मेरी तुष्टि और सत्कार होगा ॥ २८ ॥

मूल—तथानुमन्त्रितास्तेन धर्मराजेन ताः प्रजाः। चक्रुरार्तस्वरं घोरं हा राजन्निति संहताः ॥ २९ ॥ गुणान् पार्थस्य संस्मृत्य दुःखार्ताः परमातुराः । अकामाः संन्यवर्तन्त समागम्याथ पाण्डवान् ॥ ३० ॥ निवृत्तेषु तु पौरेषु रथानास्थाय पाण्डवाः। आजग्मुर्जान्हवी तीरे प्रमाणाख्यं महावटम् ॥ ३१ ॥ ते तं दिवस शेषेण वटं गत्वा तु पाण्डवाः।ऊषुस्तां रजनींवीराः संस्पृश्य सलिलं शुचि ॥ ३२ ॥ उदकेनैवतां रात्रिं मूषुस्ते दुःख कर्शिताः । अनुजग्मुश्च तत्रैतान् स्नेहाव केचिद् द्विजातयः ॥ ३३ ॥ तेषां प्रादुष्कृताग्नीनां मुहूर्ते रम्य दारुणे । ब्रह्मघोष पुरस्कारः संजल्पः समजायत ॥ ३४ ॥

अर्थ—धर्मराज ने जब उन प्रजाजनों को यह अनुज्ञा दी, तो हे राजन् ! वह मिलकर घोर आर्त ध्वनि करने लगे ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर के गुणों को स्मरण कर दुःख से पीड़ित, परम आतुर हुए वह, पाण्डवों से मिल कर लौटे, यद्यपि चाहते न थे ॥३०॥ पुरवासियों के लौटने पर पाण्डव रथों पर चढ़ कर गंगा तटपर प्रमाण-नामक बड़ के नीचे आए ॥ ३१ ॥ सो वह दिनशेष से उस बड़ के नीचे पहुंच कर, पवित्र जल का आचमन कर, रात वहां रहे ॥ ३२ ॥ दुःख से दुर्बल हुए उन्होंने जलपान करके ही रात्रिवास किया, प्रेम से कई ब्राह्मण भी वहां उनके पास आ पहुंचे ॥ ३३ ॥ सुहावने और डरावने मुहूर्त (सन्ध्याकाल) में जब उन्होंने अग्नियें प्रकट कीं, उस समय वेदध्वनिपूर्वक संवाद हुआ ॥ ३४ ॥

अ०२(व०२-४) युधिष्ठिर और ब्राह्मणों का संवाद, धृतराष्ट्र और विदुर का संवाद

मूल—प्रभातायां तु शर्वर्यां तेषामक्लिष्टकर्मणाम् । वनं यियासतां विप्रास्तस्थु भिक्षाभुजोऽग्रतः ॥ १ ॥ तानुवाच ततो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । वयं हि हृतसर्वस्वा वनं गच्छाम दुःखिताः ॥ २ ॥ वनं च दोषबहुलं बाहु व्याल सरीसृपम् ।परि-क्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति ॥ ३ ॥ ब्राह्मणाऊचुः— गतिर्या भवतां राजंस्तां वयं गन्तु मुद्यताः । नार्हस्यस्मान् परि-त्यक्तुं भक्तान् सद्धर्म दर्शिनः ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर उवाच—ममापि परमा भक्तिर्ब्राह्मणेषु सदा द्विजाः । सहायविपरिभ्रंशस्त्वयं सा-दयतीव माम् ॥ ५ ॥ आहरे युरिमे ये पि फलमूलमृगांस्तथा । त इमे शोकजैर्दुःखैर्भ्रातरो मे विमोहिताः ॥ ६ ॥ द्रौपद्या विप्र कर्षेण राज्यापहरणेन च । दुःखार्दितानि मान् क्लेशैर्नाहं योक्तु

विहारमहे ॥ ७ ॥ ब्राह्मणा ऊचुः—अस्मत्पोषणजा चिन्ता माभूत् ते हृदि पार्थिव। स्वयमाहृत्य चान्नानि त्वानु यास्यामहे वयम्॥८॥ अनुध्यानेन जप्येन विधास्यामः शिवं तव। कथाभिश्चाभि रम्याभिः सह रंस्यामहेवयम् ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर उवाच—एवमेतन्न संदेहो रमेऽहं सततं द्विजैः। न्यून भावात्तु पश्यामि मत्यादेश मिवात्मनः ॥ १० ॥ ततः कृतस्वस्त्ययना धौम्येन सह पाण्डवाः। द्विज संघैः परिवृताः प्रययुः काम्यकं वनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—रात के प्रभात होने पर (प्रजा के लिये) सुखदायी कर्मों वाले जब वन जाने को तय्यार हुए तब, भिक्षा भोजी ब्राह्मण (साथ चलने के लिये) आगे खड़े होगए ॥ १ ॥ तब कुन्ती पुत्र राजा युधिष्टिर उन से बोले—सर्वस्व छिने हुए हम दुःखित हुए वन को जारहे हैं ॥ २ ॥ और वन में बड़े दोष हैं, बहुत हिंसक जीव और सर्प घूमते हैं, मैं समझता हूं, कि वहां निःसंदेह आप को बड़ा क्लेश होगा ॥ ३ ॥ ब्राह्मण बोले—हे राजन्! जो गति आपकी है, उसी में हम जाने को तय्यार हैं (जहां आप जैसी अवस्था में रहेंगे, वहीं हम वैसी अवस्था में रहेंगे), हम आपमें भक्ति वाले हैं और सद्धर्म के जानने वाले हैं, आप को हमारा परित्याग नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर बोले—हे द्विजो! मेरी भी ब्राह्मणों में सदा परम भक्ति है, किन्तु यह साथियों का (ऐश्वर्य से) फिसलना मुझे सदा क्लेश सा देता है ॥ ५ ॥ यह जो फल मूल और मृगों को लाएंगे, वह यह मेरे भाई शोक जन्य दुःखों से विमोहित हैं ॥ ६ ॥ द्रौपदी के खींचने से और राज्य के छिनने से यह दुःख से पीड़ित हैं, अब इन को अधिक क्लेशों से युक्त करना नहीं चाहता ॥ ७ ॥

ब्राह्मण बोले—हे पृथिवीपते ! हमारे पालने की चिन्ता आपके हृदय में मत हो, हम (अपने लिये) आप अन्न लाएंगे, और आप के साथ चलेंगे ॥ ८ ॥ अपने चिन्तन से और वेद पाठ से आप का कल्याण मांगेंगे, और सुहावनी कथाओं से आप के साथ आनन्द लूटेंगे ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर बोले—यह इसी भांति है, संदेह नहीं, मैं ब्राह्मणों के साथ निरन्तर आनन्द मनाता हूं, किन्तु जनता से (सेवा न कर सकने से) अपना धिक्कार सा देखता हूं ॥ १० ॥ अनन्तर उनके लिये स्वस्तिवाचन जब हो चुका, तब पाण्डव धौम्य के साथ ब्राह्मण संघों से घेरे हुए काम्यक वन को गए ॥ ११ ॥

मूल—वनं प्रविष्टेष्वथ पाण्डवेषु प्रज्ञाचक्षुस्तप्यमानोऽम्बिकेयः । धर्मात्मानं विदुरमगाध बुद्धिं सुखासीनो वाक्य मुवाच राजा ॥ १२ ॥ एवं गते विदुर यदद्य कार्यं पौराश्चे मे कथमस्मान् भजेरन् । ते चाप्यस्मान्नोद्धरेयुः समूलांस्तत्त्वं ब्रूयाः साधुकार्याणि वेत्सि ॥ १३ ॥ विदुर उवाच—त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलो नरेन्द्र राज्यं चेदं धर्म मूलं वदन्ति । धर्मे राजन् वर्तमानः स्वशक्त्या पुत्रान् सर्वान् पाहि पाण्डोः सुतांश्च ॥ १४ ॥ स वै धर्मो विप्रलब्धः सभायां पापात्मभिः सौबलेय प्रधानैः । आहूय कुन्तीसुत मक्षवत्यां पराजैषीत् सत्यसन्धं सुतस्ते ॥ १५ ॥ तस्य ते दुष्प्रणीतस्य राजञ्छेषस्याहं परिपश्याम्युपायम् । यथा पुत्रस्तव कौरव्य पापान्मुक्तो लोके प्रतितिष्ठेत साधु ॥ १६ ॥ तद्वै सर्वं पाण्डुपुत्रा लभन्तां यत्तद्राजन्नभिसृष्टं त्वयासीत् । एष धर्मः परमो यत्स्वकेन राजा तुष्येन्न परस्वेषु गृध्येत ॥ १७ ॥ यशो न नश्येद् ज्ञातिभेदश्च न स्याद्धर्मो न स्यान्नैव चैवं कृते त्वाम् । एतत्कार्यं तव सर्वं प्रधानं तेषां तुष्टिः शकुनेश्चावमानः ॥ १८ ॥ एवं शेषं यदि पुत्रेषु ते

स्यादेतद्राजंस्त्वरमाणः कुरुष्व। तथैतदेवं न करोषि राजन् ध्रुवं कुरूणां भविता विनाशः ॥ १९ ॥

अर्थ—पाण्डवों के वन में प्रविष्ट होजाने के पीछे सुख पूर्वक बैठे हुए पर अन्दर से संतप्त हुए प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र अथाह बुद्धि वाले धर्मात्मा विदुर से यह वाक्य बोले ॥ १२ ॥ ऐसी अवस्था में-हे विदुर क्या हमें करना चाहिये, कैसे यह पुरवासी हमारी ओर झुकें, न कि हमें जड़ से उखाड़ें, ऐसा कर्तव्य आप बतलाएं, आप कर्तव्यों को भली भांति जानते हैं ॥ १३ ॥ विदुर बोले, हे नरेन्द्र इस त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की जड़ धर्म है, राज्य की जड़ भी विद्वान् धर्म को ही कहते हैं । सो हे राजन् अपनी शक्ति से धर्म पर चलते हुए आप सारे पुत्रों का पालन करें और पाण्डु के पुत्रों का भी॥ १४ ॥ वह धर्म सभा के अन्दर ठगा गया है, जब कि तेरे पुत्र ने पापात्मा शकुनि आदि के द्वारा सत्य प्रतिज्ञा वाले कुन्ती पुत्र को बुलाकर पासे में जीता ॥ १५ ॥ यह जो एक कुचाल चली गई है हे राजन् ! इस के शेष (होने वाले फल) का मैं उपाय देखता हूं, जिससे हे कौरव! तेरा पुत्र पाप से मुक्त हो, और लोक में अच्छा प्रतिष्ठित हो ॥ १६ ॥ हे राजन् ! पाण्डव उस सारे को पाएं, जो आपने दे दिया था, यह परम धर्म है, कि राजा अपने (धन, ऐश्वर्य) से संतुष्ट हो, दूसरों के धनों की लालसा न करे ॥ १७ ॥ यश भी नष्ट न होगा, ज्ञाति भेद भी न होगा, किन्तु ऐसा करने में धर्म होगा, यह काम तेरा सब से प्रधान है, उनकी प्रसन्नता और शकुनि का अपमान ॥ १८ ॥ पुत्रों के विषय में यह तेरा काम शेष है, यदि होसके, तो हे राजन् ! जल्दी कर, यदि हे राजन् ! ऐसा

न करेगा, तो निःसंदेह कुरुओं का नाश होगा।

मूल-यद्येतदेव मनुमन्ता सुतस्ते संप्रीयमाणः पाण्डवैरेक राज्यम्। तापो न ते भविता प्रीतियोगात्त्वचेन्निगृह्णीष्व सुतं सुखाय॥ २०॥ दुःशासनो याचतु भीमसेनं सभामध्ये द्रुपदस्यात्मजां च। युधिष्ठिरं त्वं परिसान्त्वयस्व राज्ये चैनं स्थापयस्वाभिपूज्य॥ २१॥ त्वया पृष्टः किमहमन्यद् वदेय मे तत्कृत्वा कृतकृत्योसि राजन्॥ २२॥ धृतराष्ट्र उवाच-हितं तेषामहितं मामकाना मेतत्सर्वं मम नावैति चेतः। कथं हि पुत्रं पाण्डवार्थे त्यजेयं स मां जिह्मं विदुर सर्वं ब्रवीषि॥ २३॥ मानं च तेऽहमधिकं धारयामि यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्वम्॥ २४॥ एतावदुक्त्वा धृतराष्ट्रोऽन्वपद्य दन्तर्वेश्म सहसोत्थाय राजन्। नेद मस्त्यथ विदुरो भाषमाणः संप्राद्रवद् यत्र पार्था बभूवुः॥ २५॥

अर्थ--यदि तेरा पुत्र प्रसन्नता से पाण्डवों के एक राज्य को मान ले, तो तुझे प्रसन्नता रहेगी और कभी संताप न होगा, यदि न माने, तो भलाई के अर्थ पुत्र का निग्रह कर॥ २०॥ दुःशासन भरी सभा में भीमसेन से और द्रौपदी से क्षमा मांगे, युधिष्ठिर को आप शान्ति दें, और आदर पूर्वक उसको राज्य में स्थापन करें॥ २१॥ आपसे पूछा हुआ मैं और क्या कहूं, यह बात करके हे राजन्! तू कृतकृत्य हो॥ २२॥ धृतराष्ट्र बोले—उन का हित, और मेरे बेटों का अहित, यह सब मेरे मन में नहीं जमता, कैसे मैं पुत्र को पाण्डवों के लिये त्यागूं, हे विदुर मुझे सारी टेढी बात कहता है॥ २३॥ और मैं तेरा मान अधिक रखता हूं, सो तू अपनी इच्छा से जा, चाहे रहो॥ २४॥ इतना कह धृतराष्ट्र झट उठ कर घर के अन्दर चला गया, और विदुर

यह कह कर कि अब यह (कुल) नहीं है, वहां चला गया जहां पाण्डव थे ॥ २५ ॥

अ०३(व०५-६)विदुर का पाण्डवों के पास जाना और फिरआना।

मूल—ततो गत्वा विदुरः काम्यकं तच्छीघ्रै रश्वैर्वाहिना स्यन्दनेन । ददर्शासीनं धर्मात्मानं विविक्ते सार्धं द्रौपद्या भ्रातृभिर्ब्राह्मणैश्च ॥ १ ॥ ततोऽपश्यद् विदुरं तूर्णमाराद्भ्यायान्तं सत्यसन्धः स राजा । अथाब्रवीद् भ्रातरं भीमसेनं किं नु क्षत्ता वक्ष्यति नः समेत्य ॥ २ ॥ कच्चिन्नायं वचनात् सौबलस्य समाह्वाता देवनायोपयातः । कच्चित् क्षुद्रः शकुनिर्नायुधानि जेष्यत्यस्मान् पुनरेवाक्षवत्याम् ॥ ३ ॥ समाहूतः केनाचिदाद्रवेति नाहं शक्तो भीमसेनापयातुम् । गांडीवे च संशयिते कथं नु राज्य प्राप्तिः संशयिता भवेन्नः ॥ ४ ॥ तत उत्थाय विदुरं पाण्डवेया प्रत्यगृह्णन् नृपते सर्व एव ते । तैः सत्कृतः सच तानाजमीढो यथोचितं पाण्डुपुत्रान् समेत्य ॥ ५ ॥ समाश्वस्तं विदुरं ते नरर्षभास्ततोऽपृच्छन्नागमनाय हेतुम् । स चापि तेभ्यो विस्तरतः शशंस यथावृत्तो धृतराष्ट्रो विकयः ॥ ६ ॥

अर्थ—विदुर शीघ्रगामी घोड़े जोड़ रथ से काम्यक वन को गया, और वहां एकान्त में भाइयों ब्राह्मण और द्रौपदी के साथ धर्मात्मा (युधिष्ठिर) को बैठे देखा ॥ १ ॥ इधर उस सत्य प्रतिज्ञा वाले राजा ने शीघ्रता से पास आते हुए विदुर को देखा, और भाई भीमसेन से कहा, विदुर आकर क्या कहेगा? ॥ २ ॥ यह शकुनि के वचन से फिर जुए के लिये बुलावा देने तो नहीं आया, क्षुद्र शकुनि अब फिर पासे में हमारे शस्त्र तो नहीं जीते-

गा ॥ ३ ॥ 'सामने आ' इस प्रकार किसी से ललकारा हुआ मैं हे भीम हट नहीं सक्ता हूं, पर यदि गांडीव संशय में पड़ गया, तो हमारी राज्य प्राप्ति कैसे संदिग्ध न होगी ॥ ४ ॥ तब हे महाराज ! सभी पाण्डवों ने उठ कर विदुर को स्वीकार किया, और पाण्डु पुत्रों से मिल कर उस अजमीढ़ वंशी ने यथायोग्य उन से सत्कार पाया ॥ ५ ॥ जब विदुर आराम से बैठ गए, तब उन नरवरों ने उस से आने का कारण पूछा, और उस ने धृतराष्ट्र का सारा वर्ताव सविस्तर कह सुनाया ॥ ६ ॥

मूल—सोऽहंत्यक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा प्रशासितुं त्वामुपयातो नरेन्द्र । तद्वै सर्वं यन्मयोक्तं सभायां तद्धार्यतां यत् प्रवक्ष्यामि भूयः ॥ ७ ॥ क्लेशैस्तीव्रैर्युज्यमानः सपत्नैः क्षमां कुर्वन् काल मुपासते यः । संवर्धयन् शोकमिवाग्नि मात्मवान् स वै भुंक्ते पृथिवीमेक एव ॥ ८ ॥ यस्याविभक्तं वसु राजन् सहायैस्तस्य दुःखेप्यंश भाजः सहायाः । सहायानामेषं संग्रहणेऽभ्युपायः सहायाप्तौ पृथिवी प्राप्तिमाहुः ॥ ९ ॥ सत्यं श्रेष्ठं पाण्डव विप्रलापं तुल्यं चान्नं सह भोज्यं सहायैः । आत्मा चैषामग्रतो न स्म पूज्य एवं वृत्तिर्वर्धते भूमिपालः ॥ १० ॥ युधिष्ठिर उवाच—एवं करिष्यामि यथा ब्रवीषि परां बुद्धि मुपगम्याप्रमत्तः । यच्चाप्यन्यद् देशकालोपपन्नं तद्वै वाच्यं तत्करिष्यामि सर्वम् ॥ ११ ॥

अर्थ—सो राजा धृतराष्ट्र से त्यागा हुआ मैं हे नरेन्द्र तुझे शिक्षा देने आया हूं, हे राजन् ! जो कुछ मैंने सभा में कहा था, और जो अब कहूंगा उसे स्मरण रखना ॥ ७ ॥ शत्रुओं से तीव्र क्लेश उठाता हुआ भी जो क्षमा करता हुआ और जितेन्द्रिय हो आगकी चिंगारी की भांति अपने आप को बढ़ाता हुआ काल

की प्रतीक्षा करता है, वह अकेला पृथिवी को भोगता है ॥ ८ ॥ हे राजन् ! जिसका धन अपने साथियों के साथ सांझा रहता है, साथी उस के दुःख में सांझी बनते हैं, साथियों के इकट्ठा करने का यह उपाय है, और साथियों की प्राप्ति में पृथिवी की प्राप्ति कहते हैं ॥ ९ ॥ हे पाण्डव ! यह श्रेष्ठ सत्य है, प्रलाप नहीं, कि साथियों के साथ अन्न एक जैसा हो, और साथ खाना हो. और उन के सामने अपनी बड़ाई न करे, इस प्रकार वर्तता हुआ राजा बढ़ता है ॥ १० ॥ युधिष्ठिर बोले—आप से यह उत्तम बुद्धि पा अप्रमत्त होकर ऐसे ही करूंगा, जैसे आप कहते हैं, और जो कुछ और भी देशकाल के उचित हो, कहिये, सब करूंगा ॥११॥

मूल—गते तु विदुरे राजन्नाश्रमं पाण्डवान् प्रति। धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः पर्यतप्यत भारत ॥ १२ ॥ विदुरस्य प्रभावं च सन्धिविग्रह कारितम्। विवृद्धिं च परां मत्वा पाण्डवानां भविष्यति ॥ १३ ॥ स सभाद्वार मागम्य विदुरस्मारमोहितः। समक्षं पार्थिवेन्द्राणां पपाताविष्टचेतनः ॥ १४ ॥ स तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां सञ्जयं वाक्य मब्रवीत् ॥ १५ ॥ भ्राता मम सुहृच्चैव साक्षाद्धर्म इवापरः। तस्य स्मृत्याऽद्य सुभृशं हृदयं दीर्यतीव मे ॥१६॥ तमानयस्व धर्मज्ञं मम भ्रातर माशु वै। यदि जीवति रोषेण मया पापेन निर्धुतः ॥ १७ ॥

अर्थ—हे महाराज ! विदुर के पाण्डवों के आश्रम में चले जाने पर महाप्राज्ञ धृतराष्ट्र को बड़ा पश्चात्ताप हुआ ॥ १२ ॥ सन्धि और विग्रह कराने में विदुर के प्रभाव को, और उस से भविष्यत् काल में पाण्डवों की वृद्धि को जान कर (उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ) ॥ १३ ॥ सभा के द्वार पर आकर विदुर के

स्मरण से मोहित हुआ वह अचेत हो राजाओं के सामने गिर पड़ा ॥ १४ ॥ और फिर चेतना पाकर संजय से बोला ॥ १५ ॥ मेरा भाई और सुहृद् मानों साक्षाद् दूसरा धर्म है, उस के स्मरण से आज मेरा हृदय अत्यन्त फटता है ॥ १६ ॥ उस धर्मज्ञ मेरे भाई को जल्दी ला, यदि मुझ पापी से क्रोध से अपमानित किया हुआ जीता है ॥ १७ ॥

मूल—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्राद्रवत् काम्यकं प्रति । रौरवाजिनसंवीतं ददर्शाथ युधिष्ठिरम् ॥ १८ ॥ विदुरेण सहासीनं ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ॥ १९ ॥ सञ्जय उवाच—राजास्मराति ते क्षत्त-धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः । तं पश्य गत्वा त्वं क्षिप्रं संजीवय च पार्थिवम् ॥ २० ॥ एवमुक्तस्तु विदुरो धीमान् स्वजनवल्लभः । युधिष्ठिरस्यानुमते पुनरायाद् गजाह्वयम् ॥ २१ ॥ तमब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः । दिष्ट्या प्राप्तोसि धर्मज्ञ दिष्ट्यास्मरासि मेऽनघ ॥ २२ ॥ सोंकमानीय विदुरं मूर्ध्न्याघ्राय चैव ह । क्षम्यतामिति चोवाच यदुक्तोसि मयाऽनघ ॥ २३ ॥ विदुर उवाच—क्षान्तमेत्र मया राजन् गुरुर्मे परमो भवान् । एषोऽह मागतः शीघ्रं त्वद्दर्शन परायणः ॥ २४ ॥ पाण्डोः सुता यादृशा मे तादृशास्तव भारत । दीना इतीव मे बुद्धिरभिपन्नाऽद्य तान् प्रति ॥ २५ ॥ अन्योऽन्यमनुनीयैवं लेभाते परमं मुदम् ॥ २६ ॥

अर्थ—उसके उस वचन को सुनकर संजय काम्यक वन को गया, और मृगचर्म पहने युधिष्ठिर को देखा, जो विदुर के और सहस्रों ब्राह्मणों के साथ बैठा हुआ था ॥ १८—१९ ॥ सञ्जय बोला—हे विदुर राजा धृतराष्ट्र आप को स्मरण करते हैं, जल्दी चलकर उस के दर्शन करो और उस को जीवन दो॥२०॥

ऐसे कहा हुआ अपने जनों का प्यारा बुद्धिमान् विदुर युधिष्ठिर की अनुमति में फिर हास्तिनापुर आया ॥ २१ ॥ उस से महातेजस्वी धृतराष्ट्र बोले—हे धर्मज्ञ भाग्य से तुम आए हो, हे निष्पाप भाग्य से मेरा तुझे स्मरण है ॥ २२ ॥ यह कह विदुर को उसने गोद में ले लिया, और माथा चूमा, और कहा क्षमा कर हे निष्पाप जो मैंने कहा है ॥ २३ ॥ विदुर बोले—हे राजन् ! मैंने क्षमा ही किया हुआ है आप मेरे परम गुरु (बड़े) हैं । यह मैं जल्दी आप के दर्शन के लिये आया हूं ॥ २४ ॥ मुझे जैसे पाण्डु के पुत्र हैं, वैसे ही हे भारत तेरे हैं, किन्तु वह दीन हैं, इस से इस समय मेरी बुद्धि उनकी ओर झुकती है ॥ २५ ॥ इस प्रकार आपस में अनुनय करके परम सुख लाभ करते भए॥२६॥

अ० ४ (व० १२-१३) कृष्ण और युधिष्ठिर का संवाद

मूल—भोजाः प्रव्राजितान् श्रुत्वा वृष्णयश्चान्धकैः सह । पाण्डवान् दुःख संतप्तान् समाजग्मुर्महावने ॥ १ ॥ वासुदेवं पुरस्कृत्य सर्वे ते क्षत्रियर्षभाः । परिवार्योपविविशुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ २ ॥ वासुदेव उवाच—नैतत् कृच्छ्रं मनुप्राप्तो भवान् स्याद् वसुधाधिप । यद्यहं द्वारकायांस्यां राजन् सन्निहितः पुरा ॥ ३ ॥ आगच्छेयमहं द्यूत मनाहूतोपि कौरवैः । वारयेय महं द्यूतं बहून् दोषान् प्रदर्शयन् ॥ ४ ॥

अर्थ—भोज, वृष्णि और अन्धक, पाण्डवों का वनवास सुन कर दुःख से तपे हुओं के पास उस महावन में आए ॥ १ ॥ वह सब क्षत्रियवर कृष्ण को आगे कर के धर्मराज युधिष्ठिर के सामने घेरा डाल कर बैठ गए ॥ २ ॥ कृष्ण बोले—हे राजन् !

आप इस कष्ट में न पड़ते, यदि मैं उस समय द्वारका में उपस्थित होता ॥ ३ ॥ मैं कौरवों से बिन बुलाए भी द्यूत सभा में पहुंचता, और बहुत दोष दिखलाकर जुए को रोकता ॥ ४ ॥

मूल—स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं मेतत् कामसमुत्थितम् । दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ॥ ५ ॥ तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्र कोविदाः । विशेतश्च वक्तव्यं द्यूते पश्यन्ति तद्विदः ॥ ६ ॥ एकाहाद् द्रव्यनाशोऽत्र ध्रुवं व्यसनमेव च । अभुक्तनाशश्चार्थानां वाक्पारुष्यं च केवलम् ॥ ७ ॥ एतच्चान्यच्च कौरव्य प्रसंगि कटुकोदयम् । द्यूते ब्रूयां महाबाहो समासाद्याम्बिका सुतम् ॥ ८ ॥ एवमुक्तो यदि मया गृह्णीयाद् वचनं मम । अनामयं स्याद् धर्मश्च कुरूणां कुरुवर्धन ॥ ९ ॥ न चेत्स मम राजेन्द्र गृह्णीयान्मधुरं वचः । पथ्यं च भरतश्रेष्ठ निगृह्णीयां बलेन तम् ॥ १० ॥

अर्थ—स्त्रियें, जुआ, शिकार, सुरापान, यह राग से उत्पन्न होने वाले चार व्यसन कहे हैं, जिन से पुरुष ऐश्वर्य से गिर जाता है ॥ ५ ॥ शास्त्र के जानने वाले इन सब में दोष समझते हैं, जुए में विशेष करके देखते हैं ॥ ६ ॥ इस में एक दिन में धन का नाश होजाता है, और अनिवार्य विपत्ति आती है, बिना भोगे धनों का नाश होता है, निरी वाणी की कठोरता (पल्ले पड़ती है) ॥ ७ ॥ यह, और इसी प्रकार के और दुष्ट परिणाम जुए में मैं धृतराष्ट्र को बतलाता ॥ ८ ॥ मुझ से ऐसे कहा हुआ यदि वह मेरे वचन को मान लेता, तो हे कुरुवर्धन ! कुरुओं का कुशल होता, और धर्म होता ॥ ९ ॥ और यदि वह हे राजेन्द्र मेरे मधुर और पथ्य वचन को न मानता, तो मैं बल से उसे रोकता ॥ १० ॥

मूल—असान्निध्यं तु कौरव्य ममानर्तेष्वभूत तदा। येनेदं व्यसनं प्राप्ता भवन्तो द्यूत कारितम् ॥ ११ ॥ सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ द्वारकां पाण्डुनन्दन। श्रुत्वै वाभ्या गतोस्मि त्वां द्रष्टुकामो विशांपते ॥ १२ ॥ अहोकृच्छ्र मनुप्राप्ताः सर्वेस्म भरतर्षभ। सोहं त्वां व्यसने मग्नं पश्यामि सहोदरैः ॥ १३ ॥

अर्थ—हे कौरव आनर्तदेश में मेरी उस समय उपस्थिति न थी, जिससे तुम जुए से उत्पन्न हुए इस व्यसन को प्राप्त हुए हो ॥ ११ ॥ हे पाण्डुनन्दन मैं द्वारका में आकर सुनते ही तुम्हें देखने के लिये आया हूं ॥ १२ ॥ शोक ! हे भरत वर हम सब विपत्ति में जा पड़े हैं, जो मैं आप को भाइयों समेत विपत्ति में डूबा हुआ देखता हूं ॥ १३ ॥

अ०५(व०१४-१६) शाल्व की द्वारका पर चढ़ाई और युद्ध

मूल—युधिष्ठिर उवाच—असान्निध्यं कथं कृष्ण तवासीद् वृष्णिनन्दन। क्वचासीद् विप्रवासस्ते किं चाकार्षीः प्रवासतः॥१॥ कृष्ण उवाच—हतं श्रुत्वा महाबाहो मया श्रौतश्रवं नृप। उपायाद् भरतश्रेष्ठ शाल्वो द्वारवतीं पुरीम् ॥ २ ॥ अरुन्धत् तां सुदुष्टात्मा सर्वतः पाण्डुनन्दन। शाल्वो वैहायसं चापि तत्पुरं व्यूह्य धिष्ठितः ॥ ३ ॥ तत्रस्थोऽथ महीपालो योधयामास तां पुरीम्। अभिसारेण सर्वेण तत्र युद्ध मवर्तत ॥ ४ ॥ पुरी समन्ताद् विहिता सोल्काला-तावपोथिका। सतोमरांकुशा राजन् सशतघ्नीकलांगला ॥ ५ ॥ आतिख्यात कुलैर्वीरैर्दृष्टवीर्यैश्च संयुगे। मध्यमेन च गुल्मेन रक्षिभिः सा सुरक्षिता ॥ ६ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—कैसे हे कृष्ण आप की अनुपस्थिति

थी, कहां आप का प्रवास था, और प्रवास क्यों किया ॥ १ ॥
कृष्ण बोले—हे महाबाहो हे भरतश्रेष्ठ ! शाल्व यह सुन कर कि मैंने शिशुपाल को मार डाला है, द्वारका पर चढ़ आया ॥ २ ॥ हे पाण्डु नन्दन दुष्टात्मा शाल्व ने चारों ओर से पुरी को घेर लिया, और आकाशी किले पर व्यूह रच कर डट गया* ॥ ३ ॥ वहां स्थिर होकर उस भूपति ने पुरी से युद्ध आरम्भ किया, वहां नीचे ऊपर सब ओर जाने वाले सारे† (अस्त्र समूह) से युद्ध प्रवृत्त हुआ ॥ ४ ॥ पुरी के चारों ओर उल्का और अलात के गिराने वाले (अस्त्र) तथा तोमर, अंकुश, शतघ्नी और लांगल लगा दिये गए‡ ॥ ५ ॥ और मध्य के मोर्चे पर प्रसिद्ध कुलीन, रण में जिनके पराक्रम देखे हुए हैं, ऐसे वीर रक्षकों से सुरक्षित कर दी गई ॥ ६ ॥

मूल—आघोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति वै । प्रमादं परिरक्षद्भिरुग्रसेनोद्धवादिभिः ॥ ७ ॥ संक्रमा भेदिताः सर्वे नावश्च प्रतिषेधिताः । परिखाश्चापि कौरव्य कीलैः सुनिचिताःकृताः ॥ ८ ॥ नचामुद्रोऽभिनिर्याति नचामुद्रः प्रवेश्यते । वृष्ण्यन्धकपुरे राजंस्तदा सौभ समागमे ॥ ९ ॥ दत्तवेतन भक्तं च दत्तायुधपारच्छदम् । कृतोपधानं च तदा बलमासीन्महाभुज ॥ १० ॥ एवं सुविहिता राजन् द्वारका भूरिदक्षिणा । आहुकेन सुगुप्ता च राज्ञा राजीव लोचन ॥ ११ ॥

---

* आकाशी किला = लड़ाई का विमान † अभिसार = सब ओर जाने वाले‡ उल्का = ऊपर से आने वाले गोले, अलात = ऊपर से आने वाली लोहे की आग्नेय नालियां । तोमर, अंकुश, शतघ्नी और लांगल, नीचे से ऊपर मार करने वाले अस्त्र विशेष ।

अर्थ—प्रमाद से बचाने के लिये उग्रसेन और उद्धव आदि ने नगर में यह घोषणा दे दी, कि सुरा कोई न पिये ॥ ७॥ पुल सब तोड़ दिये, नौकाएं रोक दी गईं, और खाइयों में कील (शूल) लगा दिये गए ॥ ८ ॥ उस सौभसंग्राम में हे राजन्! बिना मुहर के न कोई निकलने पाता, न आने पाता था ॥ ९ ॥ सारी सेना को वेतन और रसदें दी गईं, शस्त्र और सामान दिये गए, और सब पास रखने वाली वस्तुएं तय्यार कर दीगईं॥१०॥ इस प्रकार द्वारका में बहुत कुछ बांटा गया, और हे राजीवलोचन राजा आहुक उस की पूरी २ रक्षा करने लगे ॥ ११ ॥

मूल—तां तूपयातो राजेन्द्र शाल्वः सौभपतिस्तदा । प्रभूत नरनागेन बलेनोपविवेश ह ॥ १२ ॥ तदापतन्तं संदृश्य बलं शाल्वपतेस्तदा । निर्याय योधयामासुः कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥ १३ ॥ गृहीत्वा कार्मुकं सांबः शाल्वस्य सचिवं रणे । योधयामास संहृष्टः क्षेमवृद्धिं चमूपतिम् ॥ १४ ॥ ततः स विद्धः सांबेन क्षेमवृद्धिश्चमूपतिः । अपायाज्जवनैरश्वैः सांबबाण प्रपीडितः॥१५॥ तस्मिन् विप्रद्रुते क्रूरे शाल्वस्याथ चमूपतौ । वेगवान्नाम दैतेयः सुतं मेऽभ्यद्रवद् बली ॥ १६ ॥ स वेगवति कौन्तेय सांबो वेगवतीं गदाम् । चिक्षेप तरसावीरो व्याविध्य सत्य विक्रमः॥ १७॥ तया त्वभिहतो राजन् वेगवान् न्यपतद् भुवि।वातरुग्ण इव क्षुण्णः जीर्णमूलो वनस्पतिः ॥ १८ ॥ तस्मिन् विनिहते वीरे गदानुन्ने महासुरे । प्रविश्य महतीं सेनां योधयामास मे सुतः ॥ १९ ॥

अर्थ—हे राजेन्द्र!सौभपति शाल्व ने उस नगरी के निकट भारी मनुष्य और हाथियों की सेना से घेरा डाल लिया ॥१२॥शाल्व की सेना को आता देख वृष्णि कुमार बाहर निकल युद्ध में जुटे

॥ १३ ॥ सांब (कृष्ण का पुत्र) प्रसन्न हो धनुष लेकर रण में शाल्व के मन्त्री सेनापति क्षेमवृद्धि से जा भिड़ा ॥ १४ ॥ सांब ने सेनापति क्षेमवृद्धि को (बाणों से) छिलनी २ कर दिया, तब वह सांब के बाणों से पीड़ित हुआ वेग वाले घोड़ों से भाग निकला ॥ १५ ॥ शाल्व के उस क्रूर सेनापति के भाग निकलने पर वेगवान् नाम बलवान् दैत्य ने मेरे पुत्र (सांब) पर धावा किया ॥ १६ ॥ तब हे युधिष्ठिर ! सच्चे पराक्रम वाले वीर सांब ने वेगवान् पर वेगवती गदा घुमा कर फैंकी ॥ १७ ॥ उस की चोट से हे राजन् ! वेगवान् इस तरह भूमि पर गिरा, जैसे आंधी से उखाड़ा हुआ पुरानी जड़ों वाला वनस्पति गिरता है ॥ १८ ॥ गदा से मारे हुए उस दैत्य वीर के मरने पर मेरा पुत्र उस महती सेना के अन्दर घुस गया और युद्ध करने लगा ॥ १९ ॥

मूल—चारुदेष्णेन संसक्तो विविन्ध्यो नाम दानवः । महारथः समाज्ञातो महाराज महाधनुः ॥ २० ॥ अन्योन्यस्याभि संक्रुद्धा वन्योऽन्यं जघ्नतुः शरैः । विनदन्तौ महारावान् सिंहाविव महाबलौ ॥ २१ ॥ रौक्मिणेयस्ततो बाण मग्न्यर्कोपमवर्चसम् । अभिमन्त्र्य महास्त्रेण संदधे शत्रु नाशनम् ॥ २२ ॥ स विविन्ध्याय सक्रोधः समाहूय महारथः । चिक्षेप मे सुतो राजन् स गतासु रथापतत् ॥ २३ ॥ विविन्ध्यं निहतं दृष्ट्वा तां च विक्षोभितां चमूम् । कामगेन स सौभेन शाल्वः पुन रुपागमत् ॥ २४ ॥ ततो व्याकुलितं सर्वं द्वारकावासि तद्बलम् । दृष्ट्वा शाल्वं महाबाहो सौभस्थं नृपते तदा ॥ २५ ॥ ततो निर्याय कौरव्य प्रद्युम्नो वाक्य मब्रवीत् । आश्वसध्वं न भीःकार्या सौभराडद्यनश्यति ॥ २६ ॥

अर्थ—हे महाराज (मेरे पुत्र) चारुदेष्ण के साथ महा-

रथी महाधनु विविन्ध्यनाम दानव जुटा ॥ २० ॥ एक दूसरे पर क्रुद्ध हुए वह दोनों महाबली शेरों की भांति सिंहनाद करते हुए एक दूसरे को बाणों से ताड़ते भए ॥ २१ ॥ तब रुक्मिणी पुत्र (चारुदेष्ण) ने अग्नि और सूर्य तुल्य कान्ति वाला शत्रुनाशी एक बाण महास्त्र में जोड़ा ॥ २२ ॥ और क्रोध से ललकार कर हे राजन् ! मेरे पुत्र ने विविन्ध्य की ओर फैंका, और वह मर कर गिर पड़ा ॥ २३ ॥ विविन्ध्य का मरना और सेना की घबराहट देख कर फिर शाल्व इच्छानुसार चलने वाले सौभ पर चढ़ कर आया ॥ २४ ॥ तब हे महाबाहो ! शाल्व को सौभ पर देख कर द्वारका की सारी सेना घबरा गई ॥ २५ ॥ उसी समय हे कौरव्य ! प्रद्युम्न आगे बढ़ कर यह वाक्य बोला, धैर्य धरो, कोई डर नहीं, सौभराज अभी नष्ट होता है ॥ २६ ॥

अ० ६ (व० १७-१८) प्रद्युम्न और शाल्व का युद्ध

मूल—एवमुक्त्वा रौक्मिणेयो रथमास्थाय काञ्चनम् । तूण खड्गधरः शूरो बद्धगोधांगुलित्रवान् ॥ १ ॥ स विद्युच्छुरितं चापं विहरन् वै तलात्तलम् । मोहयामास दैतेयान् सर्वान् सौभ निवासिनः ॥ २ ॥ अभियानं तु वीरेण प्रद्युम्नेन महारणे । नाम-र्षयत संक्रुद्धः शाल्वः कुरु कुलोद्वह ॥ ३ ॥ स रोषमदमत्तो वै कामगादवरुह्य च । प्रद्युम्नं योधयामास शाल्वः पर पुरञ्जयः ॥ ४ ॥ तयोः सुतुमलं युद्धं शाल्व वृष्णि प्रवीरयोः । समेता ददृशुर्लोका बलिवासवयोरिव ॥ ५ ॥ स शाल्व बाणै राजेन्द्र विद्धो रुक्मि-णि नन्दनः । मुमो च बाणं त्वरितो मर्मभेदिन माहवे ॥ ६ ॥ तस्य वर्म विभिद्याशु बाणो मत्सुतेरितः । विव्याध हृदयं पत्री स

मुमोह पपात च ॥ ७ ॥ तस्मिन् निपतिते वीरे शाल्वराजे विचेतसि । हाहाकृतमभूत् सैन्यं शाल्वस्य पृथिवीपते ॥ ८ ॥

अर्थ—यह कह कर, ढाल तलवार धारे, गोह का अंगुलित्र पहने शूर रुक्मिणी पुत्र सुनहरी रथ पर चढ़ा ॥ १ ॥ विद्युत् तुल्य फड़कते हुए बाण को हथेली से हथेली पर घुमाते हुए उसने सौभ निवासी सारे दैत्यों को घबराहट में डाल दिया॥२॥ हे कुरु कुल को उन्नत करने वाले ! उस महारण में वीर प्रद्युम्न के उस सामना करने को क्रुद्ध हुआ शाल्व न सह सका ॥ ३ ॥ सो क्रोध और मद से मत्त, शत्रुओं के किले तोड़ने वाला शाल्व इच्छानुसार चलने वाले रथ से उतर आया, और प्रद्युम्न से द्वन्द्व युद्ध करने लगा ॥ ४ ॥ बली और इन्द्र के तुल्य शाल्व और वृष्णिवीर के तुमल युद्ध को लोग पास खड़े होकर देखते रहे॥५॥ शाल्व के बाणों से वींधे हुए रुक्मिणी पुत्र ने रण में तेज़ी के साथ मर्म भेदी बाण छोड़ा ॥ ६ ॥ मेरे पुत्र से छोड़े हुए उस बाण ने उस के कवच को फोड़ कर उसके हृदय को वींध दिया, तब वह मूर्छित होगया और गिर पड़ा ॥ ७ ॥ शाल्वराज जब अचेत हो भूमि पर गिरा, तो शाल्व की सारी सेना में हाहाकार मच गया ॥ ८ ॥

मूल—तत उत्थाय कौरव्य प्रतिलभ्य च चेतनाम् । मुमोच बाणान् सहसा प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ ९ ॥ तं स विध्वा महाराज शाल्वो रुक्मिणि नन्दनम् । ननाद सिंहनादं वै नादेना पूरयन् महीम् ॥ १० ॥ स तैरभिहतो बाणैर्बहुभिस्तेन मोहितः । निश्चेष्टः कौरवश्रेष्ठ प्रद्युम्नोऽभूद्रणाजिरे ॥ ११ ॥ हाहाकृत मभूत् सर्वं वृष्ण्यन्धक बलं ततः। प्रद्युम्ने मोहिते राजन् परे च मुदिता भृशम्

॥ १२ ॥ तं तथा मोहितं दृष्ट्वा सारथिर्जवनैर्हयैः । रणादपाहरत्‌ तूर्णं शिक्षितो दारुकिस्तदा ॥ १३ ॥ नातिदूरापयातेतु रथे रथवर मणुत । धनुर्गृहीत्वा यन्तारं लब्धसंज्ञोऽब्रवीदिदम्॥ १४ ॥ सौते किं ते व्यवसितं कस्माद् यासि पराङ्मुखः । काच्चित्‌ सौते न ते मोहः शाल्वं दृष्ट्वा महाहवे ॥ १५ ॥

अर्थ—हे कौरव्य तब शाल्व चेतना पाकर उठा, और वह महाबली वेग से प्रद्युम्न पर बाण छोड़ने लगा ॥ ९ ॥ हे महाराज ! शाल्व ने रुक्मिणि पुत्र को वींध दिया और सिंहनाद की गर्जना से पृथिवी को गुंजा दिया ॥ १० ॥ तब हे कौरवश्रेष्ठ ! उस के बहुत से बाणों से पीड़ित हुआ मूर्छित हुआ प्रद्युम्न निश्चेष्ट होगया ॥ ११ ॥ प्रद्युम्न के मूर्छित होने पर हे राजन् ! वृष्णि और अन्धकों की सारी सेना में हाहाकार मच गया, और शत्रु अति प्रसन्न हुए ॥ १२ ॥ उसको मूर्छित देख दारुक का पुत्र शिक्षित सारथि वेगवान् घोड़ों द्वारा झट पट रणांगण से उसे बाहर लेगया ॥ १३ ॥ रथ अभी थोड़ी दूर ही गया था, कि प्रद्युम्न चैतन्य होकर धनुष पकड़ कर सारथि से बोला ॥१४ ॥ हे सूतपुत्र ! क्या करने लगे हो, क्यों मुख फेरे जारहे हो, क्या तुम्हें युद्ध में शाल्व को देख कर मोह तो नहीं होगया ॥ १५ ॥

मूल—सौतिरुवाच—जनार्दने न मे मोहो नापि मे भयमाविशत्‌ । मोहितश्च रणे शूरो रक्ष्यः सारथिना रणे ॥ १६ ॥ आयुष्मंस्त्वं मया नित्यं रक्षितव्यस्त्वयाप्यहम् ॥ १७ ॥ एवं ब्रुवति सूते तु तदा मकरकेतुमान् । उवाच सूतं कौरव्य निवर्तय रथं मम ॥ १८ ॥ न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति संगरम् । यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम् ॥ १९ ॥ तथास्त्रियं च यो

हन्ति बालं वृद्धं तथैव च । विरथं विप्रकीर्णं च भग्नशस्त्रायुधं तथा ॥ २० ॥ त्वं च सूत कुले जातो विनीतः सूतकर्मणि । धर्मज्ञश्चापि वृष्णीना माहवेष्वपि दारुके ॥ २१ ॥ अपयातं हतं पृष्ठे भ्रान्तं रणपलायितम् । गदाग्रजो दुराधर्षः किं मां वक्ष्यति माधवः ॥ २२ ॥ शूरं संभावितं शान्तं नित्यं पुरुष मानिनम् । स्त्रियश्च वृष्णिवीराणां किं मां वक्ष्यन्ति संहताः ॥ २३ ॥ न युक्तं भवता त्यक्तुं संग्रामं दारुकात्मज । मयि युद्धार्थिनि भृशं सत्वं याहि यतो रणम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सूतपुत्र बोला–हे कृष्ण नन्दन ! न मुझे मोह हुआ है, न कोई भय हुआ है, किन्तु रण में मोहित हुए शूर की सारथि को रक्षा करनी चाहिये ॥ १६ ॥ हे आयुष्मन् ! मेरा धर्म तेरी रक्षा करना और तेरा मेरी रक्षा करना है ॥ १७ ॥ सूत के ऐसा कहने पर हे कौरव्य ! प्रद्युम्न ने सूत से कहा, मेरे रथ को लौटाओ ॥ १८ ॥ वह वृष्णिकुल में नहीं जन्मा, जो रण को छोड़दे, अथवा जो गिरे को वा 'मैं तेरा हूं' ऐसे कहते हुए को, वा स्त्री को, वा बाल वा वृद्ध को, वा रथहीन को, वा घबराए को, वा टूटे शस्त्रों वाले को मारे ॥ १९–२० ॥ तुम सूतवंश में जन्मे, और सूत कर्म में विनीत हो, और युद्धों में वृष्णियों की भी मर्यादा भी जानने वाले हो ॥ २१ ॥ लौटे हुए, पीठ पर घाव खाए, रण से भागे हुए मुझ को गद के बड़े भाई दुराधर्ष कृष्ण क्या कहेंगे ॥ २२ ॥ शूर, मानी, शान्त, सदा वीरमानी मुझ को वृष्णिवीरों की स्त्रियें मिल कर क्या कहेंगी ॥ २४ ॥ हे दारुकपुत्र मेरी युद्ध की चाह होते हुए तुझे रण छोड़ना उचित नहीं, सो तुम वहां चलो, जहां रण है ॥ २४ ॥

अ० ७ (व० १९-२०) शाल्व-वध

मूल-सौतिरुवाच—पश्य मे हय संयाने शिक्षां केशवनन्दन। वीतभीः प्रविशाम्येतां शाल्वस्य प्रथितां चमूम् ॥ १ ॥ एवमुक्त्वा ततो वीर हयान् संचोद्य संगरे। रश्मिभिस्तु समुद्यम्यजवेनाभ्यपतव तदा ॥ २ ॥ ततो वाणान् वहुविधान् पुनरेव स सौभराट्। मुमोच तनये वीर मम रुक्मिणि नन्दने ॥ ३ ॥ तान प्राप्तान् शितैर्बाणैश्चिच्छेद परवीरहा। रौक्मिणेयः स्मितं कृत्वा दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ ४ ॥ प्रयुज्यमानमाज्ञाय दैतेयास्त्रं महावलम्। ब्राह्मास्त्रेणान्तराच्छित्वा मुमोचान्यान् पतत्रिणः ॥ ५ ॥ ते तदस्त्रं विधूयाशु विव्यधू रुधिराशनाः। शिरस्युरसिवक्त्रे च स मुमोह पपात च ॥ ६ ॥ स द्वारकां परित्यज्य क्रूरो वृष्णिभिरार्दितः। सौभमास्थाय राजेन्द्र दिवमाचक्रमे तदा ॥ ७ ॥

अर्थ—हे केशवनन्दन! घोड़ों के हांकने में मेरी शिक्षा देखो, निर्भय हो अभी शाल्व की इस फैली हुई सेना के मध्य प्रवेश करता हूं ॥ १ ॥ यह कह कर हे वीर! वागें उठा, घोड़ों को चलाकर, वेग से रण में आ डटा ॥ २ ॥ उसी समय सौभराज ने फिर बहुत से वाण मेरे पुत्र रुक्मिणि नन्दन पर छोड़े ॥ ३ ॥ मुस्करा कर हाथ का लाघव दिखलाते हुए शत्रुवीरों के मारने वाले प्रद्युम्न ने पहुंचने मे पहले ही उनको अपने तीक्ष्ण वाणों से काट दिया ॥ ४ ॥ फिर बड़े प्रबल दैतेय अस्त्र को चलाया जान प्रद्युम्न ने ब्रह्मास्त्र से उसे मार्ग में ही काट दिया, और बहुत से वाण छोड़े ॥ ५ ॥ वह रुधिर पीने वाले वाण उसके अस्त्र को काट कर, सिर छाती और मुख को वींध देते भए, तब शाल्व

मूर्छित हो गिर पड़ा ॥ ६ ॥ वृष्णियों से पीडित किया हुआ वह क्रूर द्वारका को छोड़ सौभ पर चढ़ कर हे राजेन्द्र आकाश में चढ़ गया ॥ ७ ॥

मूल—महाक्रतौ राजसूये निवृत्ते नृपते तव । अपश्यं द्वारकां चाहं महाराज हतत्विषम् ॥ ८ ॥ रोधं मोक्षं च शाल्वेन श्रुत्वा सर्वं मशेषतः । विनाशे शाल्वराजस्य तदैवाकरवं मतिम् ॥ ९ ॥ प्रयातोऽस्मि नरव्याघ्र बलेन महतावृतः । समतीत्य बहून् देशान् मार्तिकावत मासदम् ॥ १० ॥ तत्रा श्रौषं नरव्याघ्र शाल्वं सागर मन्तिकात् । प्रयान्तं सौभमास्थाय तमहं पृष्ठतोऽन्वयाम् ॥ ११ ॥ मायायुद्धेन महता योधयामास मां युधि । तामहं माययैवाशु प्रतिगृह्य व्यनाशयम् ॥ १२ ॥ क्षुरान्त ममलं चक्रं कालान्तक यमोपमम् । अनुमन्त्र्याहमतुलं तस्मै प्राहिणवं रुषा ॥ १३ ॥ तत्समासाद्य नगरं सौभं व्यपगतत्विषम् । मध्येन पाटयामास क्रकचो दार्विवोच्छ्रितम् ॥ १४ ॥ एवं निहत्य समरे सौभं शाल्वं निपात्य च । आनर्तान् पुनरागम्य सुहृदां प्रीतिमावहम् ॥ १५ ॥ तदेतत् कारणं राजन् यदहं नागसाह्वयम् । नागमं परवीरघ्न नहि जीवेत् सुयोधनः ॥ १६ ॥ मय्यागतेऽथवा वीर द्यूतं न भविता तथा ॥ १७ ॥ एवमुक्त्वा महाबाहुः कौरवं पुरुषोत्तमः । आमन्त्र्य प्रययौ श्रीमान् पाण्डवान् मधुसूदनः ॥ १८ ॥ सुभद्रामभिमन्युं च रथमारोप्य काञ्चनम् । द्वारकां प्रययौ कृष्णः समाश्वास्य युधिष्ठिरम् ॥ १९ ॥ ततः प्रयाते दाशार्हे धृष्टद्युम्नोपि पार्षतः । द्रौपदेयानु पादाय प्रययौ स्वपुरं तदा ॥ २० ॥ धृष्टकेतुः स्वसारं च समादायाथ चेदिराट् । जगाम पाण्डवान् दृष्ट्वा रम्यां शुक्तिमतीं पुरीम् ॥ २१ ॥ केकयाश्चाप्यनुज्ञाताः कौन्तेये नामितौजसा । आमन्त्र्य पाण्डवान्

सर्वान् प्रययुस्तेपि भारत ॥ २२ ॥

अर्थ—हे महाराज ! आप का महायज्ञ राजसूय होचुकने पर जब मैं द्वारका पहुंचा, तो उसकी कान्ति नष्ट हुई देखी ॥ ८ ॥ जूं ही कि मैंने सारी बात सुनी, जैसा कि शाल्व ने नगर को घेरा और छोड़ा था, उसी समय मैंने शाल्व् के नाश का निश्चय कर लिया ॥ ९ ॥ हे नरवर ! मैं भारी सेना लेकर चल पड़ा, और बहुत देशों को लंघ कर मार्तिकावत देश में पहुंचा ॥ १० ॥ वहां मैंने सुना, कि शाल्व सौभ पर चढ़ कर सागरके निकट चला गया है, तब मैं भी उस के पीछे गया ॥ ११ ॥ शाल्व ने मेरे साथ माया युद्ध आरम्भ किया, मैंने भी उस माया को माया ही से ग्रहण करके झट पट नष्ट कर दिया ॥ १२ ॥ और मनुष्यों के नाशक यम के तुल्य, एक अतुल चक्र, जिसकी धार पर छुरे हैं, मैंने मन्त्र पढ़ क्रोध से उसकी ओर छोड़ा ॥ १३ ॥ उसने लगते ही सौभ को तेजहीन करके बीच में से ऐसा काट दिया, जैसे ऊंची लकड़ी को आरा काटता है ॥ १४ ॥ इस प्रकार रण में सौभ को गिरा कर और शाल्व को मार कर, फिर द्वारका में आ कर अपने मित्रों का आनन्द बढ़ाया ॥ १५ ॥ सो यह कारण है, जिससे मैं हस्तिनापुर नहीं पहुंचा, मेरे आने पर जुआ न होता, अन्यथा सुयोधन न जीता रहता ॥ १६-१७ ॥ महाबाहु कृष्ण युधिष्ठिर को ऐसे कह कर पाण्डवों से आज्ञा मांग कर चला गया ॥ १८ ॥ सुभद्रा और अभिमन्यु को सुनहरी रथ पर चढ़ा कर युधिष्ठिर को ढाढ़स दे द्वारका को चला गया॥१९॥ कृष्ण के चले जाने पर द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न भी द्रौपदी के पुत्रों को लेकर अपने पुर को चला गया ॥ २० ॥ पीछे चेदिराज

धृष्टकेतु (शिशुपाल का पुत्र) अपनी वहिन (करेणुमती नकुल की पत्नी)को साथ ले कर पाण्डवों से आज्ञा ले शुक्तिमतीपुरी को चला गया ॥ २१ ॥ बड़े वल वाले युधिष्ठिर से आज्ञा दिये हुए केकय (सहदेव के साले) भी सब पाण्डवों से अनुज्ञा ले कर चले गए ॥ २२ ॥

अ० ८ (व० २३-२५) मार्कण्डेय का उपदेश

मूल—तस्मिन् दशार्हाधिपतौ प्रयाते युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च । यमौ च कृष्णा च पुरोहितश्च रथान् महार्हान् परमाश्वयुक्तान् ॥ १ ॥ आस्थाय वीराः सहिता वनाय प्रतस्थिरे भूतपतिप्रकाशाः। हिरण्य निष्कान् वसनानि गाश्च प्रादाय शिक्षाक्षर मन्त्र विद्भ्यः ॥ २ ॥ ततस्ते प्रययुः सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः । पुण्यं द्वैतवनं रम्यं विविशुर्भरतर्षभाः ॥ ३ ॥ तत्सालतालाम्रमधूकनीप कदम्ब सर्जार्जुन कर्णिकारैः । तपात्यये पुष्प धरैरुपेतं महावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥४॥ महाद्रुमाणां शिखरेषु तस्थुर्मनोरमां वाचमुदीरयन्तः। मयूर दात्यूह चकोर संघास्तस्मिन् वने बर्हिण कोकिलाश्च॥ ५ ॥ करेणुयूथैः सह यूथपानां मदोत्कटानामचल प्रमाणम् । महान्ति यूथानि महाद्विपानां तस्मिन् वने राष्ट्र पतिर्ददर्श ॥ ६ ॥ मनोरमां भोगवतीमुपेत्य पूतात्मनां चीरजटा धराणाम् । तस्मिन् वने धर्मभृतां निवासे ददर्श सिद्धर्षिगणाननेकान् ॥ ७ ॥ तत कानन प्राप्य नरेन्द्र पुत्राः सुखोचिता वास मुपेत्य कृच्छ्रम् । विजहरिन्द्र प्रतिमाः शिवेषु सरस्वती शाल वनेषु तेषु ॥ ८ ॥

अर्थ—जब दशार्हों के स्वामी श्रीकृष्ण चले गए, तो युधिष्ठिर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी, और पुरोहित उत्तम

घोड़ों से युक्त महार्ह रथों पर चढ़ कर शिवतुल्य कान्ति वाले वह वीर वन को गए, और जाते समय उन्होंने सुवर्ण, मोहरों के हार, वस्त्र और गौएं वेदांग सहित वेदों के जानने वालों को दान दीं ॥ १—२ ॥ तब वह धर्मचारी पाण्डव चले गए, और वह भरतवर सुहावने पुण्य द्वैत वन में जा प्रविष्ट हुए ॥ ३ ॥ देशपति (युधिष्ठिर) ने उस वन को बरसात में फले हुए साल, ताल, आम, महुआ, कदम्ब, राल, कौं, और कनेर के वृक्षों से भरा हुआ देखा ॥ ४ ॥ और महावृक्षों की चोटियों पर बैठ कर मीठे २ स्वरों से बोलते हुए मोर, दात्यूह, चकोर, मोरनी और कोइल के झुंड देखे ॥ ५ ॥ पर्वतों के से आकार वाले मदमत्त महागजों के यूथ हथिनियों के यूथों समेत, उस वन में देशपति ने देखे ॥ ६ ॥ मनोरमा सरस्वती पर पहुंच कर पवित्रात्मा जटा चीर धारी धर्मप्रिय सिद्ध और ऋषियों के अनेक संघ उस वन में देखे ॥ ७ ॥ उस वन में पहुंच कर सुखों में पले वह राजदुलारे कष्ट स्थिति को पाकर भी सरस्वती के सुखदायी उन २ शालवनों में आनन्द मनाने लगे ॥ ८ ॥

मूल—अपेत्य राष्ट्राद् वसतां तु तेषामृषिः पुराणोऽतिथि राजगाम । तमाश्रमं तीव्रसमृद्ध तेजा मार्कण्डेयः श्रीमतां पाण्डवानाम् ॥ ९ ॥ तमागतं ज्वलितहुताशनप्रभं महामनाः कुरुवृषभो युधिष्ठिरः । अपूजयत् सुर ऋषिमानवार्चितं महामुनिं ह्यनुपमसत्ववीर्यवान् ॥ १० ॥ मार्कण्डेय उवाच—तवापदं त्वद्य समीक्ष्य रामं सत्यव्रतं दाशरथिं स्मरामि ॥ ११ ॥ स चापि शक्रस्य समप्रभावो महानुभावः समरेष्वजेयः।विहाय भोगान चरद् वनेषु नेशो बलस्येति चरेद् धर्मम् ॥ १२ ॥ भूपाश्च नाभाग भगीरथादयो महीमिमां

सागरान्तां विजित्य । सत्येन ते व्यजयंस्तात लोकान् नेशो बलस्येति चरेद् धर्मम् ॥ १३ ॥ अलर्कमाहुर्नरवर्यसन्तं सत्यव्रतं काशिकरूष राजम् । विहाय राज्यानि वसूनि चैव नेशो बलस्येति चरेद धर्मम् ॥ १४ ॥ सत्येन धर्मेण यथार्हवृत्त्या ह्रिया तथा सर्व भूतान्यतीत्य । यशश्च तेजश्चतवापि दीप्तं विभावसोर्भास्करस्येव पार्थ ॥ १८ ॥ यथा प्रतिज्ञं च महानुभाव कृच्छ्रं वनेवास मिमं निरुष्य । ततः श्रियं तेजसा तेन दीप्ता मादास्यसे पार्थिव कौरवेभ्यः ॥१९॥ तमेवमुक्त्वा वचनं महर्षिस्तपस्वि मध्ये सहितं सुहृद्भिः । आमन्त्र्य धौम्यं सहितांश्च पार्थी स्ततः प्रतस्थे दिशमुत्तरांमः ॥ २० ॥

अर्थ—देश से निकल कर पाण्डव जब वहां रहते थे, वहां उन के आश्रम में एक दिन बड़े उग्र तेज वाला पुराना ऋषि मार्कण्डेय अतिथि आया ॥ ९ ॥ उदार हृदय अनुपम बल पराक्रम वाले कुरुवर युधिष्ठिर ने घर आए, भखती अग्नि तुल्य प्रभा वाले, देवता ऋषि और मनुष्यों से पूजित उस महामुनि अतिथि का पूजन किया ॥ १० ॥ मार्कण्डेय बोले—तेरी विपदा को देख आज सत्यव्रत दशरथ पुत्र राम स्मरण आते हैं ॥ ११ ॥ वह भी इन्द्र तुल्य प्रभाव वाला युद्धों में अजेय महानुभाव सारे भोग छोड़ वनों में विचरता रहा । मैं बल का स्वामी हूं, ऐसा जान अधर्म (कभी) न करे ॥ १२ ॥ नाभाग भगीरथ आदि राजे भी सागर पर्यन्त इस पृथिवी को जीत कर हे तात वह भी सत्य पर चलने से ही परलोक को जीते थे । मैं बलका स्वामी हूं, ऐसा जान अधर्म न करे ॥ १३ ॥ हे नरवर अलर्क, सत्यव्रत, काशिराज और करूषों के अधिपति को सन्त कहते हैं, क्योंकि वह राज्य और ऐश्वर्य को छोड़ कर वनों में रहे थे, सो मैं बल

का स्वामी हूं, ऐसा ज्ञान अधर्म न करे ॥ १४ ॥ सचाई, धर्म, यथायोग्य वर्ताव और ह्री से तू सब लोगों से बढ़ कर है, तेरा यश और तेज हे पार्थ अग्नि और सूर्य के तुल्य चमक रहा है ॥ १५ ॥ हे महानुभाव ! अपनी प्रतिज्ञानुसार वन में इस कष्टवास को काट कर हे पृथिवीनाथ ! अपने तेज से उसी चमकती हुई राज्यलक्ष्मी को कौरवों से तू फिर लौटाएगा ॥ १६ ॥ सुहृदों के साथ बैठे युधिष्ठिर को वह महर्षि तपस्वियों के मध्य में यह वचन कह कर, धौम्य से और पाण्डवों से अनुज्ञा ले उत्तरदिशा को चला गया ॥　　॥　　॥

मूल—वसत्सु वै द्वैतवने पाण्डवेषु महात्मसु । अनुकीर्णं महारण्यं ब्राह्मणैः समपद्यत ॥ २१ ॥ यजुषामृचां साम्नां च गद्यानां चैव सर्वशः । आसीदुच्चार्यमाणानां निःस्वनो हृदयंगमः ॥ २२ ॥ ज्याघोषश्चैव पार्थानां ब्रह्मघोषश्च धीमताम् । संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत ॥ २३ ॥ अथाब्रवीद् बको दाल्भ्यो धर्मराजं युधिष्ठिरम् । सन्ध्यां कौन्तेयमासीन मृषिभिः परिवारितम् ॥२४ ॥ पश्य द्वैतवने पार्थ ब्राह्मणानां तपस्विनाम् । होमवेलां कुरुश्रेष्ठ संप्रज्वलित पावकाम् ॥ २५ ॥ ब्रह्मक्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह । उदीर्णे दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ ॥ २६ ॥ कुक्षरस्येव संग्रामे परिगृह्यांकुशग्रहम् । ब्राह्मणैर्विप्रहीनस्य क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥ २७ ॥ नाब्राह्मणास्तत चिरं बुभूषे दिच्छन्निमं लोकममुं च जेतुम् । विनीत धर्मार्थ मपेत मोहं लब्ध्वाद्विजं नुदति नृपः सपत्नान् ॥ २८ ॥+ब्रह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रातिमं बलम्। तौ यदा चरतः सार्धं तदा लोकः प्रसीदति ॥ २९ ॥ ब्राह्मणेष्वेव मेधावी बुद्धिपर्येषणं चरेत् । अलब्धस्य च लाभाय लब्धस्य परि-

वृद्धये ॥ ३० ॥ ब्राह्मणेषूत्तमा वृत्तिस्तव नित्यं युधिष्ठिर। तेन ते सर्वलोकेषु दीप्यते प्रथितं यशः ॥ ३१ ॥

अर्थ—अब महात्मा पाण्डवों के द्वैत वन में बसने से वह महावन ब्राह्मणों से पूर्ण होगया ॥ २१ ॥ सर्वत्र ऋचा, यजु, साम और ब्राह्मण ग्रन्थों का मधुर उच्चारण सुनाई देने लगा॥२२॥ वहां पाण्डवों की चिल्ले की ध्वनि और ब्राह्मणों की वेद ध्वनि मिलने से ब्रह्मतेज के साथ क्षत्र तेज चमकने लगा ॥ २३ ॥ एक दिन बक दाल्भ्य ऋषि सन्ध्या के समय ऋषियों के साथ मिलकर बैठे हुए धर्मराज युधिष्ठिर से बोले ॥ २४ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! इस द्वैतवन में तपस्वी ब्राह्मणों का होमसमय देखिये, कैसे चारों ओर अग्नियें प्रज्वलित होरही हैं ॥ २५ ॥ (मेरे वचन को सुनो) ब्रह्मतेज क्षत्रसे मिला हुआ और क्षत्रतेज ब्रह्म से मिला हुआ दोनों प्रचण्ड होकर शत्रुओं का इस प्रकार नाश करते हैं, जैसे अग्नि और वायु मिलकर वनों को नाश करते हैं ॥ २६ ॥ इस लोक और परलोक को जीतना चाहता हुआ राजा बिना ब्राह्मण के न रहना चाहे, धर्म अर्थ में निपुण, मोहमें न फंसने वाले ब्राह्मण को पाकर राजा शत्रुओं का नाश करता है ॥२७॥ ब्राह्मण में अनुपम ज्ञान है, और क्षत्रिय में अतुल बल है, जब वह दोनों मिल कर काम करते हैं, तब लोक में आनन्द छा जाता है॥२८॥ अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की वृद्धि के लिये बुद्धिमान् को ब्राह्मणों में ही बुद्धि की खोज करनी चाहिये ॥ ३० ॥ हे युधिष्ठिर ब्राह्मणों में तेरा सदा उत्तम वर्ताव है, इस से सारे लोकों में तेरा यश फैल रहा है ॥ ३१ ॥

अ० ९ (व० २७) द्रौपदी युधिष्ठिर संवाद

मूल—ततो वनगताः पार्थाः सायान्हे सह कृष्णया। उपविष्टाः कथाश्चक्रुर्दुःखशोक परायणाः ॥ १ ॥ प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता। अथ कृष्णा धर्मराज मिदं वचनमब्रवीत ॥ २ ॥ न नूनं तस्य पापस्य दुःखमस्मासु किञ्चन। विद्यते धार्तराष्ट्रस्य नृशंसस्य दुरात्मनः ॥ ३ ॥ यस्त्वां राजन् मया सार्ध मजिनैः प्रतिवासितम्। वनं प्रस्थाप्य दुष्टात्मा नान्वतप्यत दुर्मतिः ॥ ४ ॥ आयसं हृदयं नूनं तस्य दुष्कृत कर्मणः। यस्त्वां धर्मपरं श्रेष्ठं रूक्षाण्य श्रावयत् तदा ॥ ५ ॥ चतुर्णामेव पापानामस्रं न पतितं तदा। त्वयि भारत निष्क्रान्ते वनायाजिनवाससि ॥ ६ ॥ दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः। दुर्भ्रातुस्तस्य चोग्रस्य राजन् दुःशासनस्य च ॥ ७ ॥ इतरेषां तु सर्वेषां कुरूणां कुरुसत्तम। दुःखेनाभि परीतानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ८ ॥

अर्थ—वनवासी, पाण्डव सायं समय द्रौपदी के साथ बैठे दुःख शोक की बातें कर रहे थे ॥१॥ तब प्रिया, सुन्दरी, पण्डिता, पतिव्रता, द्रौपदी धर्मराज से यह वचन बोली ॥ २ ॥ पापी, दुरात्मा, क्रूर दुर्योधन को हमारे दुःख में कोई भी दुःख नहीं हुआ ॥ ३ ॥ हे राजन् मेरे समेत आपको मृगचर्म ओढा कर वन में भेज कर पश्चात्ताप नहीं हुआ है ॥ ४ ॥ उस दुष्कर्मा का हृदय निःसंदेह लोहे का है, जिसने तुझ धर्मपरायण श्रेष्ठ को ऐसे रूखे वचन सुनाए ॥ ५ ॥ हे भारत जब आप मृगचर्म पहनकर निकले, उस समय इन्हीं चार पापियों के नेत्र से एक आंसु नहीं गिरी ॥ ६ ॥ दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि और दुर्योधन

के उस दुर्भ्राता दुःशासन के ॥ ७ ॥ हे कुरुवर ! दुःख से भरे और सब कुरुओं के नेत्रों से जल गिरने लगा था ॥ ८ ॥

मूल—दान्तं यच्च सभामध्य आसनं रत्नभूषितम् । दृष्ट्वा कुशवृसीं चेमां शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥ ९ ॥ यत्ते भ्रातॄन् महाराज युवानो मृष्ट कुण्डलाः । अभोजयन्त मृष्टान्नैः सूदाः परम संस्कृतैः ॥ १० ॥ सर्वांस्तानद्य पश्यामि वने वन्येन जीवतः । अदुःखार्हान् मनुष्येन्द्र नोपशाम्यति मे मनः ॥ ११ ॥ नूनं च तव वै नास्ति मन्युर्भरतसत्तम । यत्ते भ्रातॄंश्च मांचैव दृष्ट्वा न व्यथते मनः ॥ १२ ॥ न निर्मन्युः क्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम् । तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ॥ १३ ॥ यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते । सर्वं भूतानितं पार्थ सदा परि भवन्त्युत ॥ १४ ॥

अर्थ--हाथी दांत का बना हुआ, सभा के मध्य में रत्नों से शोभित, आप का वह सिंहासन स्मरण करके, और यहां इस कुशा के आसन को देखकर शोक मुझे घेर लेता है ॥ ९ ॥ हे महाराज ! आप के जिन भाइयों को, युवा, स्वच्छ कुंडलों वाले, रसोइये, उत्तम संस्कार करके सुस्वादु अन्न भोजन कराते थे ॥ १० ॥ दुःखों के अयोग्य उन सब को अब जंगली आहार पर निर्वाह करते हुए देख कर हे राजन् मेरा मन शान्त नहीं होता है ॥ ११ ॥ हे भरतसत्तम ! निश्चय होता है, कि तुम में क्रोध है ही नहीं, जब कि अपने भाइयों को और मुझ को देख कर तुम्हारा मन पीड़ित नहीं होता है ॥ १२ ॥ लोक में कहावत है, कि बिना क्रोध का क्षत्रिय नहीं है, वह आज तुझ क्षत्रिय में उलट दीखती हूं ॥ १३ ॥ जो क्षत्रिय समय पर क्रोध नहीं दिखलाता है, हे

पाण्डव ! सब लोग उस को सदा दबा लेते हैं ॥ १४ ॥

मूल—अत्राप्युदाहरन्तीम मितिहासं पुरातनम् । बलिःपप्रच्छ दैत्येन्द्रं प्रह्लादं पितरं पितुः ॥१५॥ क्षमास्विच्छ्रेयसी तात उताहो तेज इत्युत । तस्मै प्रोवाच तत्सर्व मेवं पृष्टः पितामहः ॥ १६ ॥ न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा । यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान् स विन्दति ॥ १७ ॥ भृत्याः परिभवन्त्येन मुदासीनास्तथाऽरयः । सर्व भूतानि चाप्यस्य न नमन्ते कदाचन ॥ १८ ॥ यानं वस्त्राण्यलंकारान् सर्वोपकरणानि च । आददीरन्नाधिकृता यथाकाममचेतसः ॥ १९ ॥ क्षमिणं तादृशं तात ब्रुवन्ति कटुकान्यपि । प्रेष्याः पुत्राश्च भृत्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ॥ २० ॥ अथास्य दारा निच्छन्ति परिभूय क्षमावतः । दाराश्चास्य प्रवर्तन्ते यथा काममचेतसः ॥ २१ ॥ एते चान्ये च बहवो नित्यं दोषाः क्षमावताम् । अथ वैरोचने दोषानिमान् विद्धय क्षमावताम् ॥ २२ ॥

अर्थ—इस विषय में इस पुराने इतिहास का लोग उदाहरण दिया करते हैं, कि बलिने अपने पितामह दैत्य राजा प्रह्लाद से पूछा ॥ १५ ॥ कि हे तात ! क्षमा बढ़ कर है, वा क्रोध, ऐसा पूछने पर पितामह ने उस को यह सारी बात खोल कर बतलाई ॥ १६ ॥ न सदा क्रोध उत्तम है, न सदा क्षमा, हे तात ! जो सदा क्षमा करता है, उसे बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ १७ ॥ सेवक, उदासीन और शत्रु सब उसको दबा लेते हैं, और कोई भी पुरुष उस के लिये नहीं झुकता ॥ १८ ॥ अधिकारी जन ऐसे मूर्ख की सवारी, वस्त्र, भूषण, और विविध सामग्री अपनी इच्छानुसार लेलेते हैं ॥ १९ ॥ हे तात ! क्षमा वाले को उसके

सेवक, पुत्र, भृत्य और उदासीन वर्तने वाले सभी कड़वे वचन भी कहने लगते हैं ॥ २० ॥ क्षमा वाले का अनादर कर उसकी स्त्रियों को भी चाहते हैं, और उस मूर्ख की स्त्रियें भी स्वेच्छाचारिणी होजाती हैं ॥ २१ ॥ यह तथा और बहुत से दोष क्षमा वालों के हैं अब हे विरोचन पुत्र क्रोध वालों के दोष जान ॥२२॥

मूल-मित्रैः सह विरोधं च प्राप्नुते तेजसा वृतः । आप्नोति द्वेष्यतां चैव लोकात् स्वजनतस्तथा ॥ २३ ॥ सोऽवमानादथ हानि मुपालम्भ मनादरम् । संतापद्वेषमोहांश्च शत्रूंश्च लभेत नरः ॥ २४ ॥ भ्रश्यते शीघ्र मैश्वर्यात् प्राणेभ्यः स्वजनादपि । तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ २५ ॥ तस्मान्नात्युत्सृजेत् तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत् । काले काले तु संप्राप्ते मृदुस्तीक्ष्णोपिवा भवेत् ॥ २६ ॥

अर्थ-क्रोध युक्त के मित्र भी विरोधी होजाते हैं, वह अन्य सारे लोगों का और अपने जनों का भी द्वेष्य बन जाता है॥२३॥ (क्रोधावेश में मित्रों के) अपमान करने मे उसके काम बिगड़ते हैं, उलहने आते हैं, और अनादर होता है, और वह पुरुष संताप, द्वेष, भूल और शत्रुओं को पाता है ॥ २४ ॥ जल्दी ऐश्वर्य से, अपने जनों से और प्राणों से फिसलता है, उस से लोग ऐसा डरते हैं, जैसे घर में रहते सांप से ॥ २५ ॥ इस लिये न सदा तीक्ष्ण हो, न सदा मृदु हो, समय पर मृदु हो, और समय पर तीक्ष्ण हो ॥ २६ ॥

मूल-क्षमाकालांस्तु वक्ष्यामि शृणु मे विस्तरेण तान्॥२७॥ पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि । उपकारेण तत्तस्य क्षन्तव्य मपराधिनः ॥ २८ ॥ अबुद्धिमाश्रितानां तु क्षन्तव्य मपरा-

धिनाम् । सर्वस्यैकोऽपराधस्ते क्षन्तव्यः प्राणिनो भवेत् ॥ २९ ॥ मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम् । नासाध्यं मृदुना किंञ्चित् तस्मात् तीव्रतरं मृदु ॥ ३० ॥ एत एवंविधाः कालाः क्षमायाः परिकीर्तिताः । अतोऽन्यथाऽनुवर्तत्सु तेजसः काल उच्यते ॥ ३१ ॥ तदहं तेजसः कालं तव मन्ये नराधिप । धार्तराष्ट्रेषु लुब्धेषु सततं चापकारिषु ॥ ३२ ॥

अर्थ—अब मैं विस्तार पूर्वक तुझे क्षमा के समय बतलाऊंगा, उन को सुनो ॥ २७ ॥ जो लोग पहले का उपकारी है, उस अपराधी का भारी अपराध में भी उस पहले उपकार के पलटे क्षमा कर देना चाहिये ॥ २८ ॥ बे समझी से अपराध करने वालों को भी क्षमा कर देना चाहिये, और एक अपराध सब किसी का ही क्षमा करने योग्य है ॥ २९ ॥ मृदु (नर्म उपाय) से दारुण को मार लेता है, और मृदु से मृदु को भी मार लेता है, मृदु से कुछ असाध्य नहीं, इस लिये मृदु (वस्तुतः) बड़ा तीव्र है॥३०॥ इस प्रकार के यह काल क्षमा के कहे हैं, इस से उलट चलने वालों में क्रोध का काल होता है ॥ ३१ ॥ सो हे राजन् मेरी मति में सदा अपकार करने वाले लालची धृतराष्ट्र के पुत्रों पर आपके तेज का काल है ॥ ३२ ॥

अ०१०(व०२९)युधिष्ठिर का उत्तर

मूल-युधिष्ठिर उवाच-क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि। क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ॥ १ ॥ वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित् । नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा ॥ २ ॥ हिंस्यात् क्रोधादवध्यांस्तु वध्यान् संपूज-

यीत च। आत्मानमपि क्रुद्धः प्रेषयेद् यमसादनम् ॥ ३ ॥ आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्। क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः ॥ ४ ॥ क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि न यथावत् प्रपश्यति। नाकार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति ॥ ५ ॥ दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्यं च शीघ्रत्वमिति तेजसः। गुणाः क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ॥ ६ ॥ यदि सर्वमबुद्धीनामतिक्रान्तमचेतसाम्। अतिक्रमो मद्विधस्य कथं स्वित् स्यादनिन्दिते ॥ ७ ॥ यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवीसमाः। न स्यात् सन्धिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥ ८ ॥ आक्रुष्टः पुरुषः सर्वः प्रत्याक्रोशेदनन्तरम्। प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ ९ ॥ हन्युर्हि पितरः पुत्रान् पुत्राश्चापि तथा पितॄन्। हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन् भार्यास्तथैव च ॥ १० ॥ तस्मान्मन्युर्विनाशाय प्रजानामभवाय च। क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वापत्सु शोभने ॥ ११ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले-क्रुद्ध हुआ पुरुष पाप करता है, क्रुद्ध हुआ गुरुओं को भी मार डालता है, क्रुद्ध हुआ कठोर वाणी से मान्यों का भी अपमान करता है ॥ १ ॥ कुपित हुआ वाच्य अवाच्य को नहीं जानता, क्रुद्ध के लिये न कोई अकार्य है, न कुछ अवाच्य है॥२॥ क्रोध से अवध्यों को भी मार देता है और वध्यों को पूजता है, क्रुद्ध हुआ अपने को भी यम के घर पहुंचाता है ॥ ३ ॥ वह अपने को और औरों को, दोनों को बड़े भय से बचा लेता है, जो क्रोध करते हुए के प्रति क्रोध नहीं करता है, मानों वह दोनों का चिकित्सक है ॥ ४ ॥ हे सुश्रोणि क्रुद्ध हुआ पुरुष कार्य को ठीक नहीं कर सकता, न अकार्य को, न मर्यादा को ठीक देखता है ॥ ५ ॥ कार्य में कुशलता, असहन, शौर्य और शीघ्रता यह जो

तेज के गुण हैं, इस को क्रोध के वशीभूत हुआ ठीक २ नहीं पा सकता ॥ ६ ॥ यदि उन वे समझों ने (मर्यादा का) उलंघन किया है, तो मेरे जैसा हे अनिन्दित कैसे उलांघे ॥ ७ ॥ मनुष्यों में यदि पृथिवी तुल्य क्षमा वाले पुरुष न हों, तो मनुष्यों में कभी सन्धि न हुआ करे, क्योंकि क्रोध लड़ाई का मूल है ॥ ८ ॥ झिड़का हुआ हरएक पुरुष दूसरे को झिड़कता है, पीटा हुआ पीटता है, और तंग किया हुआ तंग करता है ॥ ९ ॥ क्रोध के वश हुए पितर पुत्रों को, मार डालते हैं ॥ १० ॥ इस लिये क्रोध प्रजा के विनाश और अकल्याण के लिये होता है, सो हे शोभने सभी संकटों में पुरुष को क्षमा करना चाहिये ॥ ११ ॥

मूल—अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथानित्यं क्षमावताम् ॥१२॥ क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम् । य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तु मर्हति ॥ १३ ॥ क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् । क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ॥ १४ ॥ क्षमावता मयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् । इह सन्मान मृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥ १५ ॥ इति गीताः काश्यपेन गाथा नित्यं क्षमावताम् । श्रुत्वा गाथाः क्षमायास्त्वं तुष्य द्रौपदि माशुचः॥१६॥ कालोऽयं दारुणः प्राप्तो भरतानाम भूतये । निश्चितं मे सदैवैतत् पुरस्तादपि भामिनि ॥ १७ ॥ सुयोधनो नार्हतीति क्षमा मेवं न विन्दति । अर्हस्तस्याह मित्येवं तस्मान्मां विन्दते क्षमा ॥ १८ ॥ एतदात्मवतां वृत्त मेष धर्मः सनातनः । क्षमा चैवानृशंस्यं च तत्कर्तास्म्यह मञ्जसा ॥ १९ ॥

अर्थ—इस विषय में क्षमा वाले पुरुषों की इन गाथाओं का लोग उदाहरण देते हैं ॥ १२ ॥ क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा

वेद हैं (वेद पढ़ने का फल) क्षमा सुनने का फल है, जो इस को ठीक २ जानता है, वह सब पर क्षमा करता है ॥ १३ ॥ क्षमा तप है, क्षमा शौच है, क्षमा से यह जगत टिका हुआ है, क्षमा तेजस्वियों का तेज है, क्षमा तपस्वियों का वेद है ॥ १४ ॥ क्षमा वालों का यह लोक है, क्षमा वालों का परलोक है, यहां वह सन्मान को पाते हैं और परलोक में शुभ गति को ॥ १५ ॥ क्षमा वालों की यह(पूर्वोक्त)गाथाएं काश्यप ने गाई हैं,हे द्रौपदि! तू क्षमा की इन गाथाओं को सुन कर संतोष रख, शोक मत कर ॥१६॥ भरतों के विनाश के लिये यह दारुण समय आया है, हे भामिनि! यह मुझे पहले से ही निश्चित है ॥ १७ ॥ सुयोधन राज्य के योग्य नहीं रहा, इस लिये उस में क्षमा प्राप्त नहीं होती, मैं राज्य के योग्य हूं, इस लिये मुझे क्षमा प्राप्त हुई है॥ १८ ॥ यही उदार हृदयों का चरित्र है, कि क्षमा करना, और दया करना, सो मैं यह ठीक २ करूंगा ॥ १९ ॥

अ० ११ (व० ३०) द्रौपदी युधिष्ठिर संवाद

मूल—द्रौपद्युवाच—नमो धात्रे विधात्रे च यौ मोहं चक्रतुस्तव। पितृपैतामहे वृत्ते वोढव्ये तेऽन्यथा मतिः ॥ १ ॥ त्वां च व्यसनमभ्यागादिदं भारत दुःसहम् । यत्र त्वं नार्हसि नापीमे भ्रातरस्ते महौजसः ॥ २ ॥ नहि तेऽध्यगमत् जातु तदानीं नाथ भारत । धर्मात् प्रियतरं किञ्चिदपि चेज्जीवितादिह ॥ ३ ॥ धर्मार्थमेव ते राज्यं धर्मार्थं जीवितं च ते । ब्राह्मणा गुरवश्चैव जानन्त्यपि च देवताः ॥ ४ ॥ भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रेयौ च मया सह। त्यजेस्त्वमिति मे बुद्धिर्नतु धर्मं परित्यजेः ॥ ५ ॥ नारमंस्था हि

सदृशान् नावरान् श्रेयसः कुतः । अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां न ते श्रृंग मवर्धत ॥ ६ ॥ स्वाहाकारैः स्वधाभिश्च पूजाभिरपि चाद्विजान् । देवतानि पितृंश्चैव सततं पार्थ सेवसे ॥ ७ ॥ अस्मिन्नपि महारण्ये विजने दस्युसेविते । राष्ट्रादपेत्य वसतो धर्मस्तेनावसीदति ॥ ८ ॥ ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्व ह्रीमतः सत्यवादिनः । कथमव्यसनजा बुद्धि रापातिता तव ॥ ९ ॥ अतीव मोहमायाति मनश्च परिदूयते। निशाम्य ते दुःखमिदमिमां चापदमीदृशीम्॥१०॥

अर्थ—द्रौपदी बोली—मैं उस परमेश्वर और प्रारब्ध को नमस्कार करती हूं, जिन्होंने तुझे ऐसा भुलाया है, कि बाप दादे के चरित्र (बल से राज्य लेने) में तेरी बुद्धि उलटी होगई है ॥ १ ॥ देखिये हे भारत ! आप को यह दुःसह दुःख प्राप्त हुआ है, जिस के न आप, न आप के यह महाबली भाई योग्य थे ॥ २ ॥ हे भारत ! सब जानते हैं, कि आप के उस समय (राज्य के समय) वा अब धर्म से अधिक प्यारा कभी कुछ नहीं है, जीवन से भी आपको धर्म अधिक प्यारा है ॥ ३ ॥ आप का राज्य और जीवन धर्म के अर्थ है, यह देवता ब्राह्मण और गुरु सब जानते हैं ॥ ४ ॥ मुझे यह निश्चय है, कि आप भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव को और मुझको भी छोड़ दें, किन्तु धर्म को कभी न छोड़ें ॥ ५ ॥ आपने अपने तुल्यों का अनादर नहीं किया, न छोटों का, बड़ों का तो कहां ! सारी पृथिवी को पा कर आप को अभिमान नहीं हुआ ॥ ६ ॥ आप सदा स्वाहा, स्वधा और पूजाओं से देवता पितर और ब्राह्मणों की सेवा करते हैं ॥ ७ ॥ राज्य से अलग हो, दस्युओं से सेवित इस विजन वन में भी रहते हुए आप का धर्म ढीला नहीं हुआ है॥ ८ ॥

ऐसे सरल, मृदु, उदार, ह्रीवाले, सत्यवादी आप की बुद्धि पासे के व्यसन में कैसे जा लगी ॥ ९ ॥ आप के इस दुःख और ऐसी आपत्ति को देख कर मुझे बड़ा शोक होता है और मन दुःखी होता है ॥ १० ॥

मूल—यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता । ईरयत्यंगमंगानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ॥ ११ ॥ शकुनिस्तन्तु बद्धो वा नियतोऽयमनीश्वरः । ईश्वरस्य वशे तिष्ठन्नान्येषां नात्मनः प्रभुः ॥ १२ ॥ मणिः सूत्र इव प्रोतो नस्योत इव गोवृषः । स्रोतसो मध्यमापन्नः कूलाद् वृक्ष इवच्युतः ॥ १३ ॥ यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः । धातुरेवं वशं यान्ति सर्वभूतानि भारत ॥ १४ ॥ आर्ये कर्माणि युञ्जानः पापे वा पुनरीश्वरः । व्याप्य भूतानि चरते न चायमिति लक्ष्यते ॥ १५ ॥ यथा काष्ठेन वा काष्ठ मश्मानं चाश्मना पुनः । अयसश्चाप्ययश्छिन्द्यान्निर्विचेष्ट मचेतनम् ॥ १६ ॥ एवं स भगवान् देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः । हिनस्ति भूतैर्भूतानि छद्म कृत्वा युधिष्ठिर ॥ १७ ॥ संप्रयोज्य वियोज्यायं कामकारकरः प्रभुः । क्रीडते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ॥ १८ ॥ न मातृपितृवद् राजन् धाता भूतेषु वर्तते । रोषादिव प्रवृत्तोऽयं यथाऽयमितरो जनः ॥ १९ ॥ आर्यान् शीलवतो दृष्ट्वा ह्रीमतो वृत्तिकर्षितान् । अनार्यान् सुखिनश्चैव विह्वलामीवाचिन्तया ॥ २० ॥ तवेमामापदं दृष्ट्वा समृद्धिं च सुयोधने । धातारं गर्हये पार्थ विषमं योऽनुपश्यति ॥ २१ ॥ कर्म चेत्कृत मन्वेति कर्तारं नान्य मृच्छति । कर्मणा तेन पापेन लिप्यते नून मीश्वरः ॥ २२ ॥ अथ कर्म कृतं पापं न चेत्र कर्तार मृच्छति । कारणं बल मेवेह जनाञ्छोचामि दुर्बलान् ॥ २३ ॥

अर्थ—हे नरवीर जैसे कठपुतली (नचाने वाले से) नचाई हुई अंगों को हिलाती है, वैसे राजन् यह प्रजाएं (ईश्वराधीन हैं) ॥ ११ ॥ जैसे पक्षी डोरे से बन्धा हुआ सर्वथा पराधीन होता है, इसी प्रकार यह लोक ईश्वर के वश में है, न औरों के, न अपने ॥ १२ ॥ जैसे तागे में पोई हुई मणि, वा नकेल डाले हुए बैल, वा किनारे से गिरा वृक्ष धार के मध्य में पहुंच कर विवश होता है, अथवा जैसे तिनके बलवान् वायु के अधीन होते हैं, इस प्रकार हे भारत सब लोग धाता के वश में हैं ॥ १३–१४ ॥ ईश्वर सारे भूतों में व्याप कर आर्य कर्म में वा पाप में लगाता है, पर दिखाई नहीं देता है ॥ १५ ॥ जिस प्रकार अचेतन और निश्चेष्ट काष्ठ को काष्ठ से, पत्थर को पत्थर से और लोहे को लोहे से काटते हैं ॥ १६ ॥ इस प्रकार वह स्वयम्भू प्रपितामह भगवान् बहाना बना कर जीवों को जीवों से मारता है ॥ १७ ॥ अपने मन आई करने वाला भगवान् प्रभु बनाता बिगाड़ता हुआ प्राणियों से इस तरह खेलता है जैसे बालक खिलौने से ॥ १८ ॥ हे राजन् ईश्वर माता पिता की भांति जीवों में नहीं बर्तता, एक प्राकृत पुरुषवत् रोष से काम करता हुआ प्रतीत होता है ॥ १९ ॥ शीलवान् ह्रीमान् आर्यों को खाने के लिये तंग और अनार्यों को सुखी देख, मैं चिन्ता से घबरा उठती हूं ॥ २० ॥ आपको यह विपद् और सुयोधन की समृद्धि देख कर ब्रह्मा की निन्दा करती हूं, जो विषम देखता है ॥ २१ ॥ किया हुआ कर्म यदि कर्ता को ही मिलता है, दूसरे को नहीं, तो पाप कर्म ईश्वर को ही लगना चाहिये, जो कि प्रेरक है ॥ २२ ॥ और यदि किया हुआ कर्म कर्ता को नहीं मिलता है, तो इस में बल ही कारण है

(जिस की लाठी उसी की भैंस है) तब मैं दुर्बलों पर शोक करती हूं ॥ २१ ॥

अ० १२ (व० ३१ द्रौपदी युधिष्ठिर संवाद

मूल—युधिष्ठिर उवाच—वल्गुचित्रपदं श्लक्ष्णं याज्ञसेनि त्वया वचः । उक्तं तच्छ्रुतमस्माभिर्नास्तिक्यं तु प्रभाषसे ॥ १ ॥ नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत । ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥ २ ॥ अस्तुवात्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत् । गृहे वा वसता कृष्णे यथाशक्ति करोमि तत् ॥ ३ ॥ धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफल कारणात् । धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम् ॥ ४ ॥ धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् । न धर्म फल माप्नोति यो धर्मं दोग्धु मिच्छति ॥ ५ ॥ पापीयान् स हि शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशिष्यते । शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्म माभिशंकते ॥ ६ ॥ व्यासो वसिष्ठो मैत्रेयो नारदो लोमशः शुकः । एते हि धर्म मेवादौ वर्णयन्ति सदाऽनघे ॥ ७ ॥ अतो नार्हसि कल्याणि धातारं धर्म मेव च । राज्ञि मूढेन मनसा क्षेप्तुं शंकितु मेव च ॥ ८ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे याज्ञसेनि ! तुम ने जो सुन्दर, विचित्र पदों वाला कोमल वचन कहा, वह हमने सुना, किन्तु यह (वेद विरुद्ध होने से) नास्तिकों का वाक्य है ॥ १ ॥ हे राजपुत्रि ! मैं कर्म के फल की ओर दौड़ता हुआ कर्म नहीं करता हूं, किन्तु मैं देता हूं, इस लिये, कि देना चाहिये, यज्ञ करता हूं, इस लिये, कि करना चाहिये ॥ २ ॥ फल यहां हो वा न हो, किन्तु गृहाश्रम में रहते पुरुष को जो करना

चाहिये, वह यथाशक्ति मैं करता हूं ॥३॥ हे सुश्रोणि ! मैं धर्म के फल की कामना से धर्म नहीं करता हूं । हे कृष्णे ! स्वभाव से मेरा मन धर्म में ही टिका हुआ है ॥ ४ ॥धर्म का व्योपारी हीन होता है, और धर्मवादियों में नीच गिना जाता है, वह धर्म का फल नहीं पाता है, जो धर्म को दोहना चाहता है ॥ ५ ॥ वह शूद्रों से बुरा है, चोरों से बढ़ कर है, जो मन्दबुद्धि शास्त्र को उल्लंघ कर धर्म में शंका करता है ॥ ६ ॥ व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश, शुक, यह सदा धर्म को ही मुख्य वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥ इस लिये हे कल्याणि हे रानि! तुम्हें उचित है, कि ईश्वर में वा धर्म में मूढ मन से कभी न शंका करो ॥ ८ ॥

मूल–शिष्टैराचरितं धर्मं कृष्णे माभि शंकिथाः । धर्मएव प्लवो नान्यः स्वर्गं द्रौपदि गच्छताम् ॥९॥ अफलो यदि धर्मः स्याच्च-रितो धर्मचारिभिः । अप्रतिष्ठे तमस्ये तज्जगन्मज्जेद निन्दिते॥१०॥ तपश्च ब्रह्मचर्यं च यज्ञः स्वाध्याय एव च । दान मार्जव मेतानि यदि स्युरफलानि वै ॥ ११ ॥ नाचरिष्यन् परे धर्मं परे परतरे च ये । विप्रलम्भोऽयमत्यन्तं यदि स्युरफलाः क्रियाः ॥ १२ ॥ न फला दर्शनाद् धर्मः शंकितव्यो न देवताः । कर्मणां फल मस्तीह तथैतद् धर्म शाश्वतम् ॥ १३ ॥ तस्मात् ते संशयः कृष्णे नीहार इव नश्यतु । व्यवस्य सर्वमस्तीति नास्तिक्यं भाव मुत्सृज ॥१४॥ ईश्वरं चापि भूतानां धातारं मा च वै क्षिप । शिक्षस्वैनं नमस्वैनं माते ऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ १५ ॥ द्रौपद्युवाच–नावमन्ये न गर्हे च धर्मं पार्थ कथञ्चन । ईश्वरं कुत एवाह मवमंस्ये प्रजापतिम् ॥१६॥ आर्ताहं प्रलपामीद मिति मां विद्धि भारत ।

अर्थ–हे कृष्णे ! जिस धर्म का पालन महात्मा करते आए

हैं, उस में शंका मत कर, हे द्रौपदि स्वर्ग आने वालों के लिये धर्म ही एक नौका है ॥ ९ ॥ धर्म करने वालों से किया हुआ धर्म यदि निष्फल होता, तो हे अनिन्दिते यह सारा जगत् असीम अन्धकार में डूब जाता ॥ १० ॥ तप, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, स्वाध्याय, दान और सरलता यदि यह निष्फल होते ॥ ११ ॥ तो हमसे पहले और उनसे भी पहले कभी धर्म पर न चलते। यदि कर्म निष्फल जाएं, तो यह अत्यन्त विडम्बना हो ॥ १२ ॥ फल न देखने से धर्म पर वा देवताओं पर शंका नहीं करनी चाहिये, कर्मों का फल अवश्य है, यह धर्म का अटल नियम है ॥ १३ ॥ इस लिये तेरी शंका हे कृष्णे कुहर की भांति दूर होजानी चाहिये, यह सब सत्य है, ऐसा निश्चय करके नास्तिक भाव को त्याग ॥ १४ ॥ लोगों के रचने हारे ईश्वर पर भी कोई आक्षेप न कर, उसको (गुरुओं से) सीख और भक्ति कर, तेरी, ऐसी बुद्धि मत हो ॥ १५ ॥ द्रौपदी बोली—हे पृथिवीनाथ मैं धर्म का कभी न अपमान करती हूं, न निन्दती हूं, प्रजा के स्वामी ईश्वर का तो कैसे? ॥ १६ ॥ हे भारत! मैं दुखिया हुई बक रही हूं॥१७॥

अ० १३ (व० ३३-३४) भीम युधिष्ठिर संवाद

मूल—याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा भीमसेनो ह्यमर्षणः। निःश्वसन्नुप संगम्य क्रुद्धो राजानमब्रवीत् ॥ १ ॥ नैव धर्मेण तद्राज्यं नार्जवेन न चौजसा। अक्षकूटमधिष्ठाय हृतं दुर्योधनेन वै ॥ २ ॥ कुणीनामिव बिल्वानि पंगूनामिव धेनवः। हृतमैश्वर्य मस्माकं जीवतां भवतः कृते ॥ ३ ॥ कर्षयामः स्वमित्राणि नन्दयामश्च शात्रवान्। आत्मानं भवतां शास्त्रैर्नियम्य भरतर्षभ ॥ ४ ॥ यद्वयं

न वर्हैवैनान् धार्तराष्ट्रान् निहन्महे । भवतः शास्त्रमादाय तमस्त-पाले दुष्कृतम् ॥ ५ ॥ भवेरागमनेरागस्त्र मृगचर्या मिवात्मनः । दुर्बलाचरितां राजन् न बलस्थैर्निपविशाम् ॥ ६ ॥ अस्मानमी धार्तराष्ट्राः सममाणानलं मताः । अशक्तानिव मन्यन्ते तद् दुःखं नाहवे वधः ॥ ७ ॥ भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्र जीविका । क्षत्रियस्य विशेषेण धर्मस्तु बल पौरसम् ॥ ८ ॥ अनुबुध्यस्व राजेन्द्र वेत्थ धर्मान् सनातनान् । क्रूर कर्माभिजातोऽसि यस्मादुद्विजते जनः ॥ ९ ॥ स क्षात्रं हृदयं कृत्वा त्यक्त्वेदं शिथिलं मनः । वीर्यमास्थाय कौरव्य धुरमुद्वह धुर्यवत् ॥ १० ॥ एतच्चापि तपो राजन् पुराणमिति नः श्रुतम् । विधिना पालनं भूमेर्यत्कृतं नः पितामहैः ॥ ११ ॥ न तथा तपसा राजन् लोकान् प्राप्नोति क्षत्रियः । यथा सृष्टेन युद्धेन विजयेनेतरेण वा ॥ १२ ॥ स भवान् रथमास्थाय सर्वोपकरणान्वितम् । त्वरमाणोऽभि निर्यातु भ्रातृभिर्दृढ धन्विभिः ॥ १३ ॥ संजयैः सह कैकेयैर्वृष्णीनां वृषभेण च । कथंचिद् युधिकौन्तेय न राज्यं माप्नुयामहे ॥ १४ ॥

अर्थ—द्रौपदी के वचन को सुन कर न सहने वाला भीमसेन क्रुद्ध हुआ राजा के पास आ यह वचन बोला ॥ १ ॥ दुर्योधन ने हमारा राज्य न धर्म से, न सरलता से, न बल से लिया है, किन्तु जुए के कपट से छीना है ॥ २ ॥ आप की खातिर हमारे जीते ही हमारा ऐश्वर्य इस प्रकार छिन गया है, जैसे लूले का बिल्व फल, और लंगड़े की गौएं छिन जाती हैं ॥ ३ ॥ हे भरतवर ! आप के शास्त्रों से अपने आप को जकड़ कर अपने मित्रों को हम दुर्बल बना रहे हैं और शत्रुओं को आनन्दित कर रहे हैं ॥ ४ ॥ आप की आज्ञा मान जो उसी समय हमने धृत-

राष्ट्र के पुत्रों को नहीं मार डाला, वह पाप हमें तपाता है ॥५॥ हे राजन् ! अपनी इस मृगचर्या को देख, जो दुर्बलों का काम है, न कि बलवानों का ॥ ६ ॥ हम क्षमा करते हैं, तो धृतराष्ट्र के पुत्र हमें पूरे अशक्त जानते हैं, यह दुःख है, युद्ध में मर जाना दुःख नहीं ॥ ७ ॥ क्षत्रिय के लिये न भिक्षाचार कहा है, न वैश्य और शूद्र की जीविका । क्षत्रिय का विशेष कर के औरस बल धर्म है ॥ ८ ॥ हे राजन्द्र सावधान हो, अपने सनातन धर्मों को जान, तुम क्रूर कर्मों वाले जन्मे हो, (अर्थात् क्षत्रिय) जिस से दुनिया कांपती है ॥ ९ ॥ सो आप क्षत्रियों वाला हृदय बना कर, मन की शिथिलता को छोड़ कर, बल का सहारा पकड़ धुर्य की भांति धुरा को उठाएं ॥ १० ॥ हे राजन् ! यह भी हमने श्रुति में तप सुना है, जो भूमि का यथा विधि पालन है, जो कि हमारे बड़ों ने किया है ॥ ११ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—असंशयं भारत सत्यमेतद् यन्मा तुदन् वाक्शल्यैः क्षिणोषि । न त्वा विगर्हे प्रतिकूलमेव ममान याद्धि व्यसनं व आगात ॥ १२ ॥ स नो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो न्यपातयद् व्यसने राज्य मिच्छन् ।दास्यं नोअगमद् भीमसेनयत्रा भवच्छरणं द्रौपदीनः ॥ १३ ॥ त्वं चापि तद्वेत्थ धनञ्जयश्च पुनर्द्यूतायागतांस्तोसभांनः । यन्मां ब्रवीद् धृतराष्ट्रस्य पुत्र एक-ग्लहार्थ भरतानां समक्षम् ॥ १४ ॥ तं सन्धिमास्थाय सतां सकाशे को नाम जह्यादिह राज्य हेतोः। आर्यस्य मन्ये मरणाद् गरीयो यद् धर्ममुत्क्रम्य महीं प्रशासेत ॥ १५ ॥ म.गेव चेत् समय-क्रियायाः किं नाब्रवीः पौरुषमाविदानः । प्राप्ते तु काले म.भिपद्य

पश्चात् किं मामिदानीं मातिवेलमात्थ ॥ १६ ॥] न त्वेव शक्यं भरतप्रवीर कृत्वा यदुक्तं कुरुवीर मध्ये। कालं प्रतीक्षस्व सुखोदयस्य पक्तिं फलानामिव बीजवापः ॥ १७॥ मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां वृणे धर्ममृताज्जीविताच्च। राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥ १८ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे भारत! तुम जो वाणी रूपी भल्लों से पीड़ा देते हुए मुझे क्षीण करते हो, इस में तुम सच्चे हो, मैं तुम्हारी निन्दा नहीं करता, मेरी अनीति से ही तुम विपद् में पड़े हो ॥ १२ ॥ धृतराष्ट्र के पुत्र ने राज्य की इच्छा से हमें विपद् में डाला, और हमें दास भी बनाया, जब कि द्रौपदी हमारी शरण हुई थी ॥ १३ ॥ तुम भी और अर्जुन भी इस बात को जानते हो, कि फिर जुए के लिये उस सभा में आए हम को भरतों के सामने धृतराष्ट्र के पुत्र ने एक दाव के लिये कहा॥१४॥ सत्पुरुषों के सामने उस नियम को स्वीकार करके कौन राज्य निमित्त अब त्याग देवे, मैं समझता हूं, एक आर्य के लिये मरने से बढ़ कर है, कि वह धर्म को त्याग कर पृथिवी पर शासन करे ॥ १५ ॥ इस नियम करने से पहले ही अपने पौरुष के सहारे तुमने यह क्यों नहीं कहा? समय पर आई बात को स्वीकार कर अब समय चूकने पर मुझे क्या कहता है ॥ १६ ॥ हे भरतप्रवीर कुरुवीरों के मध्य में जो कहा है, अब वह पलटा नहीं जासकता, अब सुखोदय के समय की प्रतीक्षा करो, जैसे बीज बोने वाला फलों के पकने की प्रतीक्षा करता है ॥ १७ ॥ मेरी इस सत्य प्रतिज्ञा को जानो मैं अमृत से और जीवन से बढ़ कर धर्म को वरता हूं, राज्य, पुत्र, यश, धन, यह सब सत्य की एक कला

के भी तुल्य नहीं है ॥ १८ ॥

अ० १४ (३६–४४) अर्जुन का इन्द्र से अस्त्रविद्या ग्रहण

मूल—ततः काम्यकमासाद्य सामात्याः सपरिच्छदाः । तत्र ते न्यवसन् राजन् किञ्चित् कालं मनस्विनः ॥ १ ॥ कस्यचित्त्वथ कालस्य पाणिना परिमंस्पृशन् । धनंजयं धर्मराजो रहसीदमुवाच ह ॥ २ ॥ भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे च भारत । धनुर्वेदश्चतुष्पाद एतेष्वद्य प्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥ ते सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण परिसान्त्विताः । संविभक्ताश्च तुष्टाश्च गुरुवत् तेषु वर्तते ॥ ४ ॥ सर्वयोधेषु चैवास्य सदा प्रीतिरनुत्तमा । शक्तिं न हापयिष्यन्ति ते काले प्रतिपूजिताः ॥ ५ ॥ अद्य चेयं मही कृत्स्ना दुर्योधन वशानुगा ॥ ६ ॥

अर्थ—तब मन्त्रियों सहित सारे उपकरणों के साथ ले पाण्डव काम्यक वन में गए। और वहां कुछ काल रहे ॥ १ ॥ कुछ समय के पीछे एक दिन युधिष्ठिर एकान्त में अर्जुन की पीठ पर हाथ फेर कर बोले ॥ २ ॥ हे भारत ! भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण और अश्वत्थामा, इनमें आज धनुर्विद्या पूरी चार पाद पाई जाती है ॥ ३ ॥ इन सब को धृतराष्ट्र का पुत्र मान से रखता है, अपना धन इन में बांट देता है, और गुरुवत् इन में वर्तता है ॥ ४ ॥ सब योधों में इस का सदा बहुत बड़ा प्रेम है, और सब को आदर देता है, वह समय पर इस के बल को नहीं घटने देंगे ॥ ५ ॥ आज यह सारी पृथिवी दुर्योधन के वश होरही है॥६॥

मूल—भवानेव प्रियोऽस्माकं त्वयि भारः समाहितः । अत्र कृत्यं प्रपश्यामि प्राप्त कालमरिन्दम ॥ ७ ॥ धनुष्मान् कवची

खड्गी मुनिः साधुव्रते स्थितः । न कस्यचिद् ददन्मार्गं गच्छ ताऽतोत्तरां दिशम् ॥ ८ ॥ शक्रमेव प्रपद्यस्व स तेऽस्त्राणि प्रदास्यति। प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृहीत शरासनः ॥ ९ ॥ तं तथा प्रस्थितं वीरं शालस्कन्धोरुमर्जुनम् । मनां स्यादाय सर्वेषां कृष्णा वचन मब्रवीत ॥ १० ॥ यत्ते कुन्ती महाबाहो जातस्यैच्छद् धनञ्जय । तत्तेऽस्तु सर्वं कौन्तेय यथा च स्वयमिच्छसि ॥ ११ ॥ नैव नः पार्थ भोगेषु न धने नोत जीविते । तुष्टिर्बुद्धिर्भवित्री वा त्वयि दीर्घ प्रवासिनि ॥ १२ ॥ त्वयि नः पार्थ सर्वेषां सुख दुःखे समाहिते । जीवितं मरणं चैव राज्य मैश्वर्य मेव च ॥ १३ ॥ आपृष्टो मेसि कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ॥ १४ ॥ ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भ्रातॄन् धौम्यं च पाण्डवः । प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ १५ ॥ हिमवन्तमतिक्रम्य गन्धमादन मेव च । इन्द्रकीलं समासाद्य ततोऽतिष्ठद् धनञ्जयः ॥ १६ ॥ उपशिक्षन् महास्त्राणि ससंहाराणि पाण्डवः । शक्रस्य हस्ताद् दयितं वज्र मस्त्रं च दुःसहम् ॥ १७ ॥ सखायं प्रददौ चास्य चित्रसेनं पुरन्दरः । स तेन सह संगम्य रेमे पार्थो निरामयः ॥ १८ ॥ ततस्तेनातुलां प्रीति मुपगम्य क्वचित् क्वचित । गान्धर्व मतुलं नृत्यं वादित्रं चोप लब्धवान् ॥ १९ ॥

अर्थ—तुम हमारे प्रिय हो, तुम्हारे ऊपर ही सारा भार है, हे शत्रुओं को सीधा करने वाले अब मैं एक काम का अवसर देखता हूं ॥ ७ ॥ हे प्यारे धनुष, कवच और तलवार लगा, मुनि बन, अच्छे व्रतों में स्थित हुआ, किसी को मार्ग का पता न देता हुआ उत्तर दिशा को जा ॥ ८ ॥ इन्द्र के ही पास जा, वह तुझे अस्त्र देगा, तब वह महाबाहु धनुष लेकर जाने को तय्यार

हुआ ॥ ९ ॥ शाल के डाल तुल्य ऊरु वाला वीर अर्जुन जब भाइयों के मन साथ ले कर जाने को तय्यार हुआ, तब द्रौपदी वचन बोली ॥ १० ॥ हे महाबाहो ! धनञ्जय तेरे जन्म पर जो कुन्ती की इच्छाएं हुईं, वह सब तेरी पूरी हों, और जो तुम स्वयं चाहते हो, वह पूरी हों ॥ ११ ॥ आप के दीर्घ प्रवास में न भोगों में न धन में न जीवित में हमें संतोष होगा, न इन में हमारा मन दौड़ेगा ॥ १२ ॥ हे पार्थ हम सब के सुख दुःख जीवन मरण राज्य ऐश्वर्य आप के सहारे हैं ॥ १३ ॥ हे भारत ! मेरी अनुमति है, आप कल्याण पावें ॥ १४ ॥ तब अर्जुन भाइयों की और धौम्य की प्रदक्षिणा कर, सुन्दर धनुष पकड़ प्रस्थित हुआ ॥ १५ ॥ हिमालय और गन्धमादन को लंघ कर इन्द्र कील पर पहुंच विश्राम किया ॥ १६ ॥ इन्द्र के हाथ से महास्त्र, उन के संहार, और दुःसह वज्र अस्त्र सीखे ॥ १७ ॥ इन्द्र ने चित्रसेन से इस की मैत्री करवाई, वह उससे मिल कर आनन्द से रहा ॥ १८ ॥ उस से अतुल प्रीति लाभ करके कभी २ अतुल गान्धर्व नृत्य और बाजे बजाना सीखा ॥ १९ ॥

अ० १५ (व० ५२) नलोपाख्यान

मूल—अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि । आवसन् कृष्णया सार्धं काम्यके भरतर्षभाः ॥ १ ॥ ततः कदाचिदे कान्ते विविक्त इव शाद्वले । दुःखार्ता भरतश्रेष्ठा निषेदुः सह कृष्णया ॥ २ ॥ धनञ्जयं शोचमानाः साश्रुकण्ठाः सुदुःखिताः । तद्वियोगार्दितान् सर्वान् शोकः समभिपुप्लुवे ॥ ३ ॥ आजगाम महाभागो बृहदश्वो महानृषिः । शास्त्रवन्मधुपर्केण पूजयामास धर्मराट् ॥ ४ ॥

अर्थ—अस्त्रों के निमित्त महात्मा अर्जुन के इन्द्रलोक को चले जाने पीछे वह भरतवर द्रौपदी के साथ काम्यक वन में रहे ॥१॥ एक बार दुःख से पीड़ित वह भरतवर द्रौपदी समेत एकान्त में घास पर बैठ थे ॥ २ ॥ अर्जुन की चिन्ता में उन के आंसु बहने लगे, वह दुःखित होरहे थे, अर्जुन के वियोग से उन सब पर शोक छा रहा था ॥ ३ ॥इस अवसर पर महाभाग महर्षि बृहदश्व आया, धर्मराज ने शास्त्रानुसार मधुपर्क से उसकी पूजा की ॥४॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—अक्षद्यूते च भगवन् धनं राज्यं च मे हृतम् । आहूय निकृतिप्रज्ञैः कितवै रक्षकोविदैः ॥ ५ ॥ आर्तानां सुहृदां वाचो द्यूतप्रभृति शंसताम् । अहं हृदि श्रिताः स्मृत्वा सर्वरात्रीर्विचिन्तयन् ॥ ६ ॥ यस्मिश्चैव समस्तानां प्राणा गांडीवधन्वनि । विना महात्मना तेन गतसत्व इवाभवम् ॥ ७ ॥ अस्ति राजा मया कश्चिदल्पभाग्यतरो भुवि । भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुत पूर्वोऽपि वा क्वचित ॥ ८ ॥ न मत्तो दुःखिततरः पुमानस्तीति मे मतिः ॥ ९ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे भगवन् ! छल बुद्धि वाले, पासों में निपुणों ने पासों के जुए में बुला कर मेरा धन और राज्य छीना है ॥ ५ ॥ जुए से ले कर कहे हुए,पीड़ित सुहृदों के वचन, मेरे हृदय में टिके हुए हैं, उन को स्मरण कर सब रातें चिन्ता में बीतती हैं ॥ ६ ॥ जिस अर्जुन के सहारे हम सब के प्राण हैं, उस महात्मा के बिना मैं बलहीन के समान होगया हूं ॥ ७ ॥ क्या आपने मेरे समान कोई मन्दभाग्य राजा कहीं देखा वा सुना है ॥ ८ ॥ मुझ से बढ़ कर कोई दुखिया नहीं होगा, यह मेरा निश्चय है ॥ ९ ॥

मूल—बृहदश्व उवाच—यदब्रवीषि महाराज न मत्तो विद्यते क्वचित् । अल्प भाग्यतरः कश्चित् पुमानस्तीति पाण्डव ॥ १० ॥ अत्र ते वर्णयिष्यामि यदि शुश्रूषसेऽनघ । यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत् पृथिवीपते॥ ११ ॥ अथैन मब्रवीद् राजा ब्रवीतु भगवानिति । इमामवस्थां संप्राप्तं श्रोतुमिच्छामि पार्थिवम् ॥ १२ ॥ बृहदश्व उवाच—शृणु राजन्नवहितः सह भ्रातृभिरच्युत । यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत् पृथिवीपते ॥ १३ ॥ निषधेषु महीपालो वीरसेन इति श्रुतः । तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थ कोविदः ॥ १४ ॥ स निकृत्या जितो राजा पुष्करेणेति नः श्रुतम् । वनवासं सुदुःखार्तो भार्यया न्यवसत् सह ॥ १५ ॥ न तस्य दासा न रथो न भ्राता न च बान्धवाः । वने निवसतो राजन् शिष्यन्तेस्म कदाचन ॥ १६ ॥ भवान् हि संवृतो वीरैर्भ्रातृभिर्देव संमितैः । ब्रह्मकल्पै र्द्विजाग्र्यैश्च तस्मान्नार्हसि शोचितुम्॥१७॥

अर्थ—बृहदश्व बोले—हे महाराज पाण्डव ! आप जो कहते हैं, कि मुझ से बढ़ कर मन्दभाग्य कहीं कोई नहीं हुआ होगा ॥ १० ॥ हे निष्पाप ! यदि आप सुनने की इच्छा रखते हैं, तो मैं आप को बतलाऊंगा, जो राजा आप से अधिक दुःखित हो चुका है ॥ ११ ॥ राजा ने कहा, आप कहिये, इस अवस्था को पहुंचे राजा को मैं सुनना चाहता हूं ॥ १२ ॥ बृहदश्व बोले—हे अच्युत आप भाइयों के साथ एकाग्र मन होकर सुनिये, जो राजा आप से अधिक दुःखित हो चुका है ॥ १३ ॥ निषध देश में वीरसेन विख्यात राजा हुआ है, उस का पुत्र धर्म और अर्थ का जानने वाला नल नामी हुआ ॥ १४ ॥ उस का इतिहास हमने यह सुना है, कि उस को पुष्कर ने छल से जुए में जीत लिया

था वह अतीव दुःख से पीड़ित हुआ भार्या समेत वन को गया ॥ १५ ॥ वन में रहने के समय उस के पास न दास, न रथ, न भाई, न बान्धव रहे ॥ १६ ॥ आप देव तुल्य वीर भाइयों के साथ और ब्रह्मा तुल्य ब्राह्मणों के साथ वास करते हैं, इस से आप शोक करने योग्य नहीं हैं * ॥ १७ ॥

नल दमयन्ती

निषध देश का स्वामी, राजा वीरसेन का पुत्र, नल, बड़ा प्रतापी राजा हुआ है। यह बड़ा पराक्रमी, शूर वीर, वेद वेत्ता, ब्रह्मण्य, उदार हृदय, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, मधुरभाषी था। इन गुणों से और पुत्रवत् प्रजा के पालन से चारों ओर इस का यश फैल गया। इनसे अतिरिक्त दो गुण इस में और थे, जिन से यह अपने समय में अद्वितीय माना गया, एक सुन्दरताई, दूसरा अश्वविद्या (घोड़ों के चलाने की विद्या), इन दोनों में यह सब से बढ़ गया था। उसी समय विदर्भ देश (बरार) का राजा भीम था, यह भी बड़ा शूर वीर, उदार हृदय और प्रजा-पालक था। इस के एक कन्या दमयन्ती और तीन पुत्र दम, दान्त और दमन थे। दमयन्ती रूप की देवी थी, और गुण-वती थी। अपने रूप और गुण की सम्पदा से यह भी जगद्वि-ख्यात होरही थी।

कहावत है, जौहरी की कदर जौहरी जानता है, नल की प्रशंसा सुन २ कर दमयन्ती मन ही मन में उस पर मोहित होगई, और बिन देखे ही उस महाभाग को अपना हृदय सौंप दिया।

---

* इस संक्षिप्त कथा के पीछे, नल दमयन्ती की सविस्तर कथा भी कही है, यह भी हम भाषा में देते हैं।

इधर नल भी दमयन्ती की प्रशंसा सुन २ कर उस पर मोहित होगया, और दमयन्ती की भांति विन देखे ही उसने भी दमयन्ती को अपनी हृदयेश्वरी बना लिया। दोनों ओर से इस प्रेम की चिंगाड़ी ने अपना इतना बल दिखलाया, कि दोनों ही एक दूसरे के स्मरण में दिन काटने लगे। दमयन्ती अपनी सखियों से नल के गुणों को, और नल अपने वयस्यों से दमयन्ती के गुणों को, सुन २ कर जी बहलाते। नींद भी घटती गई, अतएव रात का भी बहुत सा भाग आपस के प्रेम बन्धन को पक्का करने के मनोरथों में बिताते।

इस प्रकार यद्यपि दमयन्ती अपना हृदय नल को और नल अपना हृदय दमयन्ती को सौंप चुका था, तथापि दमयन्ती को नल के और नल को दमयन्ती के हृदय की कुछ खबर न थी। पर खबर हो, वा न हो,

कईप्सितार्थस्थिर निश्चयं मनः पयश्च निम्नाभि मुखं प्रतीपयेत्
अभीष्ट अर्थ में पक्के निश्चय वाले मन को और निचाई की ओर जाने वाले पानी को कौन उलट सकता है

सो अब मन को हटाने की बात तो उन के अपने भी हाथ न रही थी, सोच केवल यही थी, कि किस तरह मैं अपने कान्त वा कान्ता को अपने हृदय का रहस्य निवेदन करूं। इस अर्थ की सिद्धि के लिये दमयन्ती के तो जो मन में आता, वह मन में ही रह जाता, मारे लज्जा के मुंह से बाहर न निकलता, पर नल ने उपाय सोचा और एक विश्वस्त दूत को हंस के वेष में दमयन्ती के पास भेजा*। हंस विदर्भ में पहुंच प्रमद वन में जा

* हंस = संन्यासी। कथा में हंस को पक्षी के रूप में वर्णन किया है। पर यह सारा रूपक है, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में संन्यासियों को हंस रूप में वर्णन किया है। हंस, परमहंस, संन्यासियों को कहते हैं।

टिका। और अवसर पाकर, दमयन्ती के सामने, राजाओं के वर्णन के प्रसंग में, उस ने नल के सारे गुणों का ऐसे उत्साह और आदर से वर्णन किया, कि मानों सर्वत्यागी हंस भी नल के गुणों पर मोहित है।

इस वर्णन से वह दमयन्ती को नल पर रिझाना चाहता था, पर यहां तो वह पहले ही मोहित थी। उसने सब कुछ हर्ष के साथ सुना और उस के मन का भाव उस के चेहरे पर झलकने लगा। हंस भी आकार और इंगित से हृदय का भाव परखने में बड़ा कुशल था, झट दमयन्ती के अन्तरीय भाव पर पहुंच गया। और शान्त गम्भीर स्वर से बोला—"राजकुमारि! मैं बहुत से देश देशान्तर घूमा हूं, बड़े २ गुणियों से मिलने का अवसर मिला है, पर मैं कह सकता हूं, कि इस सारे जगत् में दो ही रत्न मैंने देखे हैं, नारियों में दमयन्ती और पुरुषों में राजा नल (दमयन्ती ने अपना सिर झुका लिया। हंस बराबर बोलता गया) बेटि! हम साधु हैं, हमें किसी से क्या प्रयोजन, पर रत्न का रत्न के साथ समागम सभी को भला मालूम देता है, विधाता का निर्माण-कौशल भी तभी सार्थक होता है। पुत्रि! जैसे भीम तुम्हारा हित चाहते हैं, उसी हित बुद्धि से यह वचन मेरी जिह्वा पर आए हैं, पुत्रि! कोई अन्यथाभाव मन में न लाना, हमारे मन में जो आता है, वह निःशंक हमारी जिह्वा पर आजाता है, हम किसी से अपना मन नहीं छिपाते, न कोई हम से अपना मन छिपाता है"।

दमयन्ती—(लज्जा से बहुत धीरे २) "भगवन्! आप के निष्काम हितचिन्तन का समादर कौन नहीं करेगा, किन्तु यही

बात आप उस महाभाग को कहें।

हंस 'तथास्तु' कह कर चला आया, और नल को सारा वृत्तान्त आ सुनाया।

इधर हंस के वचन सुनने के पीछे, दमयन्ती नल के देखने के लिये, अधीर हो उठी। उस को इसी ध्यान में खाना पीना सोना बैठना पढ़ना लिखना सब भूलने लगा, और उसका शरीर दुर्बल होने लगा। उसकी ऐसी अवस्था देख माता पिता को बड़ी चिन्ता हुई। सन्तान के लिये किस को स्नेह नहीं होता, किन्तु गुणवती दमयन्ती तो अपने माता पिता को अत्यन्त ही प्यारी थी, सो वह बड़ी ही चिन्ता में पड़े, पर रोग का कुछ पता न लगा। दमयन्ती उन को धीरज देती, और अपने को नीरोग बतलाती, पर उसकी अवस्था धीरज बन्धने न देती थी। अन्ततः दमयन्ती की यौवनावस्था देख, भीम ने अपना यह कर्तव्य निश्चित किया, कि अब दमयन्ती का स्वयंवर करना चाहिये। यह मानों विधाता ने उसके हृदय में बैठ कर इलाज ही बतला दिया॥

स्वयम्वर की घोषणा दी गई, दमयन्ती का स्वयंवर सुन कर चारों दिशाओं से राजे और राजकुमार बड़ी सज धज के साथ विदर्भ देश में आ विराजे, राजा नल भी आ गए। स्वयंवर के दिन सब राजे और राजकुमार अपने २ नियत स्थानों पर बैठ गए। तब जयमाला हाथ में लिये दमयन्ती रंग में प्रविष्ट हुई। दमयन्ती के रूप की प्रभा देख सब के मन और नेत्र उसी पर जा गड़े। जब अलग २ राजों के नाम और गुण कीर्तन किये गए, तब दमयन्ती आगे बढ़ी, कई राजाओं को लंघ कर जब वह नल

के निकट आई, तो लज्जा के साथ कांपते हाथों से जयमाला उस के गले में डाल, उस का अञ्चल पकड़ कर खड़ी होगई। चारों ओर से जय २ ध्वनि होने लगी, बाजे बजने लगे, और पुष्पवृष्टि हुई। स्वयंवर का कार्य समाप्त हुआ, राजे यथोचित पूजा पाकर अपने २ घरों को लौटे। और भीम ने घर लेजा कर यथाविधि दमयन्ती का विवाह किया।

विवाह के पीछे कुछ दिन नल वहां रहे, फिर दमयन्ती सहित अपने देश में आए॥

देश में आ बड़े आनन्द से रहने लगे।राजा नल पहले ही पुण्यश्लोक प्रसिद्ध थे, अब धर्म प्रिया दमयन्ती के साथ आगे से बढ़ कर प्रजा के हितसाधन में तत्पर हुए। दानी प्रसिद्ध ही थे, अश्वमेघ तथा और भी कई यज्ञ किये। सारे जगत् में उन की पुण्य ख्याति फैल गई। दमयन्ती में से नल का एक पुत्र और एक कन्या हुई। पुत्र का नाम इन्द्रसेन और कन्या का इन्द्रसेना रक्खा। इस प्रकार आनन्द से पृथिवी का पालन करते हुए उन को बारह वर्ष व्यतीत हुए॥

नल का एक छोटा भाई पुष्कर था, जिस को पिता वीरसेन ने राज्य का कुछ भाग दे कर स्वतन्त्र राजा बना दिया हुआ था। नल के बढ़ते ऐश्वर्य और कीर्ति को देख वह ईर्ष्या में जलने लगा, पर उस का कोई बस नहीं चल सकता था। नल में जहां इतने गुण थे, वहां यह एक दोष भी था, कि वह पासों की खेल का बहुत प्यारा था। पुष्कर ने यही छिद्र उस से ऐश्वर्य छीनने का ढूंढा। वह निषध में आया, और नल को पांसे खेलने के लिये आह्वान किया। नल उस के साथ खेल में प्रवृत्त हुआ। खेल में नल हारता गया। मन्त्रियों ने दमयन्ती के द्वारा बीच

में राजा को इस व्यसन से हटाने का प्रयत्न किया, दमयन्ती ने भी हाथ जोड़ सविनय निवेदन किया, पर प्रसिद्ध है, कि हारा हुआ जुआरिया पीछे नहीं हटता, नल ने दमयन्ती के वचन को न माना, और खेलता ही रहा। बहुत कुछ हरजाने के पीछे दमयन्ती ने एक बार फिर मन्त्रियों को बुला कर नल को इस व्यसन से हटाने का यत्न किया, पर वह भी निष्फल हुआ। तब दमयन्ती ने राज्य का अन्त होता देख, और आने वाली विपत्ति को लख कर, नल के सारथि वार्ष्णेय को बुला कर कहा, कि कई महीनों की खेल में नल सारा राज पाट हार गए। सो तुम राजा के प्यारे घोड़े रथ में जोड़ इन्द्रसेन और इन्द्रसेना को विदर्भ में मेरे पिता के पास पहुंचादो। उसने ऐसा ही किया।

राज्य को जीत कर मदमत्त पुष्कर निधड़क होकर बोला, कि एक बाज़ी और खेलो, और दमयन्ती को दाव पर रखो। इस वाणी के बाण से नल का हृदय टुकड़े २ होगया, पर उसने पुष्कर से कुछ न कहा, और दाव पर अपने भूषण उतार कर रख दिये, पुष्कर वह भी जीत गया।

अब नल अपने सर्वस्व से हीन होगया। एक धोती के सिवाय उसके पास और कुछ न रहा। अब उसके लिये वन वा विदेश ही शरण होसकता था, वह जाने को तय्यार हुआ। यह समाचार जब दमयन्ती ने पाया, तो उसने भी भूषण और वस्त्र उतार दिये, पति के तुल्य उस पतिव्रता ने एक धोती के सिवाय तन पर और कुछ न रखा। आगे २ नल और पीछे २ दमयन्ती एक २ धोती पहने हुए नगर में से बाहर निकले। इस घटना

को देख पुरवासी फूट २ कर रोये। पर पुष्कर के भय से कोई उन का साथी न हुआ, क्योंकि पुष्कर ने घोषणा दे दी थी, कि जो नल का साथी होगा, वह मार दिया जाएगा।

विपद्ग्रस्त नल अपनी रानी समेत नगर से निकल आया, तीन रात कुछ खाने को नहीं मिला, जल पीकर सो रहते, अगले दिन कुछ वन्य पक्षी चुगते देखे, भूख से तंग आए हुए नल ने उन को पकड़ने के लिये अपनी धोती उनके ऊपर फैंक दी, पक्षी धोती को ले उड़े, और झट आंखों से ओझल होगए। सच है, विपद् अकेली नहीं आती। विपद् पर विपद्, भूख से तंग आए हुए दोनों एक ही धोती से अपने नंग ढांप कर फिरने लगे।

नल ने सोचा, न जाने इस दुःख का अन्त कब हो, किसी भांति दमयन्ती को इस दुःख से बचाना चाहिये, यह सोच वह विदर्भ के मार्ग पर आया, और दमयन्ती से कहा 'यह मार्ग विदर्भ को जाता है, मार्ग में स्थान २ पर ऋषियों के आश्रम हैं, जहां खाने को फल मूल बहुत मिल जाते हैं' दमयन्ती के चुप रहने पर यही बात जब नल ने बार २ कही, तो दमयन्ती विलाप करती हुई बोली—' महाराज ! आप का अभिप्राय जान कर मेरा हृदय कांपता है, इस समय मुझे मेरे पिता के घर का मार्ग न बताएं, क्या आप के संग से वहां मुझे अधिक सुख मिलेगा, आप से अलग होकर मुझे खाना पहनना राज्य ऐश्वर्य कोई सुख नहीं देसकता, आप का संग, आप का नित्यप्रति दर्शन, और आप का सेवन ही मेरे लिये सुखदायक होगा, राज्य ऐश्वर्य नहीं। महाराज आप मुझे त्यागें भी, तो भी मैं आप को त्याग नहीं सकती"।

हृतराज्यं हृतद्रव्यं विवस्त्रं क्षुच्छ्रमान्वितम् ।
कथमुत्सृज्य गच्छेय महं त्वां निर्जने वने ॥
श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य चिन्तयानस्य तत् सुखम् ।
वने घोरे महाराज नाशयिष्याम्यहं क्लमम् ।
न च भार्या समं किञ्चिन्नरस्यार्तस्य भेषजम् ।
नित्यं हि सर्व दुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥

आप का राज्य छिन गया, धन छिन गया, वस्त्र पास नहीं, भूख और थकावट सताती है, भला ऐसी अवस्था में मैं आप को निर्जन वन में छोड़ कर कैसे जासकती हूं । महाराज ! जब आप भूख से सताए होंगे, थके होंगे, और उस पहले सुख को आप स्मरण करेंगे, उस समय इस घोर वन में मैं आप को धीरज बंधाऊंगी, थकावट दूर करूंगी । आर्त पुरुष के लिये पत्नी समान कोई औषध नहीं, सदा सभी दुःखों में पत्नी अमोघ औषध है, यह मैं सत्य कहती हूं ।

नल उस प्रेम के सामने हार मान कर बोले—' प्रिये मैंने तुझे नहीं कहा कि जाओ '

दमयन्ती—" स्वामिन् ! मैं जानती हूं, कि आप मुझे अलग कर नहीं सकते, पर इस विपत्ति में कदाचित् आप का मन न गिर गया हो, महाराज ! आप मुझे बार २ जो विदर्भ का मार्ग बतलाते हैं, इस से आप मेरा शोक बढ़ाते हैं । हां यदि आप का अभिप्राय विदर्भ को ले चलने का है, तो हम दोनों इकट्ठे चलते हैं । पिता जी आप का पूरा मान करेंगे, और आप वहां पूजित हुए सुख से रहेंगे ।

नल बोले—"प्रिये ! जैसे वह तेरे पिता का राज्य है, वैसे मेरा

है, इस में संशय नहीं, पर इस विषम अवस्था में मैं वहां नहीं जाऊंगा। इस प्रकार बात चीत करते हुए वह वन में फिरने लगे। फिरते फिराते रात को एक सूनी सभा में पहुंचे, वहां वह दोनों लेट गए। दमयन्ती थकी मांदी थी, सो गई, नल भी थके मांदे थे, पर शोक से नींद नहीं आई। मन में सोचने लगे, ' यह राजपुत्री और राजरानी जो सुख और ऐश्वर्य में पली और बढ़ी है, यह इस दुर्गम वन में कैसे इन महाकष्टों को भोगेगी, मैं तो सब कुछ सहलूंगा, पर इस प्राणप्यारी को कैसे इस विपत्ति में देखूंगा। मेरे ऊपर इस का अनुराग है, मेरे निमित्त यह दुःख भोग रही है। पर यह मुझे कभी न छोड़ेगी, यदि मैं इसे यहां छोड़ जाऊं, तो यह किसी न किसी तरह पिता के घर पहुंच ही जाएगी ' इस प्रकार मन में बहुतसी उधेड़ बुन के पीछे नल ने उसे सोई छोड़ जाने का निश्चय कर लिया। अपने और दमयन्ती के ऊपर एक ही वस्त्र को देख कर उसी वस्त्र को आधा काट लेने का निश्चय किया। उठ कर इधर उधर जो देखा, तो एक बिना म्यान के तलवार पड़ी मिली, उसी से आधा वस्त्र काट अपना नंग ढांप चल पड़ा। उस समय की दशा नल ही जानते थे, कुछ दूर गए, फिर लौटे, फिर चले, फिर लौटे, मन न जाने देता, न ठहरने देता था। अन्ततः बहुत विलाप कर, मन को कड़ा करके, शून्य वन में सोई हुई अकेली भार्या को छोड़, चले ही गए।

निदान जब नल दूर निकल गए, और दमयन्ती की आंख खुली, तो वह प्राणप्रिय को अपने पास न देख कर घबरा उठी, इधर उधर देखा भाला, न मिले। ऊंचे स्वर से, आर्तध्वनि से पुकारा, 'महाराज कहां हो' कोई आवाज़ न आई, हाथ पटकने

लगी, दोनों हाथ माथे पर मार कर भाग्य को रोती और विल-पती हुई, ' हा नाथ हा स्वामिन् ! अपनी अनुव्रता भार्या को किस अपराध से इस जंगल में अकेली छोड़ कर चले गए हो। अपनी उस प्रतिज्ञा को चेत करो जो आपने विवाह के समय की थी, कि मैं जीते जी कभी तुझ से अलग नहीं हूंगा। नाथ ! जल्दी आकर मेरी सुध लीजिये, मेरे मन का खेद दूर कीजिये, हाय मेरा हृदय कैसा वज्र का बना हुआ है, कि मैं आप से त्यागी हुई भी जीती हूं'।

न शोचाम्यह मात्मानं न चान्यदपि किञ्चन।
कथं नु भवितास्येक इति त्वां नृप शोचये॥
कथं नु राजंस्तृषितः क्षुधितः श्रमकर्शितः।
सायान्हे वृक्षमूलेषु मामपश्यन् भविष्यसि॥

मुझे अपना शोक नहीं, न कोई और बात (राज्य का छिनना आदि) शोक में डालती है, किन्तु आप अकेले कैसे होंगे यह शोक मुझे बड़ा भारी है। हे राजन् ! भूख, प्यास थका-वट से युक्त होकर सायंकाल वृक्षों के नीचे अपने पास मुझ को न देखते हुए आप की क्या दशा होगी।

इस प्रकार रोती विलपती हुई इधर उधर दौड़ती है, गिर-पड़ती है, फिर उठ खड़ी होती है, ठंडे सांस भरती है, और बीच २ में फिर पुकार उठती है ' महाराज कहां हो ' दमयन्ती का विलाप सुन कर वन के सब जीव जन्तु व्याकुल होगए।

इस प्रकार कूंज की तरह पुकारती दमयन्ती वन में चारों ओर घूमने लगी, अचानक एक महाकाय अजगर ने उसे आन घेरा, मृत्यु को सामने देख कर अपने लिये कोई शोक नहीं,

किन्तु नल के लिये ही मन में शोक आता है ।

कथं भविष्यसि पुनर्मामनुस्मृत्य नैषध ।
पापान्मुक्तः पुनर्लब्ध्वा बुद्धिं चेतो धनानि च ॥
श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्यपरिग्लानस्य नैषध ।
कः श्रमं राजशार्दूल नाशयिष्यति तेऽनघ ॥

हे नाथ ! जब आप इस विपत्ति से छूटे हुए मन बुद्धि और राज्य धन को पाकर उस समय मेरा स्मरण करेंगे, तब आप की क्या दशा होगी । और हे राजशार्दूल ! अब भी जब आप वन में थके मांदे और भूख प्यास से युक्त होंगे, तब कौन आप की थकावट को दूर करेगा ।

अजगर उसे निगलना ही चाहता था, कि ऐसा वाण अजगर को आकर लगा, कि वह वहीं मर गया । यह वाण दैवयोग से उसी समय वहां आए एक व्याध ने दमयन्ती को बचाने के लिये मारा था । व्याधे ने पास आकर उसे धीरज दिया और कुछ खाने को दिया । पर वह व्याधा दमयन्ती को अजगर से अधिक दुःखदायी हुआ, कि उसने उसके रूप पर मोहित होकर उसका पतिव्रत भंग करना चाहा, दमयन्ती रोकर उसे पिता २ कह कर धर्म की बातें सुनाने लगी, पर जब देखा, कि यह दुष्ट किसी तरह नहीं मानता, तो आतुर हो अन्तर्यामी से प्रार्थना की, "हे अशरण शरण ! हे अनाथ नाथ ! यदि मैं सती हूं, तो यह दुष्ट मेरा सत भंग न करसके, अभी मरजाए" भगवान् की महिमा अपार है, कि इस से क्रोध में आकर व्याधे ने जो उस पर वाण मारना चाहा, वह क्रोध में उलटा छूट कर उसी को लगा, और वह मरगया ।

दमयन्ती रोती विलपती फिर उस शून्य वन में फिरने लगी, जंगल पहाड़ों में भटकते२ उसे एक नदी पर एक बड़ा सार्थ (काफिला) मिला, जो हाथियों पर बहुतसा माल लाद कर चेदि देश को जारहा था, दमयन्ती उस सार्थ के साथ होली। सायं समय सार्थ ने एक सरोवर के तट पर विश्राम किया। रात अन्धेरी थी, आधी रात के समय जंगली हाथियों का यूथ पर्वत से वहां पानी पीने आया, वह मदमत्त जंगली हाथी इन ग्राम्य हाथियों की ओर वेग से दौड़े। सार्थ के हाथी संगल तुड़ा कर भागे, लोग सोए पड़े थे, माल और जान का बड़ा विनाश हुआ। लोगों ने झाड़ियों में छिप २ कर अपनी जानें बचाईं, तथापि कई कुचले गए। जब हाथी चले गए, शान्ति हुई, तो वह झाड़ियों से निकल कर रोने पीटने लगे, दमयन्ती ने उनके दुःख को बड़ा अनुभव किया, पर जब उनमें से एक दुखिया के मुख से यह शब्द निकले, कि "यह कल जो हमारे साथ वह पागलसी स्त्री आमिली है, उस पर दैव का कोप है, यह सारा उसी के पाप का फल है" इस को सुन कर तो दमयन्ती के शोक की कोई सीमा न रही, वह बोली-

अहो ममोपरिविधेः संरम्भो दारुणो महान्।
नानुबध्नाति कुशलं कस्येदं कर्मणः फलम्॥
न स्मराम्यशुभं किञ्चित् कृतं कस्यचिदण्वपि।
कर्मणा मनसा वाचा कस्येदं कर्मणः फलम्॥
नूनं जन्मान्तर कृतं पाप मापतितं महत्।
अपश्चिमा मिमां कष्टा मापदं प्राप्तवत्यहम्॥
भर्तृराज्यापहरणं स्वजनाच्च पराजयः।
भर्त्रा सह वियोगश्च तनयाभ्यां च विच्युतिः।

योपि मे निर्जनेऽरण्ये संप्राप्तोऽयं जनार्णवः ।
स हतो हस्तियूथेन मन्दभाग्यान्ममैव तत ॥
प्राप्तव्यं सुचिरं दुःखं नून मयापि वै मया ।
या नाहमद्य मृदिता हस्तियूथेन दुःखिता ॥

हाय मेरे ऊपर दैव का कैसा दारुण कोप हुआ है, कि जिससे कल्याण नहीं पाती हूं, यह किस कर्म का फल है। मुझे स्मरण नहीं पड़ता, कि मैंने कभी मन वचन कर्म से कभी किसी का कोई थोड़ा सा भी अपकार किया है, न जाने किस कर्म का यह फल है । निश्चय मेरे पूर्वजन्म का यह महापाप उदय हुआ है, जिससे ऐसी दारुण विपदा में पड़ी हूं, जिसका अन्त नहीं होता । पति के राज्य का नाश,अपने जनों से वियोग, पति से वियोग, और सन्तान से अलग होना । जो इस निर्जन वन में मैंने पुरुषों का झुंड पाया, उसको भी मेरे मन्द भाग्य के कारण हाथियों के झुंड ने दल दिया । निश्चय मैंने अभी बहुत दुःख देखना है, जो इस दुःखिता को हाथियों के यूथने नहीं कुचला । इस प्रकार बहुत रोयी धोयी ।

अनन्तर वह उस सार्थ के साथ चेदिपुर पहुंची । आधा वस्त्र लपेटे हुए बाल खुले हुए उन्मत्त की भांति जब वह नगरी में प्रविष्ट हुई, तो छोटे बालक कुतूहल से उसके पीछे लग गए । इसी दशा में जब वह राजप्रासाद के निकट पहुंची, तो राजमाता ने उसे ऊपर से देखा, ऐसा दिव्य रूप और ऐसी दुर्दशा देख कर उसका जी भर आया, दासी भेज उसे ऊपर बुलवाया, और सब को अलग करके एकान्त में उस से पूछा, यह दिव्यरूप और यह उन्मत्त वेष, तुम कौन हो, और क्यों इस तरह

घूम रही हो ॥

दमयन्ती बोली, मैं सैरन्ध्री (वेषादि सजाने में चतुर) हूं, मेरा पति बड़ा गुणी है, वह मुझे बहुत प्यार करते हैं, मैं भी उनकी भक्त हूं। दैववश वह सब कुछ हार कर वन में आए, मैं ने इस विपत्ति में साथ देना चाहा,परवह मुझे दुःख से बचाने के लिये सोई छोड चले गए। किन्तु मेरे लिये यह दुःख असह्य है, मैं उन को दिन रात ढूंढती फिरती हूं, मेरे प्राणेश्वर मुझे नहीं मिलते हैं" इतना कहते ही उसके नेत्रों से जलधारा बहने लगी।

राजमाता ने उसे तसल्ली देकर कहा, बेटी तुम यहीं रहो, मेरे पुरुष तेरे भर्ता को ढूंढेंगे।

दमयन्ती बोली—माता मैं इस नियम से रहसकती हूं,"न मैं झूठा खाऊंगी, न पाओं धुलाऊंगी, न पराये पुरुषों से बात करूंगी, यदि कोई पुरुष मुझे कुछ कहे, तो वह दण्डनीय हो, हां पति का पता लगाने के लिये मैं ब्राह्मणों के दर्शन करसकूं, और उनसे बात करसकूं। यदि ऐसा हो, तो मैं आप के पास ठहर सकती हूं, नहीं तो कहीं न रहूंगी"।

राजमाता ने स्वीकार किया, और अपनी बेटी सुनन्दा को बुला कर कहा, बेटी इसको अपनी सखी मान आदर मान से रखो, दमयन्ती मन में नल को स्मरण करती हुई राजपुत्री सुनन्दा के साथ रहने लगी।

उधर नल दमयन्ती के विरह में व्याकुल घूमते फिरते अयोध्या में आ निकले। उस समय वहां सूर्यवंशी राजा ऋतुपर्ण राज्य करते थे, उनको घोड़ों की सवारी का बड़ा शौक था। वह उत्तम घोड़े और उत्तम सारथि अपने पास रखते थे। नल

अश्वविद्या में निपुण थे ही, राजा के पास गए, अपना नाम बाहुक सारथि बतलाया, अश्वविद्या में बाहुक का आश्चर्यकारी कौशल देख ऋतुपर्ण बड़े प्रसन्न हुए, और बाहुक को घोड़ों का अध्यक्ष नियत किया, और उसकी सहायता के लिये वार्ष्णेय और जीवल यह दो सारथि उसके अधीन किये। इस प्रकार नल वहां सारथि बन कर रहने लगे, दमयन्ती को स्मरण करते हुए यह श्लोक सायंकाल नित्यप्रति गाते—

> क्व नु सा क्षुत्पिपासार्ता श्रान्ता शेते तपस्विनी।
> स्मरन्ती तस्य मन्दस्य कंवाऽऽसाद्योप तिष्ठति॥

भूख प्यास से पीड़ित, और थकी हुई, वह बेचारी, कहां उस मूढ़ को स्मरण करती हुई सोती होगी, वा किसके पास जाकर टिकी होगी॥ जीवल ने एक बार उसे गाते हुए सुना, और पूछा, कि वह किसकी नारी है, जिसका तुम इस तरह शोक करते हो। बाहुक ने इतना कह कर टाल दिया, कि किसी मन्द भाग्य, मन्द बुद्धि की, जिस की वह पत्नी बड़ी पतिव्रता पतिप्राणा है, किन्तु वह किसी दुःख में उससे वियुक्त हुआ प्रति सायं उस के स्मरण में जो गीत गाता है, वही गीत इस समय मैंने गाया है। निदान वहां रहते हुए बाहुक ने अपनी विद्या से राजा को बहुत ही प्रसन्न कर लिया।

उधर राजा भीम को जब नल और दमयन्ती के घर से चले जाने का समाचार मिला, तो उसने उसी समय ब्राह्मणों को उन के ढूंढने के लिये भेजा। उनमें से सुदेव ब्राह्मण चेदिपुर में पहुंचा, वहां वह इस टोह में कई दिन रहा, एक दिन ब्रह्मभोज में वह भी निमन्त्रित होकर राजमाता के घर में गया, वहां उस

ने सुनन्दा के साथ दमयन्ती को देख कर पहचान लिया, और अलग होकर कहा, ' दमयन्ति ! मैं तेरे भाई का मित्र सुदेव हूं, राजा भीम की आज्ञा से तुझे ढूंढने यहां आया हूं, तेरे निमित्त बन्धु वर्ग अधमरे से होरहे हैं, सैंकड़ों ब्राह्मण तेरे ढूंढने के लिये फिर रहे हैं," दमयन्ती ने भी सुदेव को पहचान लिया, सब सुहृदों का कुशल पूछा, भाई के सखा को देख शोक का वेग उमड़ आया और रोने लगी । सुनन्दा ने यह वृत्तान्त माता को बतलाया, राजमाता उसी समय वहां आई, देखा, और उस ब्राह्मण को बुला कर पूछा, कि ' यह किसकी पुत्री, और किस की भार्या है, कैसे यह अपने ज्ञातियों से वा पति से वियुक्त हुई है, और तुमने इसे किस तरह पहचाना है," सुदेव बोला— विदर्भराज भीम की पुत्री दमयन्ती पुण्यश्लोक राजा नल की पत्नी है । जुए ने नल पर विपत्ति डाली, वह दमयन्ती के साथ घर से निकल गए, राजा भीम की आज्ञा से सैंकड़ों ब्राह्मण इन को ढूंढते फिरते हैं, मैंने यहां आप के घर में इसे देखा, इस के रूप और विरहिणी वाली दशा देख दमयन्ती का अनुमान किया, और माथे के इस लाल तिलक से निश्चय किया, जो यह मल से ढका हुआ स्पष्ट नहीं दीखता है । सुनन्दा ने यह वचन सुन उस के माथे को धोकर शोधा, तो वह तिलक स्पष्ट दृष्टि आने लगा, जिस को देख राजमाता ने भी पहचान लिया। तब राजमाता और सुनन्दा भी उसे गले लगा कर फूट २ कर रोईं, पीछे राजमाता ने कहा ' बेटी तू मेरी भानजी है, तेरी माता और मैं दोनों सगी बहिनें, दशार्ण के राजा सुदामा की पुत्रियें हैं, मैंने तुझे बचपन में अपने पिता के घर देखा था, अब

दमयन्ति तुम चिन्ता न करो, जैसा यह मेरा राज्य है, वैसा तेरा है, अबतक तू अज्ञात रही है ' दमयन्ती मौसी को प्रणाम कर बोली ' माता जी अज्ञात भी मैं बहुत सुख से रही हूं, मुझे आपने पुत्री की भांति रखा है, किन्तु हे मातः! चिरकी प्रदेशिनी को अब माता पिता के पास जाने की आज्ञा दें, छोटे बच्चों की ओर बड़ा ध्यान है, जो पिता से वियुक्त और मुझ से वियुक्त हुए बड़े शोकातुर होंगे' राजमाता ने पुत्र (राजा सुबाहु) की अनुमति से उसकी रक्षा के लिये साथ सेना देकर बड़े आदर मान से विदा किया, वह विदर्भ में पहुंची, उसे देख बन्धुजनों को धीरज हुआ, और दशा देख कर बड़ा दुःख भी हुआ।

दूसरे दिन सवेरे ही दमयन्ती माता से बोली 'मातः! यदि मुझे जीता चाहती है, तो मैं तुझे सत्य कहती हूं, नैषध (निषध के राजा) के ढूंढने का जल्दी यत्न कर ' दमयन्ती का वचन सुन उसके नेत्र आंसुओं से भरगए, वह कुछ उत्तर न देसकी, और बहुत रोई। फिर उसने भीम से कहा ' महाराज! दमयन्ती पति का बड़ा शोक करती है, उसने लज्जा त्याग कर मुझे स्वयं कहा है, सो आप नल के ढूंढने का यत्न करें ' राजा ने फिर ब्राह्मणों से कहा, कि वह नल का पता लगाएं, जब वह जाने लगे, तो दमयन्ती ने उन्हें कहा, सब देशों में घूमो, और जहां २ सभा, समुदाय देखो, वहां २ बार २ यह वचन कहो—

क्व नु त्वं कितव छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय॥
सा वै यथा त्वया दृष्टा तथास्ते त्वत्प्रतीक्षिणी।
दह्यमाना भृशं बाला वस्त्रार्धेनाभिसंवृता॥

तस्या रुदन्त्याः सततं तेन शोकेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु वै देव प्रतिवाक्यं वदस्व च ॥

हे जुआरिये ! मेरे आधे वस्त्र को फाड़ कर, हे प्रिय! अपनी प्यारी, प्रेम में रती हुई को. शून्यवन में सोई छोड़, कहां चले गए हो ॥ तुमने उस बाला को जिस हालत में छोड़ा है, वह वैसी ही हालत में तुम्हारी प्रतीक्षा (उडीक) में है, विरह में अत्यन्त जल रही है और आधे वस्त्र से ढकी है ॥ हे राजन ! हे देव ! उस शोक से लगातार रोती हुई अपनी प्यारी पर कृपा करो, और उसके वचन का उत्तर दो '

इस वचन को सुन कर जो कोई तुम्हें उत्तर दे, वह मुझे जल्दी आकर बतलाओ, उस का सारा पता ले आओ, और अपना यह पता न दो, कि हम भीम की आज्ञा से फिर रहे हैं।" आज्ञा पाय ब्राह्मण देश देशान्तरों में पुर, नगर, ग्राम, घोष, आश्रम, सभा, समाज सर्वत्र इस वचन को सुनाने लगे ।

बहुत काल बीतने पर पर्णाद ब्राह्मण लौटा और आकर कहा ' हे दमयन्ति! सर्वत्र ढूंढते हुए मैंने जब राजा ऋतुपर्ण की सभा में वह वचन सुनाया, तो वहां एक पुरुष ने ठंडा सांस भरा, वहां से अलग हो कर वह रो पड़ा, उस ने मुझे फिर वही वचन सुनाने को कहा, सुन कर कुशल पूछा, और यह वचन कहा-

वैषम्य मपि संप्राप्ताः गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मान मात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ॥
रहिता भर्तृभिश्चैव न कुप्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्र कवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ॥
विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्ट सुखेन च ।
यत् सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृत वाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धु मर्हति ॥
सत्कृताऽसत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथागतम् ।
भ्रष्टराज्यं श्रियाहीनं श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥

जो कुलस्त्रियें संकटों में पड़ कर भी अपनी आप रक्षा करती हैं, उन्हीं सतवन्तियों ने स्वर्ग को जीता है, संशय नहीं ॥ भली स्त्रियें पतियों से छोड़ी हुई भी कभी क्रोध नहीं करती हैं, चरित्र का कवच पहन कर प्राणों को धारती हैं ॥ सुखों से भ्रष्ट हुए, संकट में पड़े हुए उस मूढ ने यदि उसे छोड़ा है, तो उसे इसमें क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ जिसको प्राणयात्रा की चिन्ता है, पक्षी जिसके वस्त्र को हर ले गए, जो शोक से जल रहा है, उस पर उसकी कान्ता को क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ चाहे उसका आदर होरहा हो वा न होरहा हो, तौ भी राज्य से भ्रष्ट, लक्ष्मी से हीन, विपत्ति में पड़े हुए पति को देख कर कान्ता को क्रोध नहीं करना चाहिये" ॥ यह वचन सुन कर मैं झट पट आप के पास आया हूं, आगे आप प्रमाण हैं ।

पर्णाद की बात सुन दमयन्ती के नेत्र आंसुओं से भरगए, उसने वहुतसा धन दे कर पर्णाद को विदा किया, और कहा, कि स्वामी के आने पर और भी वहुत कुछ दूंगी । और एकान्त में माता से कहा, पर्णाद ठीक पता ले आया है । अब उन के लाने का प्रयत्न जैसा मैं कहती हूं, वैसा कीजिये । पिता जी को तो कोई पता न लगे, और सुदेव को मेरे कहने के अनुसार भेजिये । माता ने स्वीकार कर सुदेव को बुलवादिया । दमयन्ती सुदेव से कहने लगी, आप ही मुझे ढूंढ कर यहां लाए हैं,

और आप ही नैषध को यहां लाएंगे, आप अयोध्या जाएं, और ऋतुपर्ण के निकट यह कहें, 'नल का कोई पता नहीं लगा, इस कारण दमयन्ती अब फिर स्वयंवर करेगी, वहां राजे और राजपुत्र जा रहे हैं, यदि आप से होसके, तो अभी जाइये, कल ही स्वयंवर होगा' यह बात सूर्योदय से पहले ही राजा को कहनी, यह इस लिये, कि अयोध्या से विदर्भ तक एक ही दिन में बिना नैषध के और कोई घोड़ों को नहीं लासकेगा।

सुदेव ब्राह्मण ने अयोध्या पहुंच राजा को वैसे ही कह दिया। राजा ने बाहुक को बुला कर प्रेमपूर्वक कहा 'हे अश्वविद्या के तत्त्वज्ञ! कल दमयन्ती का स्वयंवर है, यदि होसके, तो आज ही विदर्भ पहुंचना चाहता हूं' यह सुनते ही नल का मन बड़ी सोच में पड़ गया। क्या दुःख से घबरा कर दमयन्ती ऐसी ही होगई होगी, अथवा यह मेरे बुलाने के लिये पूरा उपाय निकाला गया है, यद्यपि मेरा वर्ताव उस अनुव्रता से बहुत बुरा हुआ है, तथापि दमयन्ती ऐसी नहीं हो सकती, विशेषतः संतान वाली होकर। अस्तु, जो इस में सत्या सत्य है, जाकर ही निश्चय करूंगा, ऋतुपर्ण की इस इच्छा को अपने अर्थ पूरा करता हूं, यह निश्चय कर कहा,—' बहुत अच्छा महाराज! तय्यार होजाएं, अभी रथ जोड़ कर लाता हूं, एक ही दिन में पहुंचाऊंगा'। यह कह वह अश्वशाला में गया, और सोच २ कर शरीर के पतले, पर दम के पक्के चार घोड़े चुन कर ले आया। ऋतुपर्ण घोड़ों के आकार देख कर हंसे,' क्या बाहुक! उपहास करते हो, क्या यही घोड़े एक दिन में विदर्भ ले जाएंगे' बाहुक-हां निःसंदेह यही ले जाएंगे, अथवा हे महाराज! जो आप उत्तम समझते हैं वह जोड़ देता हूं' ऋतुपर्ण—' बहुत अच्छा, इस विद्या के मर्मज्ञ

तो तुम्हीं हो ' यह कह ऋतुपर्ण बैठ गए । घोड़ों की सेवा के लिये वार्ष्णेय भी बैठ गया, बाहुक ने जो वागें उठाईं, तो घोड़े हवा होगए, रथ ऐसा उड़ा, कि वस्तुतः न कुछ उनके दूर, न निकट रहा, जो दूर दिखलाई दिया, वह झट निकट आया, जो निकट आया, वह झट दूर होगया । इस वेग में वह बहुत से वन पर्वत नदियें जब लंघ गए, तो राजा का दुपट्टा उड़ कर गिर-गया। राजा ने बाहुक को कहा, "रथ थामो, दुपट्टा गिरगया है" बाहुक ने उत्तर दिया,"वह अब दूर पीछे रह गया, दीखता है, तो थाम लेता हूं" पर अब दुपट्टा कहां, इतने में ही दृष्टि की पहुंच से परे होगया । राजा उस की दक्षता पर बड़ा विस्मित और प्रसन्न हुआ । थोड़ी दूर आगे जाकर एक बहेड़े का पेड़ दिखाई दिया, ऋतुपर्ण ने कहा ' बाहुक ! देखो हम भी तुम्हें अपनी विद्या का चमत्कार दिखलाते हैं, इस सारे पेड़ पर इतने पत्ते और इतने फल हैं ' बाहुक ने कहा ' महाराज मैं इसे प्रत्यक्ष करूंगा ' ऋतु-पर्ण बोले ' विलम्ब न करो ' बाहुक बोला ' मैं आप को पहुंचा-ऊंगा आज ही, पर इसे गिने विना नहीं जाऊंगा ' ऋतुपर्ण का पहुंचना उसके अधीन था, मान लिया, बाहुक ने रथ से उतर कर उसके फल और पत्ते गिने, ठीक निकले । तब वह आगे चले, बाहुक ने हाथ जोड़ कर पूछा, " आपको यह विद्या कैसे आती है"।ऋतुपर्ण ने कहा, " मैं पासों की विद्या का मर्मज्ञ हूं, उसी के अभ्यास से मुझे गिनती में बड़ा अभ्यास है"। बाहुक ने फिर हाथ जोड़ कर कहा,"आप पासों की विद्या के मर्म मुझे बतादें, औरमैं आप को अश्वविद्या का मर्म बतलाता हूं, राजा ने स्वीकार किया, तब नल ने ऋतुपर्ण से पासों की विद्या के सारे

रहस्य ग्रहण किये । ठीक सायं समय रथ कुण्डिनपुर में जा पहुंचा, राजा भीम को ऋतुपर्ण के आने की सूचना मिली, वह आगे जाकर सत्कार पूर्वक साथ लिवा लाया और उतारा दिया । ऋतुपर्ण यह देख मन में बडा घबराया, कि वहां न कोई स्वयंवर का ठाठ, न स्वयंवर की चर्चा, न कोई और राजा वा राजकुमार आए हुए, और न ब्राह्मण समुदाय आए हुए थे । और जब भीम ने पूछा, कि "महाराज कैसे कृपा की" तब तो ऋतुपर्ण को निश्चय होगया, कि स्वयंवर वाली वात झूठी है, सो उसने उत्तर दिया, कि आप के दर्शनों को आया हूं। यह बात भीम के मन तो न लगी, पर आगे क्या कहता ॥

जब भीम ऋतुपर्ण को लेने गए, उसी समय दमयन्ती प्रासाद के शिखर पर चढ़ कर देखने लगी, पर नल का सारा वेष बदला हुआ होने से वह संदेह-हीन न होसकी, तथापि रथ की ध्वनि ने उन को बड़ी तसल्ली दी, यह ध्वनि ठीक वैसी है, जैसी नल के रथ की होती थी, नल के घोड़े भी, जो वहां बच्चों को रथ में लेकर आए थे, वह भी इस ध्वनि को सुन, खाना छोड, कान खड़े करके, सुनते रहे, और हिनहिनाने लगे । दमयन्ती को यह और भी तसल्ली मिली ।

दमयन्ती ने उसी क्षण एक चतुरदासी केशिनी को नल का पता लगाने के लिये भेजा । केशिनी घुडशाला में बाहुक के पास गई और कहा 'हे पुरुषश्रेष्ठ ! स्वागतं ते' राजपुत्री दमयन्ती पूछती है, "आप कब चले और किस प्रयोजन से आए हैं" बाहुक-"हम आज ही चले, और दमयन्ती जो राजा नल की पतिप्राणा पत्नी थी, उस का स्वयंवर सुन कर आए हैं"। केशिनी-

'क्या आप को नल का कुछ पता है' बाहुक—' इस विपत्ति में नल को और कौन जान सकता है, उस का आत्मा ही उस को नल जानता है' केशिनी—' पुरुषवर ! वह ब्राह्मण जो यहां से अयोध्या गया था, पति के विरह में जलती हुई किसी दुःखिता नारी के यह वचन बार २ कहता हुआ '—क्व नु त्वं कितवच्छित्त्वा.......... (सारा पूर्ववत्)

हे महामते ! इस के उत्तर में आपने कुछ वचन कहे थे, वही वचन दमयन्ती आप से फिर सुनना चाहती है। केशिनी के ऐसा कहने पर नल का हृदय व्यथित होगया, लोचन आंसुओं से भर गए, उसने बड़ी कठिनता से अपने आप को थाम कर रुकते हुए गले से फिर वही वचन कहे—' वैषम्य मपि संप्राप्ताः गोपायन्ति कुलस्त्रियः....... (सारा पूर्ववत्)

इस के समाप्त करते ही उसके नेत्रों से आंसुओं की धारा बह निकली। केशिनी ने वह सारा वृत्तान्त दमयन्ती को आ सुनाया। दमयन्ती जान गई, कि यह नल ही है, तथापि अभी और निश्चय करने की आवश्यकता जान केशिनी को फिर भेजा, कि अब चुप चाप पास रह कर उस की चेष्टाओं को जानो। केशिनी देख कर आई, और कहा ' एक छोटे द्वार में प्रविष्ट होते समय उस ने अपना सिर नीचा नहीं किया, और उसने अपना खाना अपने हाथ से बड़ा उत्तम झट पट तय्यार कर लिया है'। दमयन्ती ने कहा, उस में से कुछ ले आओ। केशिनी ले आई। दमयन्ती ने जब चखा, तो उस में वही रस पाया, जो नल के हाथ से बने में पाया हुआ था। तब उसने अपने पुत्र और पुत्री को केशिनी के साथ भेजा। उन को देख नल रो

पड़ा, छाती से लगाया, और केशिनी से कहा 'हे भद्रे ! यह जोड़ी मेरे पुत्रों के सदृश है, इस से देखते ही आंसु निकल आए हैं' केशिनी ने जब यह वृत्तान्त आकर बतलाया, तब दमयन्ती के सारे संशय दूर होगए। उस ने माता को कहला भेजा, कि मेरे स्वामी आगए हैं, अब उन को यहां बुलवादीजिये, वा मुझे उन के पास जाने की आज्ञा दीजिये। तब उसकी माता ने भीम से आज्ञा ले कर केशिनी को भेजा। केशिनी ने जाकर बाहुक से कहा, कि मैं राजा भीम की आज्ञा से आई हूं, आप राजमन्दिर में चलें।

बाहुक उसके साथ हो लिया, वह उसे दमयन्ती के मन्दिर में ले आई। दमयन्ती को देख नल का हृदय शोक और दुःख से भर गया, और आंखें आंसुओं से भरगईं। दमयन्ती भी नल को उस अवस्था में देख तीव्र शोक से भरी हुई उठी, दोनों के नेत्रों से प्रेम के अश्रु बहने लगे। दमयन्ती बोली 'महाराज ! सेवा के समय दासी को त्याग कर आपने बड़ा दारुण दुःख दिया' नल बोले 'उस समय मेरी बुद्धि ठिकाने न थी, विपद् में किसी की भी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, अन्यथा कैसे अनुराग वाले भी पति को छोड़, प्रसिद्ध पतिव्रता भी नारी, दूसरा स्वयंवर रच सकती है' दमयन्ती कांपती हुई हाथ जोड़ कर बोली 'नाथ ! आप मेरे ऊपर ऐसी शंका करने योग्य नहीं, आप अपने मन में कोई मैल न लावें। आप से उत्तर पाने के लिये जो मेरा वचन चारों दिशाओं में गूंज रहा था, जब उस का उत्तर आप से मिलगया, तो आप को यहां लाने का यह उपायमात्र था, क्योंकि विदर्भ से कुण्डिन तक एक दिन में पहुंचाने वाला आपके सिवाय

और कोई नहीं होगा, यहां कोई स्वयंवर की बात देखी भी है? हां यह सत्य है, कि स्वयंवर में अपना वरा हुआ पति मिलता है, सो वह भी आपने आकर सार्थक कर दिया है।' अब दमयन्ती की माता भी आगई, उस का भी हृदय ठंडा हुआ, और उसी समय भीम को समाचार भेजा, भीम ने उत्तर दिया, 'सवेरे क्षौर करवा स्नान कर शाही कपड़े पहने हुए नल को दमयन्ती के साथ देखूंगा' वह रात जो तीन वर्ष के लंबे विरह के पीछे मेल की आई, उनको अपनी २ दुःखबीती बातें सुनाने में बीती।

सवेरे वस्त्र अलंकार धार दमयन्ती सहित नल ने श्वसुर को जा प्रणाम किया, भीम ने उसे पुत्रवत् स्वीकार किया, यथायोग्य पूजा करके धीरज दिया। नल के आने की सारे नगर में धूम मच गई, सब के मन हर्षित हुए, उत्सव मनाने की तय्यारी हुई, राज मार्ग झंडियों और पुष्पों से सजगए। ऋतुपर्ण ने भी सुन लिया, कि राजा नल दमयन्ती को मिल गए, और वह नल उन्हीं के पास बाहुक के रूप में रहा है, उस ने भी नल से क्षमा मांगी, कि इस अज्ञात वास में कोई अपराध हुआ हो, तो क्षमा करना, पहले भी आप मेरे सखा और सम्बन्धी हैं, आशा है, आगे को आप का प्रेम और भी अधिक होगा, आप अपने परिवार से मिले, यह बड़े हर्ष की बात है, नल ने भी सविनय उत्तर दिया 'मैं आप के पास सुखी रहा, आप का कृतज्ञ हूं, एक अमानत आप की मेरे पास है, अर्थात् अश्व विद्या का सिखाना, सो आप स्वीकार कीजिये। यह कह कर उस को अश्वविद्या के रहस्य बतलाए। ऋतुपर्ण और एक सारथि साथ लेकर अयोध्या को वापिस गए, नल कुछ देर वहां रहे।

नल एक मास वहां ठहरे, फिर राजा भीम की अनुमति से, बहुत ही थोड़ी सी सेना अर्थात् एक रथ १६ हाथी ५० घोड़े और ६०० प्यादे साथ ले निषध देश को गए। वहां पहुंच कर पुष्कर को ललकारा, कि मेरे पास अब बहुतसा धन है, एक दाव आप फिर लगाएं, 'मेरा सर्वस्व, और तुम्हारा सर्वस्व, और साथ ही अपने प्राण भी दाव पर हों' यदि ऐसा न मानो, तो द्वन्द्व युद्ध करो। पुष्कर को पासों में अपनी जय का पूरा भरोसा था, उसने वह दाव स्वीकार किया। पर अब नल भी अक्षविद्या का मर्मज्ञ था, पुष्कर से खेल जीत गया। अब पुष्कर के प्राण भी नल के हाथ थे, पर नल ने न केवल उस को प्राणदान दिया, किन्तु उस का निज का राज्य भी उसे दे दिया, और एक मास अपने पास ठहरा कर, भ्रातृभाव बढ़ा कर, प्रेम भरे वचनों से तसल्ली दे कर, बार २ गले लगा कर विदा किया।

फिर नल ने बेटे बेटी समेत दमयन्ती को भी बुला लिया, सुख से रहने और प्रजापालन करने लगे।

अ० १६ (व० ९१-९३) तीर्थयात्रा की तय्यारी

मूल—लोमशः सुमहातेजा ऋषिस्तत्राजगाम ह। उवाच श्लक्ष्णया वाचा हर्षयन्निव पाण्डवान्॥ १॥ संचरन्नस्मि कौन्तेय सर्वान् लोकान् यदृच्छया। गतः शक्रस्य भवनमपश्यं सव्यसाचिनम्॥ २॥ यत् त्वयोक्तो महाबाहुरस्त्रार्थी भरतर्षभ। अस्त्राण्य धीतवान् पार्थो दिव्यान्यमित विक्रमः॥ ३॥ विश्वावसोस्तु तनयाद्गीतं नृत्यं च साम च। वादित्रं च यथान्यायं प्रत्यविन्दद् यथाविधि॥ ४॥ सोऽहमिन्द्रस्य वचनान्नियोगादर्जुनस्य च।

रक्षमाणो भयेभ्यस्त्वां चरिष्यामि त्वया सह ॥ ५ ॥ द्विस्तीर्थानि मया पूर्वं दृष्टानि कुरुनन्दन । इदं तृतीयं द्रक्ष्यामि तान्येव भवता सह ॥ ६ ॥

अर्थ—महातेजस्वी लोमश ऋषि वहां आए, और मधुर वाणी से युधिष्ठिर को प्रसन्न करते हुए बोले ॥ १ ॥ हे युधिष्ठिर ! मैं स्वेच्छा से सारे लोकों में फिरता हूं, मैं इन्द्र के भवन को गया और वहां अर्जुन को देखा है ॥ २ ॥ जिस महाबाहु को हे भरत वर आपने अस्त्रों की आज्ञा दी है, उस बेहद पराक्रम वाले ने दिव्य अस्त्र सीख लिये हैं ॥ ३ ॥ और विश्वावसु के पुत्र से यथाविधि गीत नृत्य साम और बाजा सीखा है ॥४॥ सो मैं इन्द्र के और अर्जुन के कथनानुसार भयों से आप की रक्षा करता हुआ आप के साथ रहूंगा ॥ ५ ॥ हे कुरुनन्दन ! दो बार पहले मैंने तीर्थ* देखे हैं, अब यह तीसरी बार उन्हीं को फिर आप के साथ देखूंगा ॥ ६ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—न हर्षात् संप्रपश्यामि वाक्यस्यास्योत्तरं क्वचित् । भवता संगमो यस्य भ्राता चैव धनञ्जयः॥७॥ वासवः स्मरते यस्य को नामाभ्यधिकस्ततः ॥ ८ ॥ यच्च मां भगवानाह तीर्थानां दर्शनं प्रति । धौम्यस्य वचनादेषा बुद्धिः पूर्वं कृतैव मे ॥ ९ ॥ ततः कुन्तीसुतो राजा लघुभिर्ब्राह्मणैः सह । लोमशेन च सुप्रीतस्त्रिरात्रं काम्यकेऽवसत् ॥ १० ॥ लोमशस्योपसंगृह्य पादौ द्वैपायनस्य च । धौम्येन सहिता वीरास्तथा तैर्वनवासिभिः ॥ ११ ॥ मार्गशीर्ष्यामतीतायां पुष्येण प्रययुस्ततः॥१२॥ कठिनानि समादाय चीराजिनजटाधराः । अभेद्यैः कवचैर्यु-

---

* ऋषियों से सेवित जलाशय और क्षेत्र

क्तास्तीर्थान्यन्व चरंस्ततः ॥ १३ ॥ इन्द्रसेनादिभिर्भृत्यै रथैः परि चतुर्दशैः। महानसव्यापृतैश्च तथाऽन्यैः परिचारकैः ॥ १४ ॥ सायुधा बद्धनिस्त्रिंशास्तूणवन्तः समार्गणाः । प्राङ्मुखाः प्रययु- र्वीराः पाण्डवा जनमेजय ॥ १५ ॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले–हर्ष वश मैं इस वचन का कोई उत्तर नहीं देखता हूं, जिस मुझ का आप से समागम है, भाई अर्जुन है, भला जिस को इन्द्र स्मरण करता है, उससे बढ़ कर कौन है ॥ ७–८ ॥ जो भगवान् ने मुझे तीर्थ दर्शन के लिये कहा है, सो यह धौम्य के कहने से मेरा पहले ही विचार है ॥ ९ ॥ तब राजा युधिष्ठिर थोड़े से ब्राह्मणों के साथ (शेष सब भेज दिये) और लोमश के साथ प्रीतिपूर्वक तीन रात काम्यक में रहा॥१०॥ तिस पीछे लोमश के और व्यास के पादग्रहण कर मंगसिर की पूर्णिमा बीतने पर पुष्य नक्षत्र में वह वहां से चले ॥ १२ ॥ लंबी लाठियें (हाथों में) ले कर चीर मृगचर्म और जटाधारण किये, न टूटने वाले कवचों से युक्त वह तीर्थों की ओर चले ॥ १३ ॥ इन्द्रसेन आदि नौकरों, चौदह रथों तथा रसोई का काम कर करने वाले और कई सेवकों के साथ ॥ १४ ॥ शस्त्र धारे हुए, तलवारें लटकाए, बाणों से भरे हुए भत्थे लिये वह पाण्डव वीर पूर्व की ओर गए ॥ १५ ॥

अ०१७ (व०९५१-२०) तीर्थयात्रा

मूल–ते तथा सहिता वीरा वसन्तस्तत्रतत्र ह । क्रमेण पृथिवीपाल नैमिषारण्य मागताः ॥ १ ॥ ततस्तीर्थेषु पुण्येषु गो- मत्याः पाण्डवा नृप। कालकोट्यां विषप्रस्थे गिरावुष्य च कौरवाः

॥ २ ॥ बाहुदायां महीपाल चक्रुः सर्वेऽभिषेचनम् ॥ ३ ॥ प्रयागे देवयजने देवानां पृथिवीपते । गंगायमुनयोश्चैव संगमे सत्यसंगराः ॥ ४ ॥ तपस्विजनजुष्टां च ततो वेदीं प्रजापतेः । जग्मुः पाण्डुसुता राजन् ब्राह्मणैः सह भारत ॥ ५ ॥ ततो महीधरं जग्मुर्धर्मज्ञेनाभि संस्कृतम् । राजर्षिणा पुण्यकृता गयेनानुपमद्युते ॥ ६ ॥ नगो गयशिरो यत्र पुण्या चैव महानदी । तत्र ते पाण्डवा वीराश्चातुर्मास्यै स्तदेजिरे ॥ ७ ॥

अर्थ—हे महाराज ! वह वीर सब इकट्ठे वहां वास करते हुए क्रम से नैमिषारण्य में आए ॥ १ ॥ तब गोमती के पुण्यतीर्थों में, कालकोटी में, और विषमस्थ पर्वत में वास करके बाहुदा में आ स्नान किया ॥ २—३ ॥ हे महाराज तिस पीछे वह सत्य प्रतिज्ञा वाले प्रयाग में आए, जो देवताओं का देवयजन है, जहां गंगा यमुना का संगम है ॥ ४ ॥ तिस पीछे हे भारत वह पाण्डव ब्राह्मणों सहित प्रजापति की वेदी पर गए, जहां बहुत तपस्वीजन रहते हैं ॥ ५ ॥ हे महातेजस्विन् ! तिस पीछे वह धर्मज्ञ पुण्यात्मा राजऋषि गय से सजाए हुए पर्वत पर गए ॥ ६ ॥ जहां गय शिर पर्वत और एक पवित्र बड़ी नदी है । वहां उन पाण्डव वीरों ने चातुर्मास्य यज्ञ किया ॥ ७ ॥

मूल—ततः संप्रस्थितो राजा कौन्तेयो भूरिदक्षिणः । अगस्त्याश्रम मासाद्य दुर्जयाया मुवास ह ॥ ८ ॥ ततः प्रयातः कौन्तेयः क्रमेण भरतर्षभ । नन्दामपरनन्दां च नद्यौ पापभयापहे ॥ ९ ॥ पर्वतं स समासाद्य हेमकूट मनामयम् । जगाम कौशिकीं पुण्यां रम्यां शीतजलां शुभाम् ॥ १० ॥ लोमश उवाच—विश्वामित्राश्रमो रम्य एष चात्र प्रकाशते । आश्रमश्चैव पुण्याख्यः

काश्यपस्य महात्मनः ॥ ११ ॥ ऋश्यशृङ्गः सुतो यस्य तपस्वी संयतेन्द्रियः । तपसो यः प्रभावेण वर्षयामास वासवम् ॥ १२ ॥

अर्थ—तब बड़ी दक्षिणा वाला युधिष्ठिर अगस्त्य के आश्रम में पहुंच दुर्जया नगरी में रहा ॥ ८ ॥ उस से पीछे हे भरतवर ! पाप भय के दूर करनेवाली नन्दा और अपरनन्दा नदियों को गया ॥ ९ ॥ फिर सुखदायी हेमकूट पर्वत पर पहुंच कर पवित्र सुहावनी शीतलजलवाली कौशिकी नदी की ओर गया ॥१०॥ लोमश बोले—यह यहां विश्वामित्र का आश्रम है, और यह महात्मा काश्यप (काश्यप गोत्री विभांडक) का पुण्य आश्रम है ॥ ११ ॥ जिस का ऋष्य शृंग तपस्वी जितेन्द्रिय पुत्र हुआ है, जिस ने तप के प्रभाव से वर्षा कराई थी ॥१२॥

मूल—ततः प्रयातः कौशिक्याः पाण्डवो जनमेजय । आनुपूर्व्येण सर्वाणि जगामायतनान्यथ ॥ १३ ॥ स सागरं समासाद्य गंगायाः संगमे नृप । नदी शतानां पञ्चानां मध्ये चक्रे समाप्लवम् ॥ १४ ॥ ततः समुद्रतीरेण जगाम वसुधाधिपः । भ्रातृभिः सहितो वीरः कलिंगान् प्रति भारत ॥ १५ ॥ ततः कृतस्वस्त्ययनो महात्मा युधिष्ठिरः सागरमभ्यगच्छत् । गच्छन् स तीर्थानि महानुभावः पुण्यानि रम्याणि ददर्श राजा ॥ १६ ॥ सर्वाणि विप्रैरुपशोभितानि क्वचित् क्वचिद् भारत सागरस्य । द्विजाति मुख्येषु धनं विसृज्य गोदावरीं सागरगामगच्छत् ॥ १७ ॥ ततो विपाप्मा द्रविडेषु राजन् समुद्र मासाद्य च लोक पुण्यम् । अगस्त्यतीर्थं च महापवित्रं नारीतीर्थान्यथ वीरो ददर्श ॥ १८ ॥

अर्थ—हे जनमेजय ! तब पाण्डव कौशिकी नदी से होकर क्रम से अगले सारे आश्रमों को गए ॥ १३ ॥ सागर पर पहुंच

कर गंगा के संगम पर ५०० नदियों के मध्य में स्नान किया ॥ १४ ॥ हे भारत! तब वीर राजा भाइयों सहित समुद्र के किनारे २ कलिंगों को गया ॥ १५ ॥ तिस पीछे ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन किये जाने पर महात्मा युधिष्ठिर सागर को गया। और वहां समुद्र के किसी २ स्थान में बड़े सुहावने तीर्थ देखे, जो सब ब्राह्मणों से शोभायमान थे, वहां ब्राह्मणों को बहुतसा धन देकर समुद्र तक जाने वाली गोदावरी पर गए ॥१७॥ तब हे महाराज ! वह शुद्धात्मा द्रविड देश में पवित्र समुद्र पर पहुंच, महापवित्र अगस्त्य तीर्थ और नारी तीर्थों को देखते भए ॥१८॥

मूल—स तानि तीर्थानि च सागरस्य पुण्यानि चान्यानि बहूनि राजन् । क्रमेण गच्छन् परिपूर्ण कामः शूर्पारकं पुण्यतमं ददर्श ॥ १९ ॥ तत्रोदधेः कंचिदतीत्य देशं ख्यातं पृथिव्यां वन माससाद । स तत्र तामग्र्यधनुर्धरस्य वेदीं ददर्शायतपीनबाहुः ॥ २० ॥ ऋचीक पुत्रस्य तपस्वि संघैः समावृतां पुण्यकृदर्चनीयाम् ॥ २१ ॥ स तेन तीर्थेन तु सागरस्य पुनः प्रयातः सह सोदरीयैः। द्विजैः पृथिव्यां प्रथितं महाद्भिस्तीर्थं प्रभासं समुपाजगाम ॥ २२ ॥ तमुग्रमास्थाय तपश्चरन्तं शुश्राव रामश्च जनार्दनश्च। तौ सर्ववृष्णि प्रवरौ ससैन्यौ युधिष्ठिरं जग्मतु राजमीढम् ॥ २३ ॥ ते वृष्णयः पाण्डुसुतान् समीक्ष्य भूमौ शयानान् मलदिग्ध गात्रान् । अनर्हतीं द्रौपदीं चापि दृष्ट्वा सुदुःखिताश्चुक्रुशुरार्त नादम् ॥ २४ ॥ विसृज्य कृष्णं त्वथ धर्मराजा विदर्भराजोपचितां सुतीर्थाम्। जगाम पुण्यां सरितं पयोष्णीं सभ्रातृभृत्यः सह लोमशेन ॥ २५ ॥

अर्थ—क्रम से वह समुद्र तट के और भी बहुत से पवित्र तीर्थों को देखते हुए अपनी कामनाओं को पूरा करते हुए पुण्य-

सम शूर्पारक तीर्थ पर पहुंचे ॥ १९ ॥ वहां समुद्र का कुछ भाग लंघ कर पृथिवी में प्रसिद्ध उस वन में आए, जहां उस विशाल मोटी भुजा वाले ने, धनुर्धारियों में मुखिया ऋचीक पुत्र की वेदी देखी, जिसके चारों ओर तपस्वि जन बैठे थे, और पुण्यात्मा जिसको बड़ा आदर देते थे ॥ २०-२१ ॥ वह समुद्र के तट से फिर अपने भाइयों और द्विजों के साथ आगे चले, और प्रसिद्ध प्रभास तीर्थ पर आए ॥ २२ ॥ वहां उग्रतपस्या में लगे हुए उस को राम और कृष्ण ने सुना, और वह वृष्णिवीर सेना समेत युधिष्ठिर के पास आए ॥ २३ ॥ वृष्णियों ने जब पाण्डवों को भूमि पर लेटे हुए और मलीन अंगों वाले देखा, और द्रौपदी को भी देखा जो कि ऐसी अवस्था के योग्य न थी, तो उन्होंने दुःख से बड़े आर्तनाद किये ॥ १४ ॥ अनन्तर धर्मराज कृष्ण को विदा कर भाई और भृत्यों और लोमश के साथ उस पयोष्णी नदी की ओर गए, जिसे विदर्भराज ने अधिक सुन्दर बना दिया था और जिस के बड़े उत्तम २ घाट थे ॥ २५ ॥

अ० १८ (व० १२१-१४३) तीर्थयात्रा

मूल—स पयोष्ण्यां नरश्रेष्ठः स्नात्वा वै भ्रातृभिः सह । वैदूर्य पर्वतं चैव नर्मदां च महानदीम् ॥ १ ॥ समागमत तेजस्वी भ्रातृभिः सहितोऽनघ ॥ २ ॥ लोमश उवाच—एष शर्यातेर्यज्ञस्य देशस्तात प्रकाशते । सैन्धवारण्य मासाद्य कुल्यानां कुरु दर्शनम् ॥ ३ ॥ आर्चीकपर्वतश्चैव निवासो वै मनीषिणाम् । सदाफलः सदा स्रोतो मरुतां स्थान मुत्तमम् ॥ ४ ॥ एषा सा यमुना राजन् महर्षिगण सेविता । अत्र राजा महेष्वासो मान्धाताऽयजत स्वयम् ॥ ५ ॥

अर्थ—वह नरश्रेष्ठ भाइयों सहित पयोष्णी में स्नान करके वैदूर्य पर्वत और महानदी नर्मदा पर भाइयों सहित गए ॥ १-२॥ लोमश बोले—हे तात यह राजा शर्याति के यज्ञ का स्थान है, अब सैन्धव वन में पहुंच कर कूल्यों का दर्शन कीजिये ॥ ३ ॥ यह आर्चीक पर्वत है, जहां बड़े बुद्धिमान् रहते हैं,जहां सदा फल लगे रहते हैं,सदा झरने बहते हैं,और सुगन्धित वायु चलती है ॥ ४ ॥ यह हे राजन् यमुना है, जो महर्षिगणों से सेवित है, यहां धनुर्धारी राजा मान्धाता ने स्वयं यज्ञ किया था ॥ ५ ॥

मूल—एषा सरस्वती रम्या दिव्या चौघवती नदी। एतद् विनशनं नाम सरस्वत्या विशांपते ॥ ६ ॥ एतद्वै चमसोद्भेदो यत्र दृश्या सरस्वती। एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी ॥ ७ ॥ काश्मीर मण्डलं चैतत् सर्वपुण्य मरिंदम। महर्षिभिश्चाध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥ ८ ॥ एतद् द्वारं महाराज मानसस्य प्रकाशते। एपवातिकपण्डोवै प्रख्यातः सत्यविक्रमः ॥ ९ ॥ वितस्तां पश्य राजेन्द्र शीततोयां सुनिर्मलाम्। एषा मधुविला राजन् समंगा संप्रकाशते ॥ १० ॥ एतत् कर्दमिलं नाम भरतस्याभिषेचनम्। एते कनखला राजन्नृषीणां दयिता नगाः॥११॥ एषा प्रकाशते गंगा युधिष्ठिर महानदी। उशीरबीजं मैनाकं गिरिं श्वेतं च भारत ॥ १२ ॥ समतीतोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पार्थिव। एषा गंगा सप्तविधा राजते भरतर्षभ ॥ १३ ॥ स्थानं विरजसं पुण्यं यत्राग्निर्नित्य मिध्यते। श्वेतं गिरिं प्रवेक्ष्यामो मन्दरं चैव पर्वतम् ॥ १४ ॥

अर्थ—यह सुहावनी, दिव्य प्रवाह वाली सरस्वती नदी है, यह हे राजन् ! सरस्वती का विनशन (लोप होने का स्थान)

है ॥ ६ ॥ यह चमसोद्भेद है, जहां फिर सरस्वती दृश्या होती है, यह परम पवित्र सुहावनी विपाशा नदी है ॥ ७ ॥ हे शत्रुओं के सिधाने वाले यह काश्मीर मण्डल है, जहां महर्षि रहते हैं, इसे भाइयों के साथ देखो ॥ ८ ॥ हे महाराज ! यह मानस सरोवर का द्वार है, यह बड़े पराक्रम वाला प्रसिद्ध वातिक पण्ड है॥ ९॥ हे राजेन्द्र शीतल निर्मल जल वाली इस वितस्ता को देख, हे राजन् यह मधुविला नदी है, यह समंगा नदी है ॥१०॥ यह कर्दमिल स्थान है, जहां भरत का अभिषेक हुआ था, यह ऋषियों के प्यारे कनखल पर्वत हैं ॥ ११ ॥ हे युधिष्ठिर यह महानदी गंगा शोभा पा रही है, हे भारत ! यह उशीरबीज, यह मैनाक और यह श्वेतगिरि है ॥ १२ ॥ हे युधिष्ठिर ! तुम कालशैल को लंघ आए हो, हे भरतवर ! यह सात धारा गंगा शोभा पाती है ॥ १३ ॥ यह पवित्र निर्मल स्थान है, जहां नित्य अग्निहोत्र होता है, अब हम श्वेतगिरि में और मन्दर पर्वत में प्रवेश करेंगे ॥ १४ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—पञ्चवर्षाण्यहं वीरं सत्यसन्धं धनञ्जयम् । यन्न पश्यामि बीभत्सुं तेन तप्ये वृकोदर ॥ १५ ॥ ते वयं तं नरव्याघ्रं सर्वे वीर दिदृक्षवः । प्रवेक्ष्यामो महाबाहो पर्वतं गन्धमादनम् ॥ १६ ॥ ते शूरा स्ततधन्वानः खड्गवन्तोऽमितौजसः । पाञ्चालीसहिता राजन् प्रययुर्गन्धमादनम् ॥ १७ ॥ सरांसि सरितश्चैव पर्वतांश्च वनानि च । वृक्षांश्च बहुलच्छायान् ददृशुर्गिरिमूर्धनि ॥ १८ ॥ नित्यपुष्पफलान् देशान् देवर्षिगणसेवितान् । आत्मन्यात्मान माधाय वीरा मूलफलाशिनः ॥ १९ ॥ चेरु रुच्चावचाकारान् देशान् विषमसंकटान् । पश्य-

न्तो मृग जातानि बहूनि त्रिविधानि च ॥ २० ॥ प्रविशतस्तथ वीरेषु पर्वतं गन्धमादनम् । चण्डवातं महद्वर्षं प्रादुरासीद् विशांपते ॥ २१ ॥ ततो रेणुः समुद्भूतः सपत्रबहुलो महान् । पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव सहसाऽऽवृणोत ॥ २२ ॥ न चापि शेकुस्तत्कर्तुं मन्योऽन्यस्याभि भाषणम् । नचापश्यंस्ततोऽन्योऽन्यं तमसाऽऽवृत चक्षुषः ॥ २३ ॥ द्रुमाणां वातभग्नानां पततां भूतलेऽनिशम् । अन्येषां च महीजानां शब्दः समभवन्महान् ॥ २४ ॥ द्यौःस्वित् पतति किं भूमिर्दीर्यते पर्वतो नुकिम् । इतिते मेनिरे सर्वे पवनेनापि मोहिताः ॥ २५ ॥ ते यथानन्तरान् वृक्षान् वल्मीकान् विषमाणि च । पाणिभिः परिमार्गन्तो भीता वायोर्निलिल्यिरे ॥ २६ ॥ ततः कार्मुक मादाय भीमसेनो महाबलः । कृष्णामादाय संगम्य तस्थावा श्रित्य पादपम् ॥ २७ ॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले–हे भीमसेन ! पांच वर्ष होगए हैं, कि सच्ची प्रतिज्ञा वाले अर्जुन को नहीं देखा है, इस से संतप्त होरहा हूं ॥ १५ ॥ सो हम सब उस वीरवर को देखने के लिये हे महाबाहो ! अब गन्धमादन पर्वत में प्रवेश करेंगे ॥ १६ ॥ तब वड़ बड़े पराक्रमी शूरवीर धनुष चढ़ाए और तलवारें लटकाए हुए द्रौपदी सहित गन्धमादन को गए ॥ १७ ॥ पर्वत की चोटी पर सरोवर, नदियें, टीले, वन और बहुत छाया वाले वृक्ष देखे ॥ १८ ॥ नित्य फूल फलों वाले प्रदेश जहां ऋषिगण और देवगण जो आत्मा में आत्मा को देखते हुए बैठे थे, देखे, और वहां उन वीरों ने फल मूल खाए ॥ १९ ॥ ऊंचे नीचे बिखरे कठिन देशों में भांति २ के मृग समूह देखते हुए विचरने लगे ॥ २० ॥ इस प्रकार जब उन वीरों ने गन्धमादन में प्रवेश किया

ही था, कि प्रचण्ड वायु और बड़ी वर्षा प्रकट हुई ॥ २१ ॥ पहले बड़ी धूल उठी जिसमें पत्ते ही पत्ते भरे थे, उसने एकदम पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौको ढांप लिया ॥ २२ ॥ वह न एक दूसरे के साथ बात करसकते थे, और न ही देख सकते थे, उन की आंखें अन्धेरे से ढप गईं ॥ २३ ॥ आंधी से तोड़े हुए वृक्षों और पत्थरों के लगातार पृथिवी पर गिरने से बड़ा शोर होने लगा ॥ २४ ॥ महा वायु से भ्रमाए हुओं को प्रतीत होने लगा, कि ऊपर से आकाश गिर रहा है, वा पृथिवी वा पर्वत फट रहा है ॥ २५ ॥ वह महावात से डरे हुए हाथों से टटोलते हुए मार्ग के साथ के वृक्षों, मट्टी के ढेरों, और चट्टानों के पीछे छिप रहे ॥ २६ ॥ महाबली भीमसेन धनुष ले कर द्रौपदी को लेकर एक वृक्ष के सहारे खड़ा रहा ॥ २७ ॥

मूल—मन्दीभूते तु पवने तस्मिन् रजसि शाम्यति । महद्भिर्जलधाराघैर्वर्ष मभ्याजगाम ह ॥ २८ ॥ भृशं चटचटाशब्दो वज्राणां क्षिप्यता मिव । ततस्ताश्चञ्चला भासश्चेरुरभ्रेषु विद्युतः ॥ २९ ॥ ततोऽश्मसहिता धाराः संवृण्वन्त्यः समन्ततः । प्रपेतुरनिशं तत्र शीघ्रवात समीरिताः ॥ ३० ॥ तत्र सागरगा आपः कीर्यमाणाः समन्ततः । प्रादुरासन् सकलुषाः फेनवत्यो विशांपते ॥ ३१ ॥ वहन्त्यो वारि बहुलं फेनोडुप परिप्लुतम् । परिसस्रुर्महाशब्दाः प्रकर्षन्त्यो महीरुहान् ॥ ३२ ॥ तस्मिन्नुपरते शब्दे वाते च समतां गते । गते ह्यम्भसि निम्नानि प्रादुर्भूते दिवाकरे ॥ ३३ ॥ निर्जग्मुस्ते शनैः सर्वे समाजग्मुश्च भारत । प्रतस्थिरे पुनर्वीराः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—जब पवन हलका हुआ और धूल दूर हुई, तब मूसलाधार वर्षा आगई ॥ २८ ॥ फैंके जाते हुए वज्रों के शब्द की भांति लगातार चट चट शब्द होने लगा, और मेघों में चञ्चल प्रकाश वाली बिजलियें घूमने लगीं ॥ २९ ॥ फिर शीघ्र वायु से प्रेरी हुई ओलों समेत जलधाराएं चारों ओर गिरने लगीं ॥ ३० ॥ समुद्र को जाने वाले पानी मैले और झाग वाले चारों ओर गिरते दीखने लगे ॥ ३१ ॥ झाग की डौंडियों से भरपूर वहे जल को ढोती हुई, और वृक्षों को खींचती हुई नदियें शोर करती हुई दौड़ने लगीं ॥ ३२ ॥ जब वह शब्द बन्द हुआ और वायु फिर वैसा हुआ, पानी ढलवानों में ढल गया, और सूर्य प्रकट हुआ ॥ ३३ ॥ तब वह सब अपने स्थानों से बाहर निकले और इकट्ठे हुए, फिर वह गन्धमादन पर्वत को गए॥३४॥

अ० १९ (व० १४४-१४६)तीर्थयात्रा

मूल—क्रोशमात्रं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु । पद्भ्या मनुचिता गन्तुं द्रौपदी समुपाविशत् ॥ १ ॥ श्रान्ता दुःख परीता च वात वर्षेण तेन च । सौकुमार्याच्च पाञ्चाली संमुमोह तपस्विनी ॥ २ ॥ तां पतन्तीं वरारोहां भज्यमानां लतामिव । नकुलः समभिद्रुत्य परिजग्राह वीर्यवान् ॥ ३ ॥ तामवेक्ष्य तु कौन्तेयो पर्यदेवयदातुरः ॥ ४ ॥ कथं वेश्मसु गुप्तेषु स्वास्तीर्ण शयनोचिता । शेते निपतिता भूमौ पापस्य मम कर्मभिः ॥ ५ ॥ स्पृश्यमाना करैः शीतैः पाण्डवैश्च मुहुर्मुहुः । सेव्यमाना च शीतेन जलमिश्रेण वायुना ॥ ६ ॥ पाञ्चाली सुखमासाद्य लेभे चेतः शनैः शनैः ॥ ७ ॥ परिगृह्य च तां दीनां कृष्णामजिन संस्तरे। पार्था विश्रा-

मया सुर्लब्ध संज्ञां तपस्विनीम् ॥ ८ ॥

अर्थ—महात्मा पाण्डव अभी एक कोस चले होंगे, कि पाओं से चलने के अयोग्या द्रौपदी बैठगई ॥ १ ॥ थकी हुई, और उस आंधी और वर्षा, द्वारा दुःख से युक्त हुई द्रौपदी, सुकुमारता के कारण मूर्छित होगई ॥ २ ॥ टूटी हुई लता की भांति नीचे गिरती हुई उस सुन्दरी को दौड़ कर वीर्यवान् नकुल ने थाम लिया ॥ ३ ॥ उस को देख कर युधिष्ठिर आतुर हो विलाप करने लगा ॥ ४ ॥ सुरक्षित प्रासादों में उत्तम बिछी शय्या पर सोने वाली यह मुझ पापी के कर्मों से कैसे भूमि पर गिर कर लेटी हुई है ॥ ५ ॥ पाण्डवों के शीतल हाथों से बार २ स्पर्श की हुई, और जल मिश्रित शीत वायु से सेवन की हुई, द्रौपदी सुख लाभ कर, धीरे २ चेतनता को प्राप्त हुई ॥ ६–७ ॥ चेत हुई उस बेचारी दीन द्रौपदी को पकड़ कर मृगचर्म के बिछौने पर लिटाते भए ॥ ८ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—बहवः पर्वता भीम विषमा हिम दुर्गमाः। तेषु कृष्णा महाबाहो कथं नु विचरिष्यति ॥ ९ ॥ भीमसेन उवाच—वहेदनघ सर्वान्नो वचनात् ते घटोत्कचः ॥ १० ॥ भ्रातुर्वचन माज्ञाय भीमसेनो घटोत्कचम्। आदिदेश नरव्याघ्रस्तनयं शत्रु कर्शनम् ॥ ११ ॥ ते त्वाशुगतिभिर्वीरा राक्षसैस्तैर्महाजवैः। उह्यमाना ययुः शीघ्रं महदध्वान मल्पवत् ॥ १२ ॥ तेऽवतीर्य बहून् देशानुत्तरांश्च कुरूनपि। ददृशुर्विविधाश्चर्यं कैलासं पर्वतोत्तमम् ॥ १३ ॥ तस्याभ्याशे तु ददृशुर्नरनारायणाश्रमम्। उपेतं पादपैर्दिव्यैः सदा पुष्प फलोपगैः ॥ १४ ॥ ददृशुस्तां च बदरीं वृत्तस्कन्धां मनोरमाम्। विशालशाखां विस्तीर्णां

मग्निद्युति समन्विताम् ॥ १५ ॥ तामुपेत्य महात्मानः सह तैर्ब्राह्मणर्षभैः । अवतेरुस्ततः सर्वे राक्षसस्कन्धतः शनैः ॥ १६ ॥ ततस्तमाश्रमं रम्यं नरनारायणाश्रितम् । ददृशुः पाण्डवा राजन् सहिता द्विजपुंगवैः ॥ १७ ॥ महर्षिगणसंबाधं ब्राह्मया लक्ष्म्या समन्वितम् । शरण्यं सर्व भूतानां ब्रह्मघोष निनादितम् ॥ १८ ॥ तत्र ते पुरुष व्याघ्रा परमं शौचमास्थिताः । षड्रात्र मवसन् वीरा धनञ्जय दिदृक्षवः ॥ १९ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे भीम आगे पर्वत बहुत हैं, जो बड़े विषम, और बर्फ से दुर्गम हैं, हे महाबाहो ! उन में द्रौपदी कैसे चलेगी ॥ ९ ॥ भीमसेन बोले—हे निष्पाप ! आप की आज्ञा से घटोत्कच हम सब को उठा ले चलेगा ॥ १० ॥ तब भाई की आज्ञा पाकर नरवर भीम ने शत्रुनाशी अपने पुत्र घटोत्कच को आज्ञा दी ॥ ११ ॥ तब वह शीघ्रगामी बड़े वेग वाले उन राक्षसों (घटोत्कच और उसके साथियों) से लंबी बाट को थोड़ी के तुल्य लंघ गए ॥ १२ ॥ वह बहुत से देशों और उत्तर कुरुओं में उतर कर, बड़े आश्चर्य वाले, पर्वतोत्तम कैलास को देखते भए ॥ १३ ॥ उसके निकट उन्होंने नर नारायण का आश्रम देखा, जो सदा फल फूल वाले दिव्य वृक्षों से युक्त था ॥ १४ ॥ और उस बदरी (बेर) को देखा, जिस के कंधे गोल, शाखाएं दूर २ पहुंची हुईं, बड़ी हरी भरी सुहावनी थी ॥ १५ ॥ उस के पास जाकर महात्मा पाण्डव और ब्राह्मण सब राक्षसों के कन्धों से उतर पड़े ॥ १६ ॥ तब पाण्डवों और उन ब्राह्मणों ने मिलकर नरनारायण के उस सुहावने आश्रम को देखा ॥ १७ ॥ जो महर्षिगणों से भरा है, ब्राह्मी शोभा से युक्त है, सब लोगों का शरण

लेने योग्य है, वेद ध्वनि से गूंज रहा है ॥ १८ ॥ वहां वह पुरुष-वर वीर जिनको अर्जुन के देखने की चाह बढ़ रही है, बड़ी पवित्रता के साथ छः रातें रहे ॥ १९ ॥

अ० २० (व० १५८-१६३) तीर्थयात्रा

मूल—ततः किं पुरुषावासं सिद्ध चारण सेवितम्। ददृशुर्हृष्ट रोमाणः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ १ ॥ ते गन्धमादनवनं तन्नन्दन वनोपमम्। विविशुः क्रमशो वीराः शरण्यं शुभकाननम् ॥ २ ॥ शृण्वन्तः प्रीतिजननान् वल्गून् मदकलान् शुभान्। श्रोत्ररम्यान् सुमधुरान् शब्दान् खग मुखेरितान् ॥ ३ ॥ सर्वर्तुफल भाराढ्यान् सर्वर्तु कुसुमोज्ज्वलान्। पश्यन्तः पादपांश्चापि फलभारा वनामितान् ॥ ४ ॥

अर्थ—पीछे उन्होंने गन्धमादन के वह प्रदेश देखे जहां किन्नर, सिद्ध और चारण रहते हैं, उन्हें देख वह बड़े प्रसन्न हुए ॥ १ ॥ फिर वह वीर क्रमशः गन्धमादन के वन में प्रविष्ट हुए, जो सब को शरण देने वाला, नन्दन वन तुल्य, सुहावना वन है ॥ २ ॥ वहां उन्होंने पक्षियों के मुख से निकले, कानों के प्यारे, हृदय को प्रसन्न करने वाले, सुहावने मधुर शब्द सुने ॥ ३ ॥ और वह वृक्ष देखे, जो सब ऋतुओं के फलों से भरे हुए, सब ऋतुओं के फूलों से शोभा वाले, और फलों के भार से झुके पड़ते थे ॥ ४ ॥

मूल—मञ्जुस्वरैर्मधुकरै विरुतान् कमलाकरान्। अपश्यंस्ते नरव्याघ्रा गन्धमादन सानुषु ॥ ५ ॥ कृत्वैव केका मधुरं संगीतं मधुरस्वरम्। चित्रान् कलापान् विस्तीर्य सविलासान् मदालसान्

॥ ६ ॥ मयूरान् ददृशुर्हृष्टान् नृत्यतो वन लालसान् ॥ ७ ॥ सुवर्ण वर्ण कुसुमान् गिरीणां शिखरेषु च । कर्णिकारान् विकसितान् कर्ण पूरानिवोत्तमान् ॥ ८ ॥ तथैव वनराजीनामुदारान् रचितानिव । विराजमानांस्तेऽपश्यं स्तिलकान् तिलकानिव ॥ ९ ॥ एवं क्रमेण ते वीरा वीक्षमाणाः समन्ततः । गन्धवन्त्यथ माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ १० ॥ सरांसि च मनोज्ञानि वृक्षांश्चाति मनोरमान् । विविशुः पाण्डवाः सर्वे विस्मयोत्फुल्ल लोचनाः॥११॥ कमलोत्पल कल्हार पुण्डरीक सुगन्धिना । सेव्यमाना वने तस्मिन् सुखस्पर्शेन वायुना ॥ १२ ॥

अर्थ—गन्धमादन की चोटियों पर कमलों के वह कमल वन देखे, जिन पर मधुर स्वर भौंरे गूंज रहे थे ॥ ५ ॥ और वन के प्यारे मोर मधुर स्वर वाली केका ध्वनि करके, विलास के साथ अपने चित्रविचित्र पुच्छों को फैला कर, अकड़ कर चलते हुए, प्रसन्न हो नाचते हुए देखे ॥ ६–७ ॥ पर्वतों की चोटियों पर सुनहरी फूलों वाले खिले कणेर पुष्प उत्तम कर्णपूरों की भांति देखे ॥ ८ ॥ और तिलक पुष्प मानों वन पंक्तियों के सजाए तिलक से थे ॥ ९ ॥ इस प्रकार क्रम से वह वीर चारों ओर गन्ध वाले पुष्प, रस वाले फल, सुहावने सरोवर, और मनोरम वृक्षों को देखते हुए कमल, उत्पल, कल्हार और पुण्डरीक फूलों से सुगन्धित, सुखदायी स्पर्श वाले वायु से सेवन किये जाते हुए आश्चर्य से खिले हुए नेत्रों वाले वह वीर पाण्डव वन में प्रविष्ट हुए ॥ १०–१२ ॥

मूल—ततो युधिष्ठिरो भीममाहेदं प्रीतिमद्वचः । अहो श्रीमदिदं भीम गन्धमादन काननम् ॥ १३ ॥ भ्रमरारावमधुरा न-

लिनीः फुल्ल पंकजाः। विलोड्यमानाः पश्येमाः करिभिः सकरे-णुभिः ॥ १४ ॥ पश्य भीम शुभान् देशान् देवाक्रीडान् सम-न्ततः। पक्षिणः पुष्पितानेतान् संपतन्ति महाद्रुमान् ॥ १५ ॥ रक्तपीतारुणाः पार्थ पादपाग्रगताः खगाः। वदन्ति मधुरा वाचः सर्वभूत मनोरमाः ॥ १६ ॥ बहुतालसमुत्सेधाः शैलशृंग परि-च्युताः। नाना प्रस्रवणेभ्यश्च वारिधाराः पतन्ति च ॥ १७ ॥

अर्थ–तब युधिष्ठिर भीम से यह प्रेम भरा वचन बोले, हे भीम! यह गन्धमादन वन कैसी आश्चर्य शोभा वाला है॥१३॥ वह देखो हाथी हथिनियों के साथ उन फूले कमलों वाली नल-नियों को तोड़ रहे हैं, जिन पर भौंरे गूंज रहे हैं ॥ १४ ॥ हे भीम चारों ओर देवताओं की क्रीड़ा के शुभ देश देखो, और देखो पक्षी इन फूले हुए वृक्षों पर उड़ कर आरहे हैं ॥ १५ ॥ हे पार्थ! वृक्षों की चोटियों पर बैठे लाल पीले पक्षी सब जीवों को प्यारी लगने वाली मीठी बोलियां बोल रहे हैं ॥ १६ ॥ अनेक तालों के से ऊंचे, पर्वतों की चोटियों से गिरते हुए, भांति२ के झरणों से जलधारा गिर रही हैं ॥ १७ ॥

मूल–शोभयन्ति महाशैलं नानारत्नधातवः। क्वचिद-ञ्जन वर्णाभाः क्वचित् काञ्चन सन्निभाः ॥ १८ ॥ धातवो हरि-तालस्य क्वचिद्धिंगुलकस्य च। मनः शिला गुहाश्चैव सन्ध्याभ्र निकरोपमाः ॥ १९ ॥ गन्धर्वाः सह कान्ताभिर्यथोक्तं वृषपर्वणा। दृश्यन्ते शैल शृंगेषु पार्थ किं पुरुषैः सह ॥२०॥ गीतानां साम-तालानां तथा साम्नां च निःस्वनः। श्रूयते बहुधा भीम सर्वभूत-मनोहरः ॥ २१ ॥ महागंगामुदीक्षस्व पुण्यां देवनदीं शुभाम्। कलहंसगणैर्जुष्टां मृषिकिन्नर सेविताम् ॥२२॥ ते प्रीतमनसः शूराः

प्राप्ता गति मनुत्तमाम् । नातृप्यन् पर्वतेन्द्रस्य दर्शनेन परंतपाः॥२३॥ उपेतमथपाल्यैश्च फलवद्भिश्च पादपैः । आर्ष्टिषेणस्य राजर्षे रा-श्रमं ददृशुस्तदा ॥ २४ ॥

अर्थ-भांति २ के रत्न और धातु महापर्वत को शोभायमान बना रहे हैं, जो कहीं सुरमे के रंग के, और कहीं सुवर्ण के तुल्य हैं ॥ १८ ॥ कहीं हरिताल की धातु है, कहीं हिंगुलक की, और कहीं मनसिल की गुफाएं सन्ध्याकालीन मेघ समूह के सदृश हैं ॥ १९ ॥ स्त्रियों सहित, किन्नरों सहित गन्धर्व पर्वत की चोटि-यों पर दीखते हैं, जैसा कि वृषपर्वा ने बतलाया था ॥ २० ॥ हे भीम ! एक तुल्य ताल वाले गीतों की और साम की ध्वनि सब के मन को हरने वाली प्रायः सुनाई देती है ॥ २१ ॥ इस पवित्र शुभदेवनदी महागंगा को देख, जो कलहंस, ऋषि और किन्नरों से सेवित है ॥ २२ ॥ वही उत्तम गति को पाए प्रसन्न मन हुए वह शत्रुनाशी पाण्डव पर्वतराज को देख कर तृप्त नहीं होते हैं ॥ २३ ॥ फिर वह पुष्पों और फल वाले वृक्षों से युक्त राज ऋषि देवापि (ऋष्टिषेण के पुत्र) के आश्रम को देखते भए ॥ २४ ॥

अ०२१ (व० १६४-१७७) अर्जुन का समागमन

मूल-उषित्वा पञ्चवर्षाणि सहस्राक्ष निवेशने । अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि विबुधेश्वरात् ॥ १ ॥ आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्य मथ वैष्णवम् । ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः ॥ २ ॥ यमस्य धातुः सवितुस्त्वष्टुर्वैश्रवणस्य च । तानि प्राप्य सहस्राक्षादभिवाद्य शतक्रतुम् ॥ ३ ॥ अनुज्ञातस्तदा तेन

कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् । आगच्छदर्जुनः प्रीतः प्रहृष्टो गन्धमादनम् ॥ ४ ॥ धनञ्जयो वज्रधरप्रभावः श्रिया ज्वलन् पर्वतमाजगाम । धौम्यस्य पादावभिवाद्य धीमानजातशत्रोस्तदनन्तरं च ॥५॥ वृकोदरस्याप्यभि वन्द्यपादौ माद्रीसुताभ्या मभिवादितश्चाससमेत्य कृष्णां परिसान्त्व्यचैनां प्रह्वोऽभवद्भ्रातुरुपह्वरेसः॥६॥ बभूव तेषां परमः प्रहर्षस्तेनाप्रमेयेण समागतानाम् । सचापि तान् प्रेक्ष्य किरीटमाली ननन्द राजान मभिप्रशंसन् ॥ ७ ॥ ततः स तेषां कुरुपुंगवानां तेषां च सूर्याग्नि समप्रभाणाम् । विमर्षभाणा मुपाविश्य मध्ये सर्वं यथावत् कथयां बभूव ॥ ८ ॥

अर्थ—अर्जुन इन्द्र के भवन में पांच वर्ष रह कर, और इन्द्र से सारे दिव्य अस्त्र सीख कर अर्थात् आग्नेय, वारुण, सौम्य, वायव्य, वैष्णव, ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म, प्राजापत्य, याम्य, धात्र, सावित्र, त्वाष्ट्र, कौबेर, इन सब अस्त्रों को इन्द्र से सीख कर और इन्द्र को अभिवादन करके, इन्द्र से अनुज्ञा पाय, उस की प्रदक्षिणा करके प्रसन्न हुआ और आनन्द से भरा हुआ गन्धमादन में आया ॥ १—४ ॥ इन्द्र तुल्य प्रभाव वाला अर्जुन कान्ति से चमकता हुआ पर्वत पर आया, पहले उस बुद्धिमान् ने धौम्य की, तदनन्तर अजात शत्रु की, चरणवन्दना की ॥ ५ ॥ भीम के भी चरण छुए, और माद्री पुत्रों ने उस को अभिवादन किया, फिर वह द्रौपदी के पास आया, और उस को धीरज बंधा कर, नम्र हो भाई के पास बैठ गया ॥ ६ ॥ उस अप्रमेय बल वाले के साथ मिल कर उन को बड़ा हर्ष हुआ, और अर्जुन भी उन को मिल कर बड़ा आनन्दित हुआ और धर्मराज की प्रशंसा की ॥ ७ ॥ तदनन्तर उसने उन

कुरुवरों के और सूर्य अग्नि तुल्य प्रभा वाले ब्राह्मणों के मध्य में बैठ कर अपनी सारी कथा यथावत् कही ॥ ८ ॥

मूल—समेत्य पार्थेन यथैकरात्र मूषुः समास्तत्र तदा चतस्रः। पूर्वाश्च षट् ता दश पाण्डवानां शिवा बभूवुर्वसतां वनेषु ॥ ९ ॥ तान् प्रस्थितान् प्रीतमना महर्षिः पितेव पुत्राननु शिष्य सर्वान् । स लोमशः प्रीतमना जगाम दिवौकसां पुण्यतमं निवासम् ॥१०॥ तीर्थानि रम्याणि तपोवनानि महांति चान्यानि सरांसि पार्थाः । संपश्यमानाः प्रययुर्नराग्र्याः स्थलानि निम्नानि च तत्र तत्र॥११॥ चीनांस्तुषारान् दरदांश्च सर्वान् देशान् कुलिन्दस्य च भूरिरत्नान् । अतीत्य दुर्गं हिमवत्प्रदेशं पुरं सुबाहोर्ददृशु र्नृवीराः॥१२॥ विशाखयूपं समुपेत्य चक्रुस्तदा निवासं पुरुष प्रवीराः । शिवेन पार्था मृगया प्रधानाः संवत्सरं तत्र वने विजह्रुः ॥ १३ ॥ ते द्वादशं वर्ष मुपोपयातं वने विहर्तुं कुरवः प्रतीताः । तस्माद्वनाच्चैत्ररथ प्रकाशाद सरस्वतो द्वैतवनं प्रतीयुः ॥ १४ ॥

अर्थ—अब अर्जुन के साथ मिल कर वह वहां चार वर्ष एक रात की भांति रहे । पहले छः और यह चार इस प्रकार दस वर्ष उन को वनों में रहते हुए अच्छे बीत गए ॥ ९ ॥ अब जब चलने को तय्यार हुए, तब प्रसन्न मन महार्षि लोमश, पिता जैसे पुत्रों को शिक्षा देते हैं, इस प्रकार शिक्षा देकर, स्वयं प्रसन्न मन हुए देवताओं के पवित्र निवास को चले गए॥ १० ॥ और पाण्डव अनेक तीर्थ, सुहावने तपोवन, बड़े २ सरोवर, और वहां ऊंचे नीचे स्थानों को देखते हुए गए ॥ ११ ॥ चीन, तुषार, दरद देशों को, और कालिन्द की रत्न भूमियों को, और हिमालय के दुर्गम प्रदेश को लंघ कर वह नरवीर राजा

सुबाहु के पुर में आए ॥ १२ ॥ तब वह पुरुषवीर विशाखयूप वन में पहुंच कर रहने लगे, और आखेट करते हुए आनन्द से एक वर्ष इस वन में रहे ॥ १३ ॥ जब बारहवां वर्ष लगा, तब विश्वस्त हुए वह कुरुवंशी चैत्ररथ के सदृश उस वन से फिर द्वैत वन की ओर लौटे ॥ १४ ॥

अ० २२ (व० १८२) वर्षा और शरत्

मूल—निदाघान्तकरः कालः सर्वभूतसुखावहः । तत्रैव वसतां तेषां प्रावृट् समभिपद्यत ॥ १ ॥ छादयन्तो महाघोषाः खंदिशश्च बलाहकाः । प्रववर्षुर्दिवारात्रं मालिताः सततं तदा ॥ २ ॥ विरूढशष्पा धरणी मत्तदंश सरीसृपा । बभूव पयसा सिक्ता शान्ता सर्व मनोरमा ॥ ३ ॥ क्षुब्ध तोया महावेगाः श्वसमाना इवाशुगाः । सिन्धवः क्षोभयांचक्रुः काननानि तपात्यये॥४॥ नदतां काननान्तेषु श्रूयन्ते विविधाः स्वनाः। वृष्टिभिश्छाद्यमानानां वराह मृगपक्षिणाम् ॥ ५ ॥ स्तोककाः शिखिनश्चैव पुंस्कोकिल गणैः सह । मत्ताः परिपतन्तिस्म दर्दुराश्चैव दर्पिताः ॥६॥ तथा बहुविधाकारा प्रावृण्मेघानुनादिता । अभ्यतीता शिवा तेषां चरतां मरुधन्वसु ॥ ७ ॥

अर्थ—उनके वहां ही रहते हुए गर्मी का अन्त करने वाली और सब प्राणियों के लिये सुख लाने वाली बरसात प्रवृत्त हुई ॥ १ ॥ बड़ी ध्वनि वाले काले मेघ आकाश और दिशाओं को आच्छादन करके, दिन रात वर्षा करने लगे॥ २ ॥ पृथिवी पर घास उग आए, डांस और सांप मत्त होकर फिरने लगे, पृथिवी जल के छिड़काव से ठंडी और सब के लिये सुहा-

बनी बन गई ॥ ३ ॥ नदियों के जल क्षोभ में आगए, वेग बढ़ गए, उछलती हुई शीघ्र चलने लगीं, और उन्होंने वन सुहावने बना दिये ॥ ४ ॥ वनों में वृष्टि से ढके हुए गर्जते हुए सूअर मृग और पक्षियों की भांति २ की ध्वनियें सुनाई देने लगीं ॥ ५ ॥ पपीहे, मोर और कोइल मस्त हुए फिरने लगे, और मेंडक दर्प में आए ॥ ६ ॥ इस प्रकार मरुभूमि में फिरते हुए उन को भांति २ के रूपों वाली, मेघों से ध्वनि वाली, बरसात बीती ॥ ७ ॥

मूल–रूढकक्षवनप्रस्था प्रसन्नजलनिम्नगा । विमलाकाश नक्षत्रा शरत् तेषां शिवाऽभवत् ॥ ८ ॥ कुमुदैः पुण्डरीकैश्च शीतवारिधराः शिवाः। नदीः पुष्करिणीश्चैव ददृशुः समलंकृताः॥९॥ ते वै मुमुदिरे वीराः प्रसन्नसलिलां शिवाम् । पश्यन्तो दृढ धन्वानः परिपूर्णां सरस्वतीम् ॥ १० ॥ तेषां पुण्यतमा रात्रिः पर्वसन्धौ स्म शारदी । तत्रैव वसतामासीत् कार्तिकी जनमेजय ॥ ११ ॥ तमिस्राऽभ्युदये तस्मिन् धौम्येन सह पाण्डवाः । सूतैः पौरोगवैश्चैव काम्यकं प्रययुर्वनम् ॥ १२ ॥

अर्थ–अनन्तर कल्याणदायिनी शरद ऋतु आई, वनों के प्रदेश काशों से ढक गए, नदियों के जल निर्मल होगए, और आकाश तथा तारे निर्मल होगए ॥ ८ ॥ पोखर और नदियें शीतल जल वाली, कुमुद कमलों से भरी हुई सुहावनी दीखने लगीं ॥ ९ ॥ वे दृढ धनुषों वाले वीर निर्मल जल वाली भरी हुई सुहावनी सरस्वती को देख कर आनन्द मनाते भए॥ १० ॥ हे जनमेजय ! शरद काल की पुण्यतमा कार्तिकी पौर्णमासी उन को वहां रहते हुए आई ॥ ११ ॥ अगहन के कृष्णपक्ष के

आरम्भ में धौम्य समेत सारथियों और रसाइयों को संग ले काम्यक वन को चले गए* ॥ १२ ॥

अ०२३(व०२३६-२३८) कर्ण और शकुनि की दुर्योधन को द्वैतवन जाने की प्रेरणा।

मूल—तथा वने तान् वसतः प्रवीरान् स्वाध्यायवन्तश्च तपोधनाश्च। अभ्या ययुर्वेदविदः पुराणास्तान् पूजयामासुरथो नराग्रयाः ॥ १ ॥ ततः कदाचित् कुशलः कथासु विप्रोऽभ्यगच्छद् भुवि कौरवेयान्। स तैः समेत्याथ यदृच्छयैव वैचित्रवीर्यं नृपमभ्यगच्छत् ॥ २ ॥ अथोपविष्टः प्रतिसत्कृतश्च वृद्धेन राज्ञा कुरुसत्तमेन। प्रचोदितः संकथयां बभूव धर्मानिलेन्द्रप्रभवान् यमौ च ॥ ३ ॥ कृष्णांश्च वातातपकर्शितांगान् दुःखस्य चोग्रस्य मुखेप्रपन्नान्। तां चाप्यनाथामिव वीर नाथां कृष्णां परिक्लेशगुणेनयुक्ताम् ॥ ४ ॥ ततः कथास्तस्य निशम्य राजा वैचित्रवीर्यः कृपयाऽभितप्तः। प्रोवाच दैन्याभि हतान्तरात्मा निःश्वासवातोपहतस्तदानीम् ॥ ५ ॥ कथंनु सत्यःशुचिरार्यवृत्तो श्रेष्ठः सुतानां मम धर्मराजः। अजातशत्रुः पृथिवीतले स्म शेते पुरा रांकवकूटशायी ॥ ६ ॥ कृतं मताक्षेण यथा न साधु साधुप्रवृत्तेन च पाण्डवेन। मया च दुष्पुत्र वशानुगेन कृतः कुरूणामय मन्तकालः ॥ ७ ॥

अर्थ—इस प्रकार जब वह वीरवर लौट कर फिर वन में रहने लगे, वहां वेदवेत्ता, तपस्वी, स्वाध्याय वाले वही पहले ब्राह्मण फिर उन के पास आए, और इन वीरवरों ने उन की पूजा की ॥ १ ॥ वहां कभी एक ब्राह्मण जो कथाओं में लोक प्रसिद्ध था, उन के पास आया, और उन से मिल कर यदृच्छा से

---

*अगली कथा फिर द्वैतवन से सम्बन्ध रखती है, यह निर्णेतव्य है, कि वह प्रक्षिप्त है, वा असली ?

ही फिर वह राजा धृतराष्ट्र के पास गया ॥ २ ॥ वृद्ध राजा ने उसे आदर पूर्वक बिठलाया, और पूछा, तब उसने बतलाया, कि युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन नकुल और सहदेव ॥ ३ ॥ वायु और धूप से उन के शरीर दुबले होगए हैं, और बड़ी विपत्ति के मुख में पड़े हुए हैं, और वह द्रौपदी भी वीरनाथवाली होकर अनाथा की भांति बड़े क्लेश से युक्त है ॥ ४ ॥ राजा धृतराष्ट्र उस की बातें सुन कर कृपा से बड़ा संतप्त हुआ, और शोक से चोट दिये मन वाला, लंबा सांस भर कर बोला ॥ ५ ॥ हाय ! वह सत्य पर चलने वाला, शुद्धात्मा, आर्याचरण वाला, मेरे पुत्रों में श्रेष्ठ अजातशत्रु धर्मराज कैसे भूमितल पर लेटता होगा, जो कि पहले पश्मीने के गदेलों पर लेटता था॥६॥ शकुनि ने भला काम नहीं किया, और भलाई में प्रवृत्त युधिष्ठिर ने भी ठीक न किया (जो जुआ खेला), और मैंने दुष्पुत्र के वश में पड़ कर कुरुओं का यह अन्तकाल उत्पन्न कर दिया है ॥ ७ ॥

मूल—धृतराष्ट्रस्य तद्वाक्यं निशम्य शकुनिस्तदा । दुर्योधन मिदं काले कर्णेन सहितोऽब्रवीत् ॥ ८ ॥ प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च प्रतीच्यो दीच्य वासिनः । कृताः करप्रदाः सर्वे राजानस्ते नराधिप ॥ ९ ॥ येः स्म ते नाद्रियेताज्ञा न च ये शासने स्थिताः । पश्यामस्तान् श्रिया हीनान् पाण्डवान् वन वासिनः ॥ १० ॥ श्रूयते हि महाराज मरो द्वैतवनं प्रति । वसन्तः पाण्डवाः सार्धं ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ॥ ११ ॥ स प्रयाहि महाराज! श्रिया परमया युतः । तापयन् पाण्डुपुत्रांस्त्वं रश्मिमानिव तेजसा॥१२॥ स्थितो राज्ये च्युतान् राज्याच्छ्रिया हीनाञ्छ्रिया वृतः । असमृ-

द्धान् समृद्धार्थः पश्य पाण्डु सुतान् नृप ॥ १३ ॥ यां श्रियं सुहृदश्चैव दुर्हृदश्च विशांपते । पश्यन्ति पुरुषे दीप्तां सा समर्था भवत्युत ॥ १४ ॥ समस्थो विषमस्थान् हि दुर्हृदो योऽभिवीक्षते । जगतीस्थानिवाद्रिस्थः किमतः परमं सुखम् ॥ १५ ॥

अर्थ—धृतराष्ट्र के वचन को सुन कर शकुनि कर्ण के साथ दुर्योधन से जा कर यह बोला ॥ ८ ॥ हे महाराज ! पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर के सभी राजे आप के करप्रद (कर देने वाले) होगए हैं ॥ ९ ॥ जो तेरी आज्ञा का अनादर करने वाले तेरे शासन में न रहने वाले थे, उन पाण्डवों को अब हम श्री से हीन हुए वनवासी देखते हैं ॥ १० ॥ सुनते हैं हे महाराज ! पाण्डव द्वैत वन में वनवासी ब्राह्मणों के साथ रहते हैं ॥ ११ ॥ सो हे महाराज ! आप परम लक्ष्मी से युक्त हुए सूर्य के सदृश तेज से पाण्डवों को तपाने के लिये वहां चलें ॥ १२ ॥ राज्य में स्थित हुए आप राज्य से हीनों को, लक्ष्मी से युक्त हुए आप लक्ष्मी से हीनों को, पूर्ण मनोरथों वाले, निष्फल मनोरथों वालों को चल कर देखें ॥ १३ ॥ पुरुष में अपनी शोभा दिखलाती हुई जिस लक्ष्मी को सुहृद् और दुर्हृद देखते हैं, वही सफल होती है ॥१४॥ पर्वत के ऊपर खड़े होकर नीचे के लोगों को देखने की भांति जो ऊंची अवस्था में स्थित हुआ शत्रुओं को संकट में पड़े हुए देखना है, इस से परे क्या सुख होगा ॥ १५ ॥

मूल—दुर्योधन उवाच—ब्रवीषि यदिदं कर्ण सर्वं मनसि मे स्थितम् । न त्वभ्यनुज्ञां लप्स्यामि गमने यत्र पाण्डवः ॥ १६ ॥ परिदेवति तान् वीरान् धृतराष्ट्रो महीपतिः । मन्यतेऽभ्यधिकांश्चापि तपो योगेन पाण्डवान् ॥ १७ ॥ न हि द्वैतवने किञ्चिद्

विद्यतेऽन्यत् प्रयोजनम् । उत्सादन मृते तेषां वनस्थानां महा-
भुजे ॥ १८ ॥ ममापि हि महान् हर्षो यदहं भीमफाल्गुनौ ।
क्लिष्टौ वरण्य पश्येयं कृष्णया सहिताविति ॥ १९ ॥ यदि मां
धर्मराजश्च भीमसेनश्च पाण्डवः । युक्तं परमया लक्ष्म्या पश्यतां
जीवितं भवेत ॥ २० ॥ उपायं न तु पश्यामि येन गच्छेम तद्व-
नम् । यथा चाभ्यनुजानीयाद् गच्छन्तं मां महीपतिः ॥ २१ ॥
स सौबलेन सहितस्तथा दुःशासनेन च । उपायं पश्य निपुणं
येन गच्छेम तद् वनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—दुर्योधन बोले–हे कर्ण ! जो कुछ तुम कहते हो, वह सब मेरे मन में है, किन्तु वहां जाने की आज्ञा नहीं मिलेगी, जहां युधिष्ठिर है ॥ १६ ॥ राजा धृतराष्ट्र उन वीरों के लिये विलाप करते हैं, और सहलेने के कारण उन को हमसे अच्छा मानते हैं ॥ १७ ॥ और हे तेजस्विन् ! द्वैतवन में (जाने का) हमारा कोई और प्रयाजन नहीं, सिवाय इसके कि उन वनवासियों को उखाड़ना. (यही राजा को जचेगा) ॥ १८ ॥ मुझे भी यह बड़ा हर्ष है, कि भीम अर्जुन और द्रौपदी को वन में क्लेश उठाते देखूं ॥ १९ ॥ यदि युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मुझे परम लक्ष्मी से युक्त देखें, तो मेरा जीना हो ॥ २० ॥ पर कोई उपाय नहीं देखता हूं, जिस से उस वन में जाएं, जैसे कि महीपति मुझे जाने की आज्ञा देवे ॥ २१ ॥ सो आप शकुनि और दुःशासन के साथ मिल कर कोई ऐसा उत्तम उपाय ढूंढें, जिस से हम उस वन में जासकें ॥ २२ ॥

मूल—तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे जग्मु रावसथान् प्रति । व्युषितायां रजन्यां तु कर्णो राजानमभ्ययात् ॥ २३ ॥ उपायः

परिदृष्टोऽयं तन्निबोध जनेश्वर। घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ॥ २४ ॥ घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः। एवं च त्वां पिता राजन् समनुज्ञातु मर्हति ॥ २५ ॥ ततः प्रहसिताः सर्वे तेऽन्योऽन्यस्य तलान् ददुः। तदेव च विनिश्चित्य ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ २६ ॥

'तथास्तु' कह कर वह सब अपने २ घरों को गए, रात बीतने पर कर्ण दुर्योधन से आकर बोला ॥ २३ ॥ यह उपाय हमने सोचा है, हे राजन्! इसे समझिये, हे राजन्! द्वैतवन में सारे घोष (ग्वालों के ग्राम) हैं वह आप की प्रतीक्षा करते होंगे ॥ २४ ॥ सो घोषयात्रा के बहाने से हम जासकेंगे यह निश्चित है, इस प्रकार हे राजन्! तुझे पिता आज्ञा देदेंगे ॥२५॥ तब वह सब ठह ठह हंस कर एक दूसरे को हाथ देते भए, और यही निश्चयकरके युधिष्ठिर के पास गए ॥ २६ ॥

अ० २४ (व० २३९-२४०) दुर्योधन की घोष यात्रा

मूल—ततस्तैर्विहितः पूर्वं समंगो नाम वल्लवः। समीपस्थास्तदा गावो धृतराष्ट्रे न्यवेदयत ॥ १ ॥ अनन्तरं च राधेयः शकुनिश्च विशांपते। आहतुः पार्थिवश्रेष्ठं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ २ ॥ रमणीयेषु देशेषु घोषाः सम्प्रति कौरव। स्मारणे समयः प्राप्तो वत्सानामपि चांकनम् ॥ ३ ॥ मृगया चोचिता राजन्नस्मिन् काले सुतस्य ते। दुर्योधनस्य गमनं समनुज्ञातु मर्हसि ॥ ४ ॥ धृतराष्ट्र उवाच—ते तु तत्र नरव्याघ्राः समीप इति नः श्रुतम्। अतो नाभ्यनुजानामि गमनं तत्र वः स्वयम् ॥ ५ ॥ छद्मना निर्जितास्तेतु कर्शिताश्च महावने। तपोनित्याश्च राधेय

समर्थाश्च महारथाः ॥ ६ ॥ अथ यूयं बहुत्वात् तानभियात कथञ्चन । अनार्यं परमं तत्स्यादशक्यं तच्च वै मतम् ॥ ७ ॥ उषितो हि महाबुद्धिरिन्द्र लोके धनञ्जयः । दिव्यान्यास्त्राण्य वाप्याथ ततः प्रत्यागतो वनम् ॥ ८ ॥ अथवा सैनिकाकेचिदपकुर्युर्युधिष्ठिरम्। तदबुद्धि कृतं कर्म दोषमुत्पादयेच्च वः ॥ ९ ॥ तस्माद् गच्छन्तु पुरुषाः स्मारणायाप्तकारिणः । न स्वयं तत्र गमनं रोचये तव भारत ॥ १० ॥

अर्थ—तब उनसे आज्ञा दिये सपंग ग्वालेने धृतराष्ट्र के पास जा निवेदन किया, कि गौएं आजकल यहां से निकट हैं ॥ १ ॥ और पीछे अर्जुन और शकुनि राजवर धृतराष्ट्र से बोले ॥ २ ॥ हे महाराज ! घोष आज कल बड़े सुहावने स्थानों में हैं, और उन के स्मारण (गिनती आदि लिखने) और बछड़ों के अंकन (चिन्ह लगाने) का समय भी है ॥ ३ ॥ और इस समय हे राजन् ! आप के पुत्र को आखेट भी उचित है, इस लिये दुर्योधन का जाना स्वीकार कीजिये ॥ ४ ॥ धृतराष्ट्र बोले—किन्तु वह नरवर (पाण्डव) भी वहीं निकट हैं, यह सुना है, इस लिये मैं तुम्हें स्वयं वहां जाने की अनुज्ञा नहीं देता हूं ॥ ५ ॥ हे कर्ण ! धोखे से उन को हराया गया है, महावन में कष्ट उठा रहे हैं, और तपप्रधान हैं, वह महारथी समर्थ हैं ॥ ६ ॥ यदि तुम बहुत होने से उन पर चढ़ाई करो, तो यह सब से बढ़ कर अनार्य कर्म होगा, और यह मैं समझता हूं, है भी अशक्य ॥ ७ ॥ महाबुद्धि अर्जुन इन्द्रलोक में वास करके दिव्य अस्त्र प्राप्त करके, वहां से वन को लौट आया है ॥ ८ ॥ अथवा तुम्हारे सैनिकों में से कोई युधिष्ठिर का अपमान कर

बैठे, तो यह बे समझी का काम तुम्हारे लिये बड़ा दोष उत्पन्न करदे ॥ ९ ॥ इस लिये स्मारण के अर्थ तुम्हारे विश्वासी पुरुष जावें, हे भारत ! तेरा स्वयं वहां जाना मुझे पसन्द नहीं है।१०।

मूल-शकुनिरुवाच—मृगयां चैव नो गन्तुमिच्छा संवर्तते भृशम्। स्मारणं तु चिकीर्षामो न तु पाण्डव दर्शनम्॥ ११ ॥ नचानार्य समाचारः कश्चित् तत्र भविष्यति । न च तत्र गमिष्यामो यत्र तेषां प्रतिश्रयः ॥ १२ ॥ एवमुक्तः शकुनिना धृतराष्ट्रो जनेश्वरः। दुर्योधनं सहामात्य मनुजज्ञे न कामतः॥ १३ ॥ अथ दुर्योधनो राजा तत्र तत्र वने वसन्। जगाम घोषानभितस्तत्र चक्रे निवेशनम् ॥ १४ ॥

अर्थ—शकुनि बोला—आखेट खेलने की हमारी कोई बहुत इच्छा नहीं है, किन्तु स्मारण करना चाहते हैं, न कि पाण्डवों का देखना ॥ ११ ॥ वहां कोई अनार्य व्यवहार नहीं होगा, हम वहां नहीं जाएंगे, जहां उनका निवास है ॥ १२ ॥ शकुनि के इस निवेदन पर राजा धृतराष्ट्र ने दुर्योधनको मन्त्रियों समेत जाने की अनुज्ञा तो दे दी, किन्तु रुचि से नहीं॥१३॥ अब राजा दुर्योधन वहां २ निवास करता हुआ दोनों ओर के घोषों में गया, और वहां छावनी डाली ॥ १४ ॥

मूल-ददर्श स तदा गावः शतशोऽथ सहस्रशः। अंकैर्लक्षैश्च ताः सर्वा लक्षयामास पार्थिवः ॥ १५ ॥ अंकयामास वत्सांश्च जज्ञे चोपसृतांस्त्वपि । बालवत्साश्च या गावः कालयामास ता अपि ॥ १६ ॥ अथ स स्मारणं कृत्वा लक्षयित्वा त्रिहायनान्। वृतो गोपालकैः प्रीतो व्याहरत् कुरुनन्दनः ॥ १७ ॥ गोरसानुपयुञ्जान उपभोगांश्च भारत। पश्यन् स रमणीयानि वनान्युप

वनानि च ॥ १८ ॥ अगच्छदानुपूर्व्येण पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १९ ॥

अर्थ–वहां उसने सैंकड़ों सहस्रों गौएं देखीं, चिन्ह और संख्या से उन का मिलान किया ॥ १५ ॥ नए बछड़ों पर चिन्ह दिये, उन में से जो (काम में लाने के लिये) सिधाने योग्य होगए थे, उन का पता लिया, और जो छोटे बछड़ों वाली गौएं थीं, वह भी गिनीं ॥ १६ ॥ इस प्रकार दुर्योधन स्मारण करके, और तीन वर्ष के बछड़ों को (सिधाने के लिये) चिन्ह देकर, ग्वालों से युक्त हुआ प्रसन्न हो घूमने लगा ॥ १७ ॥ गोरस और दूसरे उपभोग भोगता हुआ, रमणीय वन उपवनों को देखता हुआ, क्रमसे पवित्र द्वैतवन सर पर आया ॥ १८–१९ ॥

अ० २५ (व० २४०-२४१) गन्धर्वों और कौरवों का युद्ध

मूल–ततो दुर्योधनः प्रेष्यानादिदेश सहस्रशः । आक्रीडावसथाः क्षिप्रं क्रियन्ता मिति भारत ॥ १ ॥ ते तथेत्येव कौरव्य मुक्त्वा वचन कारिणः । चिकीर्षन्तस्तदाऽऽक्रीडान् जग्मुर्द्वैतवनं सरः ॥ २ ॥ तत्र गन्धर्वराजो वै पूर्वमेव विशांपते । कुबेर भवनाद्राजन्नाजगाम गणावृतः ॥ ३ ॥ तेन तत् संवृतं दृष्ट्वा ते राजपरिचारकाः । प्रतिजग्मुस्ततो राजन् यत्र दुर्योधनो नृपः ॥ ४ ॥ स तु तेषां वचः श्रुत्वा सैनिकान् युद्धदुर्मदान् । प्रेषयामास कौरव्य उत्सारयत तानिति ॥ ५ ॥ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञःसेनाग्रयायिनः । सरो द्वैतवनं गत्वा गन्धर्वानिद मब्रुवन् ॥ ६ ॥ राजा दुर्योधनो नाम धृतराष्ट्र सुतो वशी । विजिहीर्षु रिहायाति तदर्थ मपसर्पत ॥ ७ ॥

अर्थ–तब दुर्योधन ने बहुत से भृत्यों को आज्ञा दी, कि

जल्दी यहां क्रीड़ा गृह बनाओ ॥ १ ॥ वह आज्ञा पर चलने वाले 'बहुत अच्छा' कह कर क्रीडागृह बनाने के लिये द्वैतवन सरोवर को गए ॥ २ ॥ हे महाराज ! वहां पहले ही कुबेर भवन से गन्धर्व राज सेना सहित आया था ॥ ३ ॥ उस राजा से सरोवर को घिरा देख वह राजकर्मचारी वहां लौट गए, जहां राजा दुर्योधन था ॥ ४ ॥ उसने उनकी बात सुन, युद्ध में दुर्मद सैनिकों को भेजा, कि उनको निकालो ॥ ५ ॥ राजा की आज्ञा सुन सेना के अग्रयायी द्वैतवन सर पर जाकर गन्धर्वों से यह बोले ॥ ६ ॥ धृतराष्ट्र के सुत महाबली राजा दुर्योधन यहां विहार के लिये आते हैं, उस के लिये यहां से हट जाओ ॥ ७ ॥

मूल—एवमुक्तास्तु गन्धर्वाः प्रहसन्तो विशांपते । प्रत्यब्रुवंस्तान् पुरुषानिदं हि परुषं वचः ॥ ८ ॥ न चेतयति वो राजा मन्दबुद्धिः सुयोधनः । योऽस्मानाज्ञापयत्येव वैश्यानिव दिवौकसः ॥ ९ ॥ गच्छध्वं त्वरिताः सर्वे यत्र राजा स कौरवः । न चेदद्यैव गच्छध्वं धर्मराज निवेशनम् ॥ १० ॥ ततस्ते प्रहिताः सर्वे दुर्योधन मुपागमन् । अब्रुवंश्च महाराज ! यदूचुः कौरवं प्रति ॥ ११ ॥

अर्थ—ऐसा कहने पर हे राजन् ! गन्धर्व हंसते हुए उन पुरुषों को यह कठोर उत्तर देते भए ॥ ८ ॥ तुम्हारा राजा मन्द बुद्धि सुयोधन होश नहीं रखता, जो हम देवताओं को वैश्यों की भांति आज्ञा देता है ॥ ९ ॥ जाओ जल्दी सब, जहां वह राजा कौरव है, नहीं तो आज ही यमराज के घर पहुंचोगे ॥ १० ॥ तब वह सब दुर्योधन के पास आए, और हे महाराज उन्होंने वह सब कहा, जो गन्धर्वों ने दुर्योधन के विषय में कहा था ॥ ११ ॥

मूल–गन्धर्वैर्वारिते सैन्ये धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् । अमर्षपूर्णः सैन्यानि प्रत्यभाषत भारत ॥ १२ ॥ शासतैनान धर्मज्ञान् मम विप्रियकारिणः । यदि प्रक्रीडते सर्वैर्देवैः सह शतक्रतुः॥१३॥ दुर्योधन वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रा महाबलाः । सर्व एवाभिसन्नद्धास्तद्वनं विविशुर्बलात् ॥ १४ ॥ अनुज्ञाताश्च गन्धर्वाश्चित्रसेनेन भारत । प्रगृहीतायुधाः सर्वे धार्तराष्ट्रा नभिद्रवन् ॥ १५ ॥

अर्थ–गन्धर्वों ने जब सेना को रोका, तो प्रतापी दुर्योधन क्रोध से भरा हुआ सैनिकों से यह बोला ॥ १२ ॥ मेरा विप्रिय करने वाले इन पापियों को दण्ड दो, चाहे इन्द्र भी देवताओं के साथ सैर को आया हो ॥ १३ ॥ दुर्योधन के वचन को सुन कर वह महावली धृतराष्ट्र के जन सभी तय्यार हो कर बल से उस वन में जाघुसे ॥ १४ ॥ उधर चित्रसेन से आज्ञा दिये हुए गन्धर्व शस्त्र उठाय धृतराष्ट्र के जनों की ओर दौड़े॥१५॥

मूल–अथ दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः । दुःशासनो विकर्णश्च ये चान्ये धृतराष्ट्रजाः ॥ १६ ॥ न्यहनंस्तत्सदा सैन्यं कृत्वा कर्ण मथाग्रतः । महता रथ संघेन रथ चारेण चाप्युत ॥ १७ ॥ तदा सुतुमुलं युद्धम भवल्लोम हर्षणम् । ततस्ते मृदवोऽभूवन् गन्धर्वाः शरपीडिताः ॥ १८ ॥ उच्चुक्रुशुश्च कौरव्या गन्धर्वान् प्रेक्ष्य पीड़ितान्॥१९॥गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा चित्रसेनो ह्यमर्षणः । उत्पपाताऽऽसनात् क्रुद्धो वधे तेषां समाहितः ॥ २० ॥ ततो मायास्त्रमास्थाय युयुधे चित्र मार्गवित् । तयाऽमुह्यन्त कौरव्याश्चित्रसेनस्य मायया ॥ २१ ॥

अर्थ–राजा दुर्योधन, सुबल पुत्र शकुनि, दुःशासन, विकर्ण,

तथा धृतराष्ट्र के अन्य पुत्र, कर्ण को सेनानी बना कर बड़े रथ समूह के साथ विचित्र रथ मार्गों मे गन्धर्व सेना को मारने लगे ॥ १६–१७ ॥ उस समय रौंगटे खड़ा करने वाला घमसान का युद्ध हुआ, तब बाणों से पीड़ित हुए गन्धर्व नर्म पड़ गए॥ १८ ॥ गन्धर्वों को पीड़ित देख कौरव गर्जने लगे ॥ १९ ॥ गन्धर्वों को डरा हुआ देख कर न सहारने वाला चित्रसेन क्रोध से भरा हुआ आसन से उठा, और सावधान हो उनके मारने के लिये कूद पड़ा ॥ २० ॥ उस विचित्र मार्गों के जानने वाले ने मायास्त्र का आश्रय ले कर युद्ध करना आरम्भ किया, चित्र-सेन की उस माया से कौरवों में खलबली पड़गई ॥ २१ ॥

मूल—भज्यमानेष्वनीकेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वशः । कर्णो वैक-र्तनो राजंस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ २२ ॥ दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः । गन्धर्वान् योधयामासुः समरे भृश वि-क्षताः ॥ २३ ॥ सर्व एव हि गन्धर्वाः कर्णमभ्यद्रवन् रणे । सूतपुत्रं जिघांसन्तः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २४ ॥ अन्येऽस्य युगम-च्छिन्दन् ध्वजमन्ये न्यपातयन् । ईषामन्ये हयानन्ये सूत मन्ये न्यपातयन् ॥ २५ ॥ ततो रथादवप्लुत्य सूतपुत्रोऽसि चर्मभृत् । विकर्णरथ मास्थाय मोक्षायाश्वान चोदयत् ॥ २६ ॥

अर्थ—दुर्योधन के सैनिक जब सब ओर भागने लगे, तब सूर्यपुत्र कर्ण पर्वत की भांति अचल खड़ा रहा ॥ २२ ॥ दुर्योधन, कर्ण, शकुनि, यह अत्यन्त क्षत विक्षत होकर गन्धर्वों को युद्ध कराते रहे ॥ २३ ॥ तब सारे ही गन्धर्वों ने मिल कर सूत पुत्र कर्ण पर धावा किया, और उसको मारने के लिये चारों ओर से घेर लिया ॥ २४ ॥ किसीने कर्ण के रथ का

जुआ काट डाला, किसीने ध्वजा गिरादी, किसीने धुरी, किसी ने घोड़े, किसीने सूत को गिरा दिया ॥ २५ ॥ तब सूतपुत्र ढाल तलवार लिये रथ से कूद गया, और विकर्ण के रथ पर चढ़ कर अपने बचाव के लिये घोड़ों को हांक ले गया॥ २६॥

अ०२६(व०२४२-२४५)युद्ध में दुर्योधन का बन्धन

मूल—गन्धर्वैस्तु महाराज भग्ने कर्णे महारथे। संप्राद्रवच्चमूः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १ ॥ तान् दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान् धार्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान्। दुर्योधनो महाराजो नासीत् तत्र पराङ्मुखः ॥ २ ॥ तामापतन्तीं संप्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम्। महता शर वर्षेण सोऽभ्यवर्षं दरिंदमः ॥ ३ ॥ अचिन्त्य शरवर्षं तु गन्धर्वास्तस्य तं रथम्। दुर्योधनं जिघांसन्तः समन्तात् पर्य वारयन् ॥ ४ ॥ युगमीषां वरूथं च तथैव ध्वजसारथी। अश्वांस्त्रिवेणुं तल्पं च तिलशोव्यधमञ्छरैः ॥ ५ ॥ दुर्योधनं चित्रसेनो विरथं पतितं भुवि। अभिद्रुत्य महाबाहुर्जीवग्राहमथा ग्रहीत् ॥ ६ ॥ तस्मिन् गृहीते राजेन्द्र स्थितं दुःशासनं रथे। पर्यगृह्णन्त गन्धर्वाः परिवार्य समन्ततः ॥ ७ ॥ विविंशति चित्रसेनात्वादायान्ये विदुद्रुवुः। विन्दानु विन्दावपरे राजदारांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

अर्थ—हे महाराज! जब गन्धर्वों से महारथ कर्ण भाग निकला, तब दुर्योधन के देखते ही सारी सेना भाग निकली॥१॥ उन सब को पीठ दे कर भागते देख कर महाराज दुर्योधन सम्मुख डटा रहा॥ २॥ आती हुई गन्धर्वों की उस बड़ी सेना को देख कर दुर्योधन ने उन पर बड़ी बाण वर्षा की ॥ ३ ॥ दुर्योधन को मारना चाहते हुए गन्धर्वों ने उसके बाणों की वर्षा

की परवाह न करके उस के रथ को चारों ओर से घेर लिया ॥ ४ ॥ उन्होंने (दुर्योधन के रथ के) जुए, डंडा, लोहे का परदा, ध्वजा, सारथि, घोड़े, त्रिवेणु, और बैठक सब टुकड़े २ कर दिये ॥ ५ ॥ तब रथहीन हो भूमि पर गिरे दुर्योधन को महाबाहु चित्रसेन ने दौड़ कर जीता पकड़ लिया ॥ ६ ॥ उस को पकड़ने के पीछे गन्धर्वों ने रथ पर स्थित दुःशासन को चारों ओर से घेर कर पकड़ लिया ॥ ७ ॥ कई विविंशति और चित्रसेन को ले दौड़े, दूसरे विन्द अनु विन्दु को, और रानियों को ले दौड़े ॥ ८ ॥

अर्थ—सेनास्तु धार्तराष्ट्रस्य गन्धर्वैः समभिद्रुताः । शरणं पाण्डवाञ्जग्मुर्ह्रियमाणे महीपतौ ॥ ९ ॥ सैनिका ऊचुः—प्रियदर्शी महाबाहो धार्तराष्ट्रो महाबलः । गन्धर्वैर्ह्रियते राजा पार्थास्तमनु धावत ॥ १० ॥ दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुर्जयस्तथा । वध्वा ह्रियन्ते गन्धर्वै राज दाराश्च सर्वशः ॥ ११ ॥ तांस्तथा व्यथितान् दीनान् भिक्षमाणान् युधिष्ठिरम् । वृद्धान् दुर्योधनामात्यान् भीमसेनोऽभ्यभाषत ॥ १२ ॥ अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् । दुर्मन्त्रितमिदं तावद् राज्ञो दुर्द्यूत देविनः॥१३॥ दिष्ट्या लोके पुमानस्ति कश्चिदस्मत्प्रिये स्थितः । येनास्माकं हृतो भार आसीनानां सुखावहः ॥ १४ ॥ शीतवातातपसहांस्तपसा चैव कर्शितान् । समस्थो विषमस्थान् हि द्रष्टुमिच्छति दुर्मतिः ॥ १५ ॥ अधर्मचारिणस्तस्य कौरव्यस्य दुरात्मनः । ये शील मनुवर्तन्ति ते पश्यन्ति पराभवम् ॥ १६ ॥

अर्थ—गन्धर्व जब दुर्योधन को लिये जारहे थे, उस समय गन्धर्वों से भगाए हुए दुर्योधन के सैनिक पाण्डवों की शरण में

गए ॥ ९ ॥ सैनिक बोले—महाबली प्रियदर्शी दुर्योधन को गन्धर्व लिये जा रहे हैं, हे पाण्डवो ! उन का पीछा करो ॥१० ॥ दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय तथा रानियों को गन्धर्व कैद कर लिये जारहे हैं ॥ ११ ॥ इस प्रकार पीडित और दीन होकर युधिष्ठिर से याचना करते हुए दुर्योधन के वृद्ध मन्त्रियों से भीमसेन बोले ॥ १२ ॥ जो काम हमने करना था, वह गन्धर्वों ने किया है, खोटा जुआ खेलने वाले राजा का यह अपना ही खोटा विचार फला है ॥ १३ ॥ भाग्य से इस लोक में हमारी भलाई में स्थित कोई पुरुष है, जिसने हमारे बैठे बिठाए ही हमारा भार उतार कर सुख दिया है ॥ १४ ॥ अच्छी अवस्था में स्थित दुर्मति दुर्योधन हमें संकट में पड़े हुए, तप से दुर्बल हुए, शीत धूप और आंधियों को (सिर पर) सहते हुए; देखना चाहता है ॥ १५ ॥ उस दुरात्मा अधर्म चारी के आचार पर जो चलेंगे, वह हार देखेंगे ॥ १६ ॥

मूल—एवं ब्रुवाणं कौन्तेयं भीमसेनमपस्वरम् । न कालः परुषस्यायमिति राजाभ्य भाषत ॥१७॥+ भवन्ति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर । प्रसक्तानि च वैराणि ज्ञाति धर्मो न नश्यति ॥१८॥+ यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां बाह्यः प्रार्थयते कुलम् । न मर्षयन्ति तत्सन्तो बाह्येनाभि प्रधर्षणम् ॥ १९ ॥+दुर्योधनस्य ग्रहणाद् गन्धर्वेण बलाद् रणे । स्त्रीणां बाह्याभिमर्शाच्च हतं भवाति नः कुलम् ॥ २०॥+शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं कुलस्य च । उत्तिष्ठत नरव्याघ्राः सज्जी भवत मा चिरम् ॥ २१ ॥+ परस्पर विरोधेतु वयं पञ्चैव ते शतम् । परैः परिभवे प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरं शतम् ॥ २२ ॥

अर्थ—इस प्रकार ऐसा रूखा वचन कहते हुए भीमसेन से राजा (युधिष्ठिर) बोले-वत्स ! यह कठोर वचन का समय नहीं है ॥ १७ ॥ हे भीम ज्ञातियों के भेद भी होते हैं, लड़ाइयां भी होती हैं, और वैर भी चलते हैं, तो भी ज्ञाति की मर्यादा नहीं तोड़ी जाती ॥ १८ ॥ पर जब कोई बाहर का पुरुष अपने ज्ञातियों के किसी भी घर को दबाना चाहता है, तो उस बाहर के पुरुष से अपमान को भले जन नहीं सहारते हैं ॥ १९ ॥ रण में गन्धर्वों के बलात् दुर्योधन को पकड़ ले जाने, और स्त्रियों के अपमान से हमारा कुल नष्ट होता है ॥ २० ॥ शरण में आओं की रक्षा के लिये और कुल की रक्षा के लिये हे नरवरो उठो, तय्यार हो जाओ, देर न करो ॥ २१ ॥ परस्पर के विरोध में तो हम पांच ही हैं, और वह सौ हैं, पर जब पराये से अनादर आता हो, तो हम एक सौ पांच हैं ॥ २२ ॥

मूल—युधिष्ठिर वचः श्रुत्वा भीमसेन पुरोगमाः । प्रहृष्ट वदनाः सर्वे समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ २३ ॥ ते दंशिता रथैः सर्वे ध्वजिनः सशरासनाः । पाण्डवाः प्रत्यदृश्यन्त ज्वलिता इव पावकाः ॥ २४ ॥ ततः कौरव सैन्यानां प्रादुरासीन्महास्वनः । क्षणे नैव वने तस्मिन् समाजग्मु रभीतवत् ॥ २५ ॥ अर्जुन उवाच—उत्सृजध्वं महावीर्यान् धृतराष्ट्रसुतानिमान् । दारांश्चैषां विमुञ्चध्वं धर्मराजस्य शासनात् ॥ २६ ॥ यदा साम्ना न मुञ्चध्वं गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान् । मोक्षयिष्यामि विक्रम्य स्वयमेव सुयोधनम् ॥ २७ ॥ ततः सुतुमुलं युद्धं गन्धर्वाणां तरस्विनाम् । बभूव भीमवेगानां पाण्डवानां च भारत ॥ २८ ॥ अभिक्रुद्धा नभिक्रुद्धो गन्धर्वानर्जुनस्तदा । लक्षयित्वाऽथ दिव्यानि महास्त्राण्युप चक्रमे २९

अर्थ—युधिष्ठिर के वचन को सुन कर भीमसेन आदि सब वीर प्रवर प्रसन्न वदन हुए उठ खड़े हुए ॥ २३ ॥ पाण्डव सारे कवच पहने, धनुषबाण लिये ध्वजा ऊंची किये, रथों पर जलती अग्नियों की भांति दीखने लगे ॥ २४ ॥ तब कौरवों की सेना ने सिंहनाद किया, और निर्भय हो क्षण भर में उस वन में आ पहुंचे ॥ २५ ॥ अर्जुन बोले—हे गन्धर्वो युधिष्ठिर की आज्ञा से इन महावीर धृतराष्ट्र के पुत्रों को छोड़ दो और उनकी स्त्रियों को छोड़ दो ॥ २६ ॥ और यदि नर्मी से धृतराष्ट्र के पुत्रों को न छोड़ो, तो मैं स्वयं पराक्रम के बल से सुयोधन को छुड़ाऊंगा ॥ २७ ॥ तिस पीछे वेग वाले गन्धर्वों का और बड़े वेग वाले पाण्डवों का बड़ा तुमुल युद्ध हुआ ॥ २८ ॥ तब क्रुद्ध हुए अर्जुन ने क्रुद्ध हुए गन्धर्वों को लक्ष्य कर के दिव्य महास्त्र चलाए ॥ २९ ॥

मूल—गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रेण भारत। चित्रसेनो गदां गृह्य सव्यसाचिनमाद्रवत् ॥ ३० ॥ तस्याभि पततस्तूर्णं गदाहस्तस्य संयुगे। गदां सर्वायसीं पार्थः शरैश्चिच्छेद सप्तधा ॥ ३१ ॥ अस्त्राणि तस्य दिव्यानि संप्रयुक्तानि सर्वशः। दिव्यैरस्त्रैस्तदा वीरः सर्वैवारयदर्जुनः ॥ ३२ ॥ स वार्यमाणस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना। गन्धर्वराजो बलवान् माययान्तर्हितस्तदा ॥ ३३ ॥ अन्तर्धानवधं चास्य चक्रे क्रुद्धोऽर्जुनस्तदा। शब्दवेधं समाश्रित्य बहुरूपो धनञ्जयः ॥ ३४ ॥ ततोऽस्य दर्शयामास तदात्मानं प्रियः सखा। चित्रसेनस्ततो वाच सखायं युधि विद्धि माम् ॥ ३५ ॥ संजहारास्त्रमथ तत्प्रसृष्टं पाण्डवर्षभः ॥ ३६ ॥ दृष्ट्वा तु पाण्डवाः सर्वे संहृतास्त्रं धनञ्जयम्। संजह्रुः प्रद्रुतानश्वान् शरवेगान् धनूं-

पि च ॥ ३७ ॥ चित्रसेनश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि । पृष्ट्वा कौशलमन्योऽन्यं रथेष्वेवावतस्थिरे ॥ ३८ ॥

अर्थ—हे भारत गन्धर्वों को अर्जुन से भयभीत हुआ देख कर चित्रसेन गदा लेकर अर्जुन की ओर दौड़ा ॥ ३० ॥ गदा हाथ में लेकर झटपट आते हुए की उस सारी लोहे की गदा को अर्जुन ने अपने बाणों से सात टुकड़े कर दिया ॥ ३१ ॥ और उस से चलाए हुए दिव्य अस्त्रों को वीर अर्जुन ने अपने दिव्य अस्त्रों से रोक दिया ॥ ३२ ॥ महात्मा अर्जुन ने उन अस्त्रों से जब उस को नीचा दिखाया, तो बलवान् गन्धर्वराज माया से छिप गया ॥ ३३ ॥ उस समय अर्जुन ने क्रोध करके शब्द-वेधी बाण जोड़ छिपे हुए को मारने का निश्चय किया ॥ ३४ ॥ तब वह प्यारा मित्र अर्जुन के सामने आगया, और कहा मुझे युद्ध में अपना सखा जान ॥ ३५ ॥ तब पाण्डव वर ने अपने अस्त्र को रोक लिया ॥ ३६ ॥ अर्जुन को अस्त्र रोकता देख सब पाण्डवों ने अपने २ दौड़ते घोड़ों बाण के वेगों और धनुषों को रोक लिया ॥ ३७ ॥ चित्रसेन, भीम अर्जुन नकुल सहदेव आपस में कुशल पूछ कर अपने २ रथों पर खड़े होगए ॥ ३८ ॥

अ० २७ (व० २४६—२५८) दुर्योधन का छुड़ाना

मूल—अर्जुन उवाच—उत्सृज्यतां; चित्रसेन भ्राताऽस्माकं सुयोधनः । धर्मराजस्य संदेशान्मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ १ ॥ चित्रसेन उवाच—पापोऽयं नित्यसंतुष्टो न विमोक्षण मर्हति । प्रल-ब्धा धर्मराजस्य कृष्णायाश्च धनञ्जय ॥ २ ॥ नेदं चिकीर्षितं तस्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । जानाति धर्मराजो हि श्रुत्वा कुरु यथे-

च्छसि ॥ ३ ॥ ते सर्वे एव राजानमभिजग्मुर्युधिष्ठिरम् । अभिगम्य च तत्सर्वं शशंसुस्तस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥ अजातशत्रुस्तच्छ्रुत्वा गन्धर्वस्य वचस्तदा । मोक्षयामास तान् सर्वान् गन्धर्वान् प्रशशंस च ॥ ५ ॥

अर्थ—अर्जुन बोले—हे चित्रसेन ! यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो, तो युधिष्ठिर की आज्ञा से हमारे भाई सुयोधन को छोड़ दो ॥ १ ॥ चित्रसेन बोले—हे अर्जुन ! यह पापी बड़ा अभिमानी धर्मराज के और द्रौपदी के अपमान के लिये आया था, इस लिये यह छोड़ने के योग्य नहीं है ॥ २ ॥ इस की इच्छाओं को धर्मराज युधिष्ठिर नहीं जानते हैं, (उनसे) सुन कर जैसी इच्छा होगी, वैसे करना ॥ ३ ॥ वह सब राजा युधिष्ठिर के पास गए । और जाकर उस की वह सारी चेष्टा राजा युधिष्ठिर को बतलाई ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर ने गन्धर्व के वचन सुन कर उन सब को छुड़ाया, और गन्धर्वों की प्रशंसा की है ।५।

मूल—ततो दुर्योधनं मुक्तं भ्रातृभिः सहितस्तदा । युधिष्ठिरस्तु प्रणयादिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥ मास्म तात पुनः कार्षीरीदृशं साहसं क्वचित् । न हि साहस कर्तारः सुखमेधन्ति भारत ।७। स्वस्तिमान् सहितः सर्वैर्भ्रातृभिः कुरुनन्दन । गृहान् व्रज यथा कामं वैमनस्यं च माकृथाः ॥ ८ ॥ पाण्डवेनाभ्यनुज्ञातो राजा दुर्योधनस्तदा । अभिवाद्य धर्म पुत्रं गतेन्द्रिय इवातुरः ॥ ९ ॥ विदीर्यमाणो व्रीडावान् जगाम नगरं प्रति ॥ १० ॥ तस्मिन् गते कौरवेये कुन्ती पुत्रो युधिष्ठिरः । तथा द्वैतवने तस्मिन् विजहार मुदायुतः ॥ ११ ॥ ततस्ते पाण्डवाः शीघ्रं प्रययुर्धर्म कोविदाः । ददृशुः काम्यकं पुण्य माश्रमं तपसायुतम् ॥ १२ ॥

अर्थ—तब मुक्त हुए दुर्योधन से भाइयों सहित युधिष्ठिर प्रीति से यह वचन बोले ॥ ६ ॥ हे तात! ऐसा कभी साहस न करो, हे भारत! साहस करने वाले सुख से नहीं रहते हैं ॥ ७ ॥ हे कुरुनन्दन! तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम भाइयों सहित घर को जाओ, और मन में कोई खेद न लाना ॥ ८ ॥ युधिष्ठिर से अनुज्ञा दिया राजा दुर्योधन युधिष्ठिर को प्रणाम करके, नगर को गया, उस का हृदय फट रहा था, लज्जा आरही थी, और इन्द्रियहीन की भांति दुःखित होरहा था ॥ १० ॥ उस के चले जाने पर कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर वहीं द्वैतवन में आनन्द से विहार करने लगे ॥ ११ ॥ तब वह धर्मात्मा पाण्डव शीघ्र वहां से चल दिये, और तप से युक्त पवित्र काम्यक वन में आए।१२।

अ० २८ (व० २६४-२६८) द्रौपदी हरण

मूल····काम्यके भरतश्रेष्ठा विजह्रुस्ते यथाऽमराः । पाण्डवा मृगयाशीलाश्चरन्तस्तद् महद् वनम् ॥ १ ॥ ततस्ते यौगपद्येन ययुः सर्वे चतुर्दिशम् । मृगयां पुरुषव्याघ्रा ब्राह्मणार्थे परंतपाः ॥ २ ॥ द्रौपदीमाश्रमे न्यस्य तृणबिन्दोरनुज्ञया । महर्षेर्दीप्ततपसो धौम्यस्य च पुरोधसः ॥ ३ ॥ ततस्तु राजा सिन्धूनां वार्धक्षत्रिर्महायशाः । विवाहकामः शाल्वेयान् प्रयातः सोऽभवत्तदा ॥ ४ ॥ राजभिर्बहुभिः सार्धमुपायात् काम्यकं च सः ॥५॥ तिष्ठन्ती माश्रमद्वारि द्रौपदीं निर्जने वने । विस्मितस्त्वनवद्यांगीं दृष्ट्वा तां दुष्टमानसः ॥ ६ ॥ स कोटिकास्यं राजानमब्रवीत् काममोहितः । गच्छ जानीहि सौम्येमां कस्य वाऽत्र कुतोऽपिवा ॥ ७ ॥

अर्थ—वह भरतवर पाण्डव देवताओं की भांति आनन्द

मनाने लगे, आखेट करते हुए उस वन में चारों ओर घूमते ॥१॥ एक दिन वह शत्रुओं के तपाने वाले पुरुषवर ब्राह्मणों के अर्थ इकट्ठ चारों दिशाओं में आखेट को गए ॥ २ ॥ द्रौपदी को चमकते तप वाले महर्षि तृणबिन्दु की और धौम्य पुरोहित की आज्ञा से आश्रम में ही छोड़ गए ॥ ३ ॥ पीछे सिन्धुदेश का राजा, वृद्धक्षत्र का पुत्र (जयद्रथ) विवाह की इच्छा से शाल्व-देश को जाता हुआ बहुत से राजाओं के साथ काम्यक वन में आया ॥ ४ ॥ वहां निर्जन वन में आश्रम के द्वार पर खड़ी हुई, सुन्दरांगी द्रौपदी को देख कर वह दुष्ट मन वाला विस्मयान्वित हो ॥ ६ ॥ काम से मोहित हुआ कोटिकास्य राजा से बोला 'हे सौम्य ! इस को जानो, यह किस की है, और यहां किस निमित्त आई है" ॥ ७ ॥

मूल—स कोटिकास्यस्तच्छ्रुत्वा रथात् प्रस्कन्द्य कुंडली। उपेत्यपप्रच्छ तदा क्रोष्टा व्याघ्र वधूमिव ॥ ८ ॥ का त्वं कदम्बस्य विनाम्य शाखामेकाऽऽश्रमे तिष्ठसि शोभमाना। अतीव रूपेण समन्विता त्वं न चाप्यरण्येषु बिभेषि किंनु ॥ ९ ॥ अहं तु राज्ञः सुरथस्य पुत्रो यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः। जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते सौवीरराजः सुभगे स एषः ॥ १० ॥ द्रौपद्युवाच— अपत्यमस्मि द्रुपदस्य राज्ञः कृष्णेति मां शैब्य विदुर्मनुष्याः। युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ॥ ११ ॥ ते मां निवेश्येह दिशश्चतस्रो विभज्य पार्था मृगयां प्रयाताः। मन्ये तु तेषां रथसत्तमानां कालोऽभितः प्राप्त इहोपयातुम् ॥ १२ ॥ संमानिता यास्यथ तैर्यथेष्टं विमुच्य वाहानवरोह यध्वम्। प्रियातिथिर्धर्मसुतो महात्मा प्रीतो भविष्यत्यभिवीक्ष्य युष्मान् ॥१३॥

अर्थ–कोटिकास्य यह सुन कर रथ से उतरा, और द्रौपदी के पास जा पूछने लगा, जैसे गीदड़ शेरनी से पूछे ॥ ८ ॥ तू कौन है, जो इस कदम्ब की शाखा को झुका कर शोभा पाती हुई अकेली आश्रम में खड़ी है। तू बड़ी ही रूपवती है, क्या तू जंगलों में डरती नहीं है ॥ ९ ॥ मैं सुरथ का पुत्र हूं, जिस को मनुष्य कोटिकास्य कहते हैं, और वह सौवीरों का राजा जयद्रथ है, यदि तूने सुना है ॥ १० ॥ द्रौपदी बोली–हे शिविवंशियों के राजा मैं राजा द्रुपद की कन्या हूं, जिस को कृष्णा कहते हैं। युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और माद्री के दोनों पुत्र ॥ ११ ॥ वह मुझे यहां ठहरा कर चारों दिशाओं में आखेट को गए हैं। मैं जानती हूं कि अब महारथियों के आने का समय होगया है ॥ १२ ॥ सो उन से संमान पाकर यथा काम चले जाना, घोड़ों को खोल कर उतर आओ, महात्मा धर्मराज जो अतिथियों के प्यारे हैं, वह आप को देख कर बड़े प्रसन्न होंगे ॥ १४ ॥

मूल–तथाऽऽसीनेषु सर्वेषु तेषु राजसु सत्तम। यदुक्तं कृष्णया सार्धं तत् सर्वं प्रत्यवेदयत् ॥ १५ ॥ एवमुक्तः प्रत्युवाच पश्यामि द्रौपदी मिति। पतिः सौवीर सिन्धूनां दुष्टभावो जयद्रथः ॥ १६ ॥ स प्रविश्याश्रमं पुण्यं सिंहगोष्ठं वृको यथा। आत्मना सप्तमः कृष्णा मिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥ कुशलं ते वरारोहे भर्तारस्तेप्यनामयाः ॥ १८ ॥

अर्थ—(अब कोटिकास्य ने) उस प्रकार बैठे हुए उन सब क्षत्रियों के मध्य में जाकर जो द्रौपदी ने कहा था, वह सब कह सुनाया ॥ १५ ॥ ऐसे कहने पर उसने उत्तर दिया, कि मैं

द्रौपदी को देखूंगा, तब वह सौवीर सिन्धियों का स्वामी दुष्ट भावना वाला राजा जयद्रथ अपने छः भाइयों सहित उस पुण्य आश्रम में शेर की गुफा में भेड़िये की भांति प्रविष्ट हुआ, और द्रौपदी से यह वचन बोला॥ १७॥ हे सुन्दरि तुझे कुशल है, तेरे पालने वाले भी कुशली हैं॥ १८॥

मूल—द्रौपद्युवाच—अपि ते कुशलं राजन् राष्ट्रे कोशे बले तथा॥ १९॥ कच्चिदेकः शिवीनाढ्यान् सौवीरान् सह सिन्धुभिः। अनुतिष्ठसि धर्मेण येचान्ये विदितास्त्वया॥ २०॥ कौरव्यः कुशली राजा कुन्ती पुत्रो युधिष्ठिरः। अहं च भ्रातरश्चास्य यांश्चान्यान् परिपृच्छसि॥ २१॥ पाद्यं प्रति गृहाणेदमासनं च नृपात्मज॥ २२॥ ऐणेयान् पृषतान् न्यंकून् हरिणान् शरभान् शशान्। प्रदास्यति स्वयं तुभ्यं कुन्ती पुत्रो युधिष्ठिरः।२३।

अर्थ—द्रौपदी बोली—हे राजन्! तुम्हारे देश, कोश और सेना में कुशल है॥ १९॥ और कि समृद्ध शिवि, सौवीर और सिन्धुदेशों को, और जो नए प्राप्त किये हों, उन सब को धर्म से पालन करते हो॥ २०॥ कुन्तीपुत्र कुरुराज युधिष्ठिर, उस के भाई और मैं, और भी जिनको आप पूछते हैं, सब कुशल से हैं॥ २१॥ हे राजपुत्र यह पाद्य और आसन लीजिये॥ २२॥ युधिष्ठिर आकर आप को एण, पृषत, न्यंकु, हरिण, शरभ और ससे देंगे॥ २३॥

मूल—जयद्रथ उवाच—कुशलं प्रातराशस्य सर्वं मे दित्सितं त्वया। एहि मे रथमारोह सुख माप्नुहि केवलम्॥ २४॥ गतश्रीकान् हृतराज्यान् कृपणान् गत चेतसः। अरण्यवासिनः पार्थान् नानुरोद्धुं त्वमर्हसि॥ २५॥ श्रिया विहीना राष्ट्राच्च

विनष्टाः शाश्वतीः समाः । अलं ते पाण्डु पुत्राणां भक्त्या क्लेश मुपासितुम् ॥ २६ ॥ भार्या मे भव सुश्रोणि त्यजैनान् सुखमाप्नुहि । अखिलान् सिन्धुसौवीरानाप्नुहि त्वं मया सह ॥ २७ ॥

अर्थ—जयद्रथ बोला—हे सुन्दरि ! हमारे सब कुशल हैं, सवेर के भोजन का सब कुछ तेरा दिये बराबर है, आओ, मेरे रथ पर चढ़ो, और अब केवल सुख को प्राप्त हो ओ ॥ २४ ॥ पाण्डवों की लक्ष्मी छिन गई,राज्य छिन गया, वह अब दीन हैं, उनकी बुद्धि ठिकाने नहीं, वनवासी हैं, तुझे अब उन का अनुरोध नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥ पाण्डव अब सदा के लिये लक्ष्मी से हीन और राज्य से च्युत होगए, सो तू अब उन की भक्ति से क्लेश न उठा ॥ २६ ॥ हे सुश्रोणि ! तू मेरी स्त्री बन, इन को त्याग, सुख भोग, सारे सिन्धु और सौवीर राज्य को मेरे साथ भोग ॥ २७ ॥

मूल—इत्युक्ता सिन्धुराजेन वाक्यं हृदय कंपनम् । कृष्णा तस्माद् पाक्रामद् देशाद स भृकुटी मुखी ॥ २८ ॥ अवमत्यास्य तद्वाक्य माक्षिप्य च सुमध्यमा । मैवमित्यब्रवीद कृष्णा लज्जस्वेति च सैन्धवम् ॥ २९ ॥ अहं तु मन्ये तव नास्ति कश्चिदेतादृशे क्षत्रिय सन्निवेशे । यस्त्वाद्य पातालमुखे पतन्तं पाणौ गृहीत्वा प्रतिसंहरेत ॥ ३० ॥ महाबलं घोरतरं प्रवृद्धं जातं हारिं पर्वत कन्दरेषु । प्रसुप्तमुग्रं प्रपदेन हंसि यः क्रुद्धमायोत्स्यसि जिष्णुमुग्रम् ॥ ३१ ॥ जयद्रथ—उवाच—जानामि कृष्णे विदितं ममैतद् यथाविधास्ते नरदेव पुत्राः । नत्वेवमेतेन विभीषणेन शक्या वयं त्रासयितुं त्वयाऽद्य ॥ ३२ ॥ सा क्षिप्रमातिष्ठ गजं रथं वा न

वाक्यमात्रेण वयं हि शक्याः। आशंस वा त्वं कृपणं वदन्ती सौवीर राजस्य पुनः प्रसादम् ॥ ३२ ॥ द्रौपद्युवाच—महाबला किन्त्विह दुर्बलेव सौवीरराजस्य मताऽहमस्मि। नाहं प्रमाथादिह संप्रतीता सौवीरराजं कृपणं वदेयम् ॥ ३४ ॥ यस्या हि कृष्णौ पदवीं चरेतां समास्थितावेकरथे समेतौ। इन्द्रोऽपि तां नापहरेत् कथञ्चिन्मनुष्यमात्रः कृपणः कुतोऽन्यः॥ ३५ ॥ गांडीवमुक्तांश्च महाशरौघान् पतंगसंघा निवशीघ्र वेगान्। यदा द्रष्टास्यर्जुनं वीर्यशालिनं तदा स्वबुद्धिं प्रतिनिन्दितासि ॥ ३६ ॥ न संभ्रमं गन्तु महं हि शक्ष्ये त्वया नृशंसेन विकृष्यमाणा। समागताहं हि कुरुप्रवीरैः पुनर्वनं काम्यक मागतास्मि ॥ ३७ ॥

अर्थ—ऐसी हृदय को कंपा देने वाली बात, जब सिन्धुराज ने, द्रौपदी से कही, तो वह तीउड़ी चढ़ा कर उस स्थान से परे हटगई ॥ २८ ॥ और उस की बात का निरादर करके आक्षेप करती हुई सुमध्यमा द्रौपदी सिन्धुराज से बोली 'मत ऐसे बोल, तुझे लज्जा आनी चाहिये 'मैं समझती हूं,इस क्षत्रियसमाज में कोई ऐसा नहीं है, जो आज गहरे गढ़े में गिरते हुए तुझ को हाथ पकड़ कर सम्हाल ले ॥ ३० ॥ तू यह पर्वत की कन्दरा में सोए हुए पूर्ण युवा महाबली महाभयंकर क्रूर शेर को लात मारने लगा है, जो क्रुद्ध हुए तेजस्वी अर्जुन से युद्ध करने लगा है ॥ ३१ ॥ जयद्रथ बोला—जानता हूं, हे द्रौपदि! मुझे विदित है, जैसे वह राजपुत्र हैं, यह विभीषिका दिखलाकर तू आज हमें डरा नहीं सकती है ॥ ३२ ॥ सो तू शीघ्र हाथी वा रथ पर सवार हो, केवल वचन मात्र से हम तुझे नहीं छोड़ सकते, या फिर दीन वचनों से सौवीरराज की कृपा मांग

॥ ३३ ॥ द्रौपदी बोली—मैं बड़े बल वाली हूं, किन्तु सौवीर-राज इस समय मुझे दुर्बल सी मान रहा है, मैं अपने ऊपर भरोसा रखती हुई यहां पकड़े जाने के भय से सौवीरराज से कभी दीन वचन नहीं कहूंगी ॥ ३४ ॥ कृष्ण और अर्जुन इकट्ठे एक रथ पर चढ़ कर जिस की खोज के लिये निकलेंगे, उस को इन्द्र भी किसी प्रकार छीन नहीं सकता है, कहां कोई बेचारा मनुष्यमात्र ॥ ३५ ॥ जब तू वीर्यशाली अर्जुन को, और गांडीव से छूटे हुए, शीघ्र वेग वाले, टिड्डीदल की भांति आते हुए बाण समुदाय को देखेगा, तब तू अपनी इस बुद्धि की निन्दा करेगा ॥ ३६ ॥ तुझ दुर्जन से खींची हुई भी मैं घबराहट में नहीं डाली जा सकती, क्योंकि मैं फिर पाण्डवों के साथ काम्यक वन में आऊंगी ॥ ३७ ॥

मूल—जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे जयद्रथस्तं समवाक्षिपत् सा। तया समाक्षिप्ततनुः स पापः पपात शाखीव निकृत्तमूलः॥ ३८ ॥ प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री । साऽऽकृष्यमाणा रथमारुरोह धौम्यस्य पादा वभिवाद्य कृष्णा ॥ ३९ ॥ धौम्य उवाच—नेयं शक्या त्वया नेतु मविजित्य महारथान् । धर्मं क्षत्रस्य पौराण मवेक्षस्व जयद्रथ ॥ ४० ॥ इत्युक्त्वा ह्रियमाणां तां राजपुत्रीं यशस्विनीम् । अन्वगच्छत् तदा धौम्यः पदातिगण मध्यगः ॥ ४१ ॥

अर्थ—उसी समय जयद्रथ ने उसे दुपट्टे से पकड़ लिया, तब द्रौपदी ने उसे एक झटका दिया, झटका लगने से वह पापी जड़ से कटे वृक्ष की भांति भूमि पर गिर पड़ा ॥ ३८ ॥ परन्तु फिर बड़े वेग से (उठ कर) उसने द्रौपदी को पकड़ लिया,

खींची जाती हुई वार २ लंबे सांस भरती हुई उस राजपुत्री ने रथ पर चढ़ने से पहले धौम्य के चरणों को प्रणाम किया॥३९॥ धौम्य बोले–हे जयद्रथ पाण्डवों को जीते विना तुम इसे नहीं लेजा सकते, क्षत्रियों के अपने सनातनधर्म की ओर दृष्टि डालो ॥ ४० ॥ यह कह कर धौम्य हरी जाती हुई उस यशस्विनी राजपुत्री के पीछे प्यादों के मध्य में दौड़ने लगे ॥ ४१ ॥

अ०२९(व०२६९) पाण्डवों की जयद्रथ पर चढ़ाई

मूल—ततो दिशः संप्रविहृत्य पार्था मृगान् वराहान् महिषांश्च हत्वा । धनुर्धराः श्रेष्ठतमाः पृथिव्यां पृथक् चरन्तः सहिता बभूवुः ॥ १ ॥ ते सैन्धवे रत्यनिलोग्रवेगैर्महाजवैर्वाजिभि रुह्यमानाः सुक्ष्वृहद्भिः सुरथैर्नृवीरास्तदाऽऽश्रमायाभिमुखा बभूवुः ॥ २ ॥ इत्येव ते तद्वन माविशन्तो महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा । बालामपश्यन्त तदा रुदन्तीं धात्रेयिकां प्रेष्यवधूं प्रियायाः ॥ ३ ॥ तामिन्द्रसेनस्त्वरितोऽभिसृत्य रथादवप्लुत्य ततोऽभ्य धावत् । अथाब्रवीच्चारुमुखं विमृश्य धात्रेयिका सारथिमिन्द्रसेनम् ॥ ४ ॥ जयद्रथे नापहृता प्रमथ्य पञ्चेन्द्रकल्पान् परिभूय कृष्णा । तिष्ठन्ति वर्त्मानि नवान्यमूनि वृक्षाश्च न म्लान्ति तथैव भग्नाः॥ ५ ॥ आवर्तयध्वं ह्यनुयात शीघ्रं न दूरयातैव हि राजपुत्री । गृह्णीत चापानि महाधनानि शरांश्च शीघ्रं पदवीं चरध्वम् ॥ ६ ॥ पुरा हि निर्भर्त्सनदण्डमोहिता प्रमोहचित्ता वदनेन शुष्मता । ददाति कस्मैचिदनर्हते तनुं वराज्यपूर्णामिव भस्मनि स्रुचम् ॥ ७ ॥ युधिष्ठिर उवाच–भद्रे प्रतिक्राम नियच्छवाचं मास्मत्सकाशे परुषाण्यवोचः । राजानो वा यदिवाराजपुत्रा बलेन मत्ता वञ्चनां प्राप्नुवन्ति।

अर्थ—उधर पाण्डव दिशाओं में घूम कर, वह पृथिवी में चुने हुए धनुर्धारी अलग २ घूमते हुए, हरिण सूअर और भैंसों को मार कर एक स्थान पर इकट्ठे हुए ॥ १ ॥ तब वह नरवीर बड़ उत्तम रथों से आश्रम की ओर चले, जिन रथों में बड़े वेग वाले, वग में वायु को भी पीछे छोड़ने वाले, सिन्धुदेश के घोड़े युक्त थे ॥ २ ॥ इस प्रकार उस बड़े वन में आखेट करके जब उस वन (आश्रम स्थान) में प्रविष्ट हुए, तो उन्हों ने अपने दास की वधू, द्रौपदी की धाया की कन्या को रोते हुए देखा ॥ ३ ॥ उसी समय इन्द्रसेन (सारथि) झट रथ से छलांग मार कर दौड़ता हुआ उस के पास गया, तब सुन्दर मुख-वाले सारथि इन्द्रसेन को देख कर धाया की कन्या बोली ॥४॥ इन्द्रसदृश पाचों पाण्डवों का अनादर कर के द्रौपदी को जय-द्रथ धक्के से छीन ले गया है, देखो वह अभी नए रस्ते (पहियों की लकीरें) खड़े हैं, पौधे भी जो (रथों से) टूटे हैं, वह मुर-झाए नहीं हैं ॥ ५ ॥ उंस लौटाओ, झट पट उन का पीछा करो, राजपुत्री अभी कोई दूर नहीं चली गई, बहु मूल्य धनुष और बाण पकड़ो, और शीघ्र खोज पर चलो ॥ ६ ॥ जब तक कि झिड़क और दण्ड से घबरा कर व्याकुल चित्त हुई, सूखते हुए मुख से, किसी अयोग्य को अपना शरीर न सौंप दे, जैसे कि उत्तम घी से पूर्ण स्रुचा भस्म में गिरे ॥ ७ ॥ युधिष्ठिर बोले-भद्रे हट जा, वाणी को रोक, हमारे सामने कठोर* मत बोल। राजे वा राजपुत्र बल से मत्त हुए धोखा खाते हैं†॥ ८ ॥

---

* घबरा कर अपना शरीर किसी को सौंप न दे' इत्यादि कठोर वचन, जिसको हम नहीं सह सकते। यह दासी ने कहा भी अपनी

मूल—एतावदुक्त्वा प्रययुर्हि शीघ्रं तान्येव वर्त्मान्यनुवर्तमानाः। मुहुर्मुहुर्व्यालवदुच्छ्वसन्तो ज्यां विक्षिपन्तश्च महाधनुर्भ्यः॥ ९ ॥ ततोऽपश्यंस्तस्य सैन्यस्य रेणुमुद्धूतं वै वाजिखुरप्रणुन्नम्। पदातीनां मध्यगतं च धौम्यं विक्रोशन्तं भीममभिद्रवेति ॥ १० ॥ ते सान्त्व्य धौम्यं परिदीनसत्त्वाः सुखं भवानेत्विति राजपुत्राः। श्येना यथैवा मिषसंप्रयुक्ता जवेन तत्सैन्यमथाभ्यधावन् ॥ ११ ॥ तेषां महेन्द्रोपमविक्रमाणां संरब्धानां धर्षणाद् याज्ञसेन्याः। क्रोधः प्रजज्वाल जयद्रथं च दृष्ट्वा प्रियां तस्य रथे स्थितां च ॥ १२ ॥ प्रचुक्रुशुश्चाप्यथ सिन्धुराजं वृकोदरश्चैव धनञ्जयश्च। यमौ च राजा च महाधनुर्धरास्ततो दिशः संमुमुहुः परेषाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—यह कह कर महा सर्पों की भांति बार २ फुंकारते हुए, और बड़े २ धनुषों से चिल्ले को टंकारते हुए, वह शीघ्र उन्हीं मार्गों का पीछा करते हुए धाये ॥ ९ ॥ (आगे जाकर) उन्होंने सेना के घोड़ों के खुरों से उड़ाई हुई धूल को देखा, और फिर धौम्य को देखा, जो प्यादों के बीच में भीम को पुकारता जा रहा है, कि दौड़ो ॥ १० ॥ उन दीन मन वाले राजपुत्रों ने धौम्य को तसल्ली दी, कि आप आराम से आइये। ऐसा कह, पाण्डव इस प्रकार उस सेना पर जा झपटे, जैसे कि बाज बटेरों पर झपटते हैं ॥ ११ ॥ महेन्द्र तुल्य पराक्रम वाले, द्रौपदी की धर्षणा से क्षोभ में आए हुए उन पाण्डवों का क्रोध भड़क उठा; जूंही कि उन्होंने जयद्रथ को देखा और द्रौपदी को उसके रथ

योग्यता का वचन है, द्रौपदी के लिये यह असम्भव है † बल से मस्त होकर जयद्रथ ने धोखा खाया है।

पर स्थित देखा ॥ १२ ॥ उसी समय भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और युधिष्ठिर, इन पांचों महा धनुर्धारियों ने सिन्धुराज को ललकारा, तब शत्रुओं के छक्के छूट गए ॥ १३ ॥

अ०३०(व०२७१) पाण्डव जयद्रथ युद्ध

मूल—ततो घोरतमः शब्दो रणे समभवत् तदा । भीमार्जुन यमान् दृष्ट्वा सैन्यानां सयुधिष्ठिरान् ॥ १ ॥ शिवि सौवीर सिन्धूनां विषादश्चाप्य जायत । तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् व्याघ्रानिव वलोत्कटान् ॥ २ ॥ गजं तु सगजारोहं पदातींश्च चतुर्दश । जघान गदया भीमः सैन्धवध्वजिनीमुखे ॥ ३ ॥ पार्थः पञ्चशताञ्शूरान् पार्वतीयान् महारथान् । परीप्समानः सौवीरं जघान ध्वजिनी मुखे ॥ ४ ॥ राजा स्वयं सुवीराणां प्रवराणां प्रहारिणाम् । निमेषमात्रेण शतं जघान समरे तदा ॥ ५ ॥ ददृशे नकुलस्तत्र रथात् प्रस्कन्द्य खड्ग धृक् । शिरांसि पाद रक्षाणां वीजवत्प्रवपन् मुहुः ॥ ६ ॥ सहदेवस्तु संयाय रथेन गजयोधिनः । पातयामास नाराचैर्द्रुमेभ्य इव वर्हिणः ॥ ७ ॥

अर्थ—तब भीम अर्जुन नकुल सहदेव और युधिष्ठिर को देख कर जयद्रथ के सैनिक रण में महा घोर शब्द करने लगे ॥ १ ॥ पर शेरों की भांति उग्र वल वाले उन पुरुषव्याघ्रों को देख कर शिवि, सौवीर और सिन्धु वीरों को निराशता छा गई ॥ २ ॥ भीम ने अपनी गदा से सिन्धुराज की सेना के आगे डटे हुए हाथी, उसके सवार और चौदह प्यादों को मार गिराया ॥ ३ ॥ अर्जुन ने सौवीरराज को घेरने की इच्छा से सेना के आगे लड़ते हुए पांचसौ पहाड़ी महारथी शूर वीरों को मार गिराया ॥ ४ ॥ राजा युधिष्ठिर ने भी सुवीर देश के चुने हुए

सामने प्रहार करते हुए सौ सुवीर क्षत्रियों को क्षणमात्र में मार गिराया ॥ ५ ॥ इधर नकुल तलवार लेकर रथ से कूद पड़े, और पैदलों के सिरों को इस भांति गिराने लगे जैसे किसान बीज बोता है ॥ ६ ॥ सहदेव अपने रथ को हाथियों पर लड़ने वालों की ओर ले गया, और अपने भालों से उनको वृक्षों से मोरों की तरह नीचे गिराने लगा ॥ ७ ॥

मूल—भीमस्तत्रापततो राज्ञः कोटिकास्यस्य संगरे। सूतस्य नुदतो वाहान् क्षुरेणापाहरच्छिरः ॥ ८ ॥ विमुखं हतसूतं तं भीमः प्रहर्तां वरः। जघान तल युक्तेन प्रासेनाभ्येत्य पाण्डवः ॥ ९ ॥ द्वादशानां तु सर्वेषां सौवीराणां धनञ्जयः। चकर्त निशितैर्भल्लै-र्धनूंषि च शिरांसि च ॥ १० ॥ प्रच्छाद्य पृथिवीं तस्थुः सर्व मायो धनं प्रति। शरीराण्यशिरस्कानि विदेहानि शिरांसि च ॥११॥ हतेषु तेषु वीरेषु सिन्धुराजो जयद्रथः। विमुच्य कृष्णां संत्रस्तः पलायनमनाऽभवत ॥ १२ ॥ स तास्मिन् संकुले सैन्ये द्रौपदी मवतार्य ताम्। प्राणप्रेप्सुरुपा धावद् वनं येन नरा धमः॥ १३ ॥ द्रौपदीं धर्मराजस्तु दृष्ट्वा धौम्य पुरस्कृताम्। माद्री पुत्रेण वीरेण रथमारोपयत तदा ॥ २५ ॥ ततस्तद्विद्रुतं सैन्यमपयाते जयद्रथे। आदिश्या दिश्य नाराचैराजघान वृकोदरः ॥ १५ ॥ सव्यसाची तु तं दृष्ट्वा पलायन्तं जयद्रथम्। वारयामास निघ्नन्तं भीमं सैन्धव सैनिकान् ॥ १६ ॥

अर्थ—भीमने युद्ध में सामने हुए कोटिकास्य राजा के घोड़ों को हांकते हुए सूत का सिर बर्छे से काट दिया ॥ ८ ॥ सूत के मरने से उलटा फिरे उस को, प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ भीम ने मिल कर, दृढ मुट्ठी वाले प्रास से मार गिराया ॥ ९ ॥ अर्जुन ने

अपने तीक्ष्ण भालों से बारह सौवीर राजपुत्रों के सिर और धनुष-काटे ॥ १० ॥ सारे युद्धस्थल में धड़ बिन सिरों के और सिर बिन धड़ों के पृथिवी को ढक कर स्थित हुए ॥ ११ ॥ उन वीरों के मरने पर भयभीत हुए सिन्धुराज जयद्रथ ने द्रौपदी को छोड़ कर भाग जाने का निश्चय किया ॥ १२ ॥ वह उस सेना की भीड़ में द्रौपदी को उतार कर प्राण बचाने के लिये जंगल की ओर भागा ॥ १३ ॥ युधिष्ठिर ने जब धौम्य के पीछे २ आती द्रौपदी को देखा, तो वीर नकुल के द्वारा उसे रथ पर चढ़ा लिया ॥ १४ ॥ जयद्रथ के भाग जाने पर सारी सेना भाग निकली, और भीमसेन अपना नाम सुना २ कर उनको भालों से मारने लगा ॥ १५ ॥ भागते हुए जयद्रथ को देख कर सैन्धवों के सैनिकों को मारते हुए भीम से अर्जुन बोले ॥ १६ ॥

मूल—तमस्मिन् समरोद्देशे न पश्यामि जयद्रथम् । तमेवान्विष भद्रं ते किं ते योधैर्निपातितैः ॥ १७ ॥ इत्युक्तो भीमसेनस्तु गुडाकेशेन धीमता । युधिष्ठिर माभेप्रेक्ष्य वाग्मी वचन मब्रवीत ॥१८॥ हतप्रवीरा रिपवो भूयिष्ठं विद्रुता दिशः । गृहीत्वा द्रौपदीं राजन् निवर्ततु भवानिति ॥ १९ ॥ यमाभ्यां सह राजेन्द्र धौम्येन च महात्मना । प्राप्याश्रमपदं राजन् द्रौपदीं परिसान्त्वय ॥ २० ॥ नहि मे मोक्ष्यते जीवन् मूढः सैन्धवको नृपः । पातालतल संस्थो पि यदि शक्रोऽस्य सारथिः ॥ २१ ॥ युधिष्ठिर उवाच—न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मापि स सैन्धवः । दुःशला मभिसंस्मृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम् ॥ २२ ॥ तच्छ्रुत्वा द्रौपदी भीम मुवाच व्याकुलेन्द्रिया । कर्तव्यं चेत प्रियं मह्यं वध्यः स पुरुषा

धमः ॥ २३ ॥ भार्याभिहर्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः । याचमानोपि संग्रामे न मोक्तव्यः कथञ्चन ॥ २४ ॥

अर्थ—उस जयद्रथ को इस संग्रामस्थल में नहीं देखता हूं, उसी को ढूंढ, तेरा भला हो, इन योधों को मारने से क्या॥१७॥ बुद्धिमान् अर्जुन ने जब भीमसेन से ऐसे कहा, तो वह उत्तम बोलने वाला युधिष्ठिर की ओर देख कर यह वचन बोला॥१८॥ शत्रुओं के बहुत से वीर मारे गए, और बहुतसे इधर उधर भाग गए हैं, हे राजन् ! अब आप नकुल सहदेव के साथ और महात्मा धौम्य के साथ द्रौपदी को लेकर लौट चलें, और आश्रम में पहुंच कर द्रौपदी को तसल्ली दें ॥ २० ॥ मैं इस सिन्धुराज को जीतेजी नहीं छोडूंगा, चाहे पाताल के तल में भी चला जाए और चाहे इन्द्र भी इस का सारथि हो ॥ २१ ॥ युधिष्ठिर बोले-हे महाबाहो ! सिन्धुराज चाहे कैसा दुरात्मा है, तथापि दुःशला और गान्धारी का स्मरण करके इसे जानसे नहीं मारना चाहिये ॥ २२ ॥ यह सुन कर व्याकुल इन्द्रियों वाली द्रौपदी भीम से बोली, यदि मेरा प्रिय करना है, तो उस नीच को मार कर आना ॥ २३ ॥ स्त्री का छीनने वाला वा राज्य का छीन ने वाला जो वैरी है, उस को याचना करते हुए को भी युद्ध में कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥ २४ ॥

मूल-राजा निववृते कृष्णा मादाय सपुरोहितः॥२५॥स प्रविश्याश्रम पदमपाविद्ध वृसीमठम् । मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैरनुकीर्णं ददर्श ह ॥ २६ ॥ ते स्म तं मुदिता दृष्ट्वा पुनः प्रत्यागतं नृपम् । जित्वा तान् सिन्धु सौवीरान् द्रौपदीं चाहृतां पुनः ॥ २७ ॥

अर्थ—राजा भी द्रौपदी और पुरोहित को संग लेकर लौट

आए ॥ २५ ॥ आश्रम में प्रवेश करके उसने देखा, कि मार्कण्डेय आदि ब्राह्मण (इस अत्याचार के शोक में) इकट्ठे बाहर बैठे हैं, (अध्यापकों के) आसन और छात्रावास सब अस्तव्यस्त होरहे हैं ॥ २६ ॥ वे बड़े प्रसन्न हुए, जब उन्होंने देखा कि राजा(युधिष्ठिर)सिन्धु सौवीरों को जीत कर लौट आए हैं, और द्रौपदी को ले आए हैं ॥ २७ ॥

अ० ३१ (व० २७१-२७२) जयद्रथ का बन्ध और मोक्ष

मूल—भीमसेनार्जुनौ चापि श्रुत्वा क्रोशगतं रिपुम्। स्वयमश्वांस्तुदन्तौ तौ जवेनैवाभ्य धावताम् ॥ १ ॥ इदमत्यद्भुतं चात्र चकार पुरुषोऽर्जुनः । क्रोशमात्रगतानश्वान् सैन्धवस्य जघान यत् ॥ २ ॥ ततोऽभ्यधावतां वीरा वुभौ भीम धनञ्जयौ । हताश्वं सैन्धवं भीतमेकं व्याकुल चेतसाम् ॥ ३ ॥ सैन्धवस्तु हतान् दृष्ट्वा तथाऽश्वान् स्वान् सुदुःखितः । अतिविक्रम कर्माणि कुर्वाणं च धनञ्जयम् ॥ ४ ॥ पलायनकृतोत्साहः प्राद्रवद् येन वै वनम् । अनुयाय महाबाहुः फाल्गुणो वाक्य मब्रवीत् ॥ ५ ॥ अनेन वीर्येण कथं स्त्रियं प्रार्थयसे बलात् ॥ ६ ॥ राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ॥ ६ ॥ इत्युच्यमानः पार्थेन सैन्धवो न न्यवर्तत । तिष्ठ तिष्ठेति तं भीमः सहसाभ्यद्रवद् बली ॥ ७ ॥

अर्थ—उधर भीम और अर्जुन शत्रु को एक कोस दूर निकल गया सुन कर स्वयं घोड़ों को ताड़ते हुए वेग से दौड़े ॥१॥ अर्जुन ने यह बड़ा अद्‍भुत काम कर दिखलाया, कि कोस दूर निकल गए हुए भी सिन्धुराज के घोड़े मार गिराए ॥ २ ॥ तब वह दोनों वीर भीम और अर्जुन घोड़ों के मरने से डरे हुए अकेले

अतएव घबराए हुए मन वाले सिन्धुराज की ओर दौड़े ॥ ३ ॥ सिन्धुराज घोड़ों को मरा हुआ और अर्जुन को बड़े २ वीरता के कर्म करते देख कर, बड़ा दुःखित होकर, उस ओर भागने का ही उसने उत्साह किया, जिस ओर घना बन था । महाबाहु अर्जुन उस का पीछा करके यह वाक्य बोला ॥ ४—५ ॥ इस बल से, कैसे तू बल से स्त्री को चाहता है, हे राज पुत्र लौट, तुझे भागना योग्य नहीं ॥ ६ ॥ अर्जुन से ऐसे कहा हुआ सिन्धु-राज नहीं लौटा, तब खड़ा रह, खड़ा रह, ऐसे कहता बली भीमसेन झट उस के पीछे भागा ॥ ७ ॥

मूल—आभिद्रुत्य निजग्राह केशपक्षे ह्यमर्षणः । समुद्यम्य च तं भीमो निष्पिपेष महीतले ॥ ८ ॥ तस्य जानू ददौ भीमो जघ्ने चैन मरत्निना । स मोहमगद् राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ९ ॥ सरोषं भीमसेनं तु वारयामास फाल्गुनः । दुःशलायाः कृते राजा यत् तदाहेति कौरव ॥ १० ॥ भीमसेन उवाच—नायं पापसमा-चारो मत्तो जीवितु मर्हति । कृष्णायास्तदनर्हायाः परिक्लेष्टा नरा-धमः ॥ ११ ॥ किं नु शक्यं मया कर्तुं यद् राजा सततं घृणी । त्वं च बालिश्यया बुध्या सदैवास्मान् प्रबाधसे ॥१२ ॥ एवमुक्त्वा सटास्तस्य पञ्च चक्रे वृकोदरः । अर्धचन्द्रेण बाणेन किञ्चिद ब्रुवतस्तदा ॥ १३ ॥

अर्थ—क्रुद्ध हुए भीम ने दौड़ कर उसे केशों से जा पकड़ा, और झटका दे कर उसे भूतल पर गिरा कर खूब रगड़ा ॥ ८ ॥ भीम ने (उस की पीठ पर) दोनों गोड़े दिये, और कुहनियों से उसे ताड़ना किया, वह प्रबल प्रहारों से पीड़ित हुआ बड़ा घबरा गया ॥ ९ ॥ क्रुद्ध हुए भीमसेन को अर्जुन ने रोका, जैसा

कि राजा ने दुःशला के लिये कहा था ॥ १० ॥ भीमसेन बोला यह पापाचारी मेरे हाथ आया हुआ जीता रहने योग्य नहीं है, जिस नराधम ने द्रौपदी को ऐसा तंग किया है, जो कि इस के अयोग्या थी ॥ ११ ॥ पर मैं क्या करसकता हूं, जब कि राजा सदा दयावान् है, और तू भी बाल बुद्धि से मुझे सदा तंग करता है ॥ १२ ॥ यह कह कर अर्धचन्द्र बाण से भीमने चुप खड़े जयद्रथ की पांच चोटियां बना दीं (अर्ध चन्द्र से सिर मूंड दिया और पांच चोटियां रख दीं, यह दास का चिन्ह है)॥१३॥

मूल—तत एनं विचेष्टन्तं बध्वा पार्थो वृकोदरः । रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसु गुंठितम् ॥ १४ ॥ ततस्तं रथमास्थाय भीमः पार्थानुगस्तदा । अभ्येत्याश्रम मध्यस्थ मभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् ॥ १५ ॥ राजानं चाब्रवीद् भीमो द्रौपद्याः कथयन्निति । दास भावं गतो ह्येष पाण्डूनां पाप चेतनः ॥ १६ ॥ तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः । मुञ्चेममधमाचारं प्रमाणा यदि ते वयम् ॥ १७ ॥ द्रौपदी चाब्रवीद् भीम मभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरम् । दासोऽयं मुच्यतां राज्ञस्त्वया पञ्चसटः कृतः ॥ १८ ॥ तमुवाच घृणी राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः । अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः पुनः क्वचित ॥ १९ ॥ धर्मे ते वर्धतां बुद्धिर्माचाधर्मे मनः कृथाः । साश्वः स रथपादातः स्वस्ति गच्छ जयद्रथ ॥२०॥ एवमुक्तस्तु सुव्रीडं तूष्णीं किञ्चिदवाङ्मुखः । जगाम राजन् दुःखार्तो गंगाद्वाराय भारत ॥ २१ ॥

अर्थ——तब भीमसेन ने धूल में लिपटे हुए बेसुध हुए हाथ पाओं मारते हुए को बांध कर रथ पर डाल लिया ॥ १४ ॥ तब भीम और अर्जुन रथ पर चढ़े और आकर आश्रम के मध्य में

स्थित युधिष्ठिर के निकट आए ॥ १५ ॥ भीमने राजा से कहा, कि द्रौपदी को कहिये, यह पापबुद्धि पाण्डवों का दास होगया है ॥ १६ ॥ तिस पर बड़े भाई ने प्रेमपूर्वक भीम से कहा, यदि हम तेरे लिये प्रमाण हैं, तो इस दुराचारी को छोड़ दे ॥ १७ ॥ द्रौपदी भी युधिष्ठिर की ओर देखती हुई भीमसे बोली, यह राजा का दास है, इसे छोड़ दो, पांच चोटियों वाला तुमने इसे बना ही दिया है ॥ १८ ॥ दयावान् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने जयद्रथ से कहा 'तुम दास नहीं, जहां इच्छा हो, जाओ, तुम छोड़ दिये गए हो, ऐसा फिर कभी मत करो ॥ १९ ॥ धर्म में तुम्हारी बुद्धि बढ़े, अधर्म में कभी अपना मन न लगाओ, रथ घोड़े और प्यादों समेत हे जयद्रथ आराम से जाओ" ॥२०॥ ऐसे कहा हुआ जयद्रथ लज्जा से मुख नीचे किये दुःख से चुपचाप गंगाद्वार को चला गया ॥ २१ ॥

अ० ३२ (व० २७३-२९२) युधिष्ठिर का शोक नाशन

मूल—एवं कृष्णां मोक्षयित्वा विनिर्जित्य जयद्रथम् । आसां चक्रे मुनिगणैर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ मार्कण्डेय मिदं वाक्य मब्रवीत् पाण्डुनन्दनः । अस्ति नूनं मया कश्चिदल्पभाग्य तरो नरः ॥ २ ॥ मार्कण्डेय उवाच—एवमेतन्महाबाहो रामेणामित तेजसा । प्राप्तं व्यसन मत्युग्रं वनवास कृतं पुरा ॥ ३ ॥ मा शुचः पुरुष व्याघ्र क्षत्रियोसि परन्तप । बाहुवीर्याश्रिते मार्गे वर्तसे दीप्त निर्णये ॥ ४ ॥ न हि ते वर्तते किञ्चिद् वृजिनं परमण्वपि । अस्मिन् मार्गे निषीदेयुः सेन्द्रापि ससुरासुराः ॥ ५ ॥ सहायवति सर्वार्थाः संतिष्ठन्तीह सर्वशः । किन्तु तस्याजितं संख्ये यस्य भ्राता

धनञ्जयः ॥ ६ ॥ अयं च बलिनां श्रेष्ठो भीमो भीम पराक्रमः । युवानौ च महेष्वासौ वीरौ माद्रवती सुतौ ॥ ७ ॥ एभिः सहायैः कस्मात् त्वं विषीदसि परंतप । य इमे वज्रिणः सेनां जयेयुः समरुद्गणाम् ॥ ८ ॥ त्वमप्येभिर्महेष्वासैः सहायैर्देवरूपिभिः । विजेष्यसि रणे सर्वानमित्रान् भरतर्षभ ॥ ९ ॥

अर्थ—इस प्रकार द्रौपदी को छुड़ा कर और जयद्रथ को जीत कर धर्मराज युधिष्ठिर मुनिगणों के साथ बैठे ॥ १ ॥ और मार्कण्डेय से यह वचन बोले—क्या मुझ से भी मन्द भाग्य कोई पुरुष हो सकता है ॥ २ ॥ मार्कण्डेय बोले—हे महाबाहो ! ऐसे ही पूर्व काल में अमित तेज वाले रामने वनवास जन्य अत्युग्र विपद् भोगी थी ॥ ३ ॥ हे शत्रुओं को तपाने वाले पुरुष सिंह शोक मत कर, तू क्षत्रिय है, बाहुबल के आश्रित, असंदिग्ध प्रत्यक्ष फल वाले मार्ग पर चल रहा है ॥ ४ ॥ तेरे लिये तनिक भी दुःख नहीं है, इस मार्ग (क्षात्रधर्म) में इन्द्र समेत देव दैत्य सब दुःख उठाते हैं ॥ ५ ॥ साथियों वाले के सारे काम बनजाते हैं उसके लिये युद्ध में बिन जीता क्या रह सकता है, जिसके भाई अर्जुन हैं ॥ ६ ॥ और बलियों में श्रेष्ठ भयंकर बल वाला यह भीम (भाई है), और महा धनुर्धारी यह दोनों युवा वीर माद्रवती के पुत्र (भाई हैं) ॥ ७ ॥ इन साथियों के होते हुए हे शत्रुनाशन तुम क्यों दुःखी होते हो, जो यह मरुद्गणों समेत इन्द्र की सेना को भी जीतने को समर्थ हैं ॥ ८ ॥ तुम भी इन महा धनुर्धारी साथियों से रण में सब शत्रुओं को अवश्य जीतोगे॥९॥

मूल—इतश्च त्वमिमां पश्य सैन्धवेन दुरात्मना । बलिना वीर्यमत्तेन हृतामेभिर्दुरात्मभिः ॥ १० ॥ आनीतां द्रौपदीं कृष्णां

कृत्वा कर्म सुदुष्करम् । जयद्रथं च राजानं विजितं वशमागतम् ॥ ११ ॥ असहायेन रामेण वैदेही पुनराहृता । हत्वा संख्ये दशग्रीवं राक्षसं भीम विक्रमम् ॥ १२ ॥ यस्य शाखामृगा मित्राण्यृक्षाः कालमुखास्तथा । जात्यन्तरगता राजन्नेतद् बुद्ध्याऽनु चिन्तय ॥ १३ ॥ तस्मात् स त्वं कुरुश्रेष्ठ माशुचो भरतर्षभ । त्वद्विधा हि महात्मानो न शोचन्ति परन्तप ॥ १४ ॥

अर्थ–इसी से देख, कि बलवान्, वीर्यमत्त, दुरात्मा सिन्धुराज से हरी गई द्रौपदी को बड़ा दुष्कर कर्म करके यह ले आए हैं, और राजा जयद्रथ को जीत कर वश में किया है ॥१०-११॥ राम असहाय होकर भी भयंकर पराक्रम वाले राक्षस रावण को संग्राम में मार कर सीता को फिर वापिस लाए थे ॥ १२ ॥ जिनके कि मित्र वानर, ऋक्ष और कालमुख यह भिन्न जातियों (अनार्य जातियों) के लोग थे, इस बात को बुद्धि से सोचो ॥ १३ ॥ इस लिये हे कुरुश्रेष्ठ शोक मत कर, हे शत्रुतापन आप जैसे महात्मा शोक नहीं करते हैं* ॥ १४ ॥

---

* इस से आगे सावित्र्युपाख्यान में यम और सावित्री का संवाद कठ में कहे यम और नचिकेता के संवाद की भांति कवि—कल्पित है, इति वृत्त नहीं, और इस कथा से आगे जो युधिष्ठिर यक्ष संवाद है, वह भी केन उपनिषद् में कहे यक्ष और देवताओं के संवाद की भांति कवि कल्पित है, इतिवृत्त नहीं । इन दोनों कल्पनाओं से आदर्श गृहस्थ का जीवन लोगों के सामने रखना कवि को अभिप्रेत है । सो कठ और केन के संवादों की भांति तात्पर्य पर लक्ष्य रख कर यह दोनों संवाद यहां देते हैं । पाठकों को चाहिये, कि इन के तात्पर्य पर दृष्टि रखें, घटना पर नहीं । जो कि कल्पित है,

अ० ३३ (व० २९३) सावित्री की जन्म कथा

मूल—युधिष्ठिर उवाच—नात्मान मनुशोचामि नेमान् भ्रातॄन् महामुने। हरणं चापि राज्यस्य यथेमां द्रुपदात्मजाम् ॥ १ ॥ द्यूते दुरात्मभिः क्लिष्टाः कृष्णया तारिता वयम्। जयद्रथेन च पुनर्वनाच्चापि हृता बलात् ॥ २ ॥ अस्ति सीमन्तिनी काचिद् दृष्टपूर्वापि वा श्रुता। पतिव्रता महाभागा यथेयं द्रुपदात्मजा ॥ ३ ॥ मार्कण्डेय उवाच—आसीन्मद्रेषु धर्मात्मा राजा परम धार्मिकः। ब्रह्मण्यश्च महात्मा च सत्यसन्धो जितेन्द्रियः॥ ४ ॥ यज्वा दानपतिर्दक्षः पौरजानपदप्रियः। पार्थिवोऽश्वपतिर्नाम सर्व भूत हितेरतः॥ ५ ॥ अपत्योत्पादनार्थं च तीव्रं नियममास्थितः। काले परिमिताहारो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः॥ ६ ॥ हुत्वा शत सहस्रं स सावित्र्या राजसत्तम। षष्ठे षष्ठे तदा काले बभूव मित भोजनः ॥ ७ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे महामुने न मैं अपना शोक करता हूं, न भाइयों का, न राज्य के हरे जाने का जैसा कि इस द्रौपदी का ॥ १ ॥ जुए में दुर्जनों से हमने बड़ा क्लेश उठाया, और द्रौपदी ने हमारा उद्धार किया, फिर वन में जयद्रथ ने इसे बल से हर लिया ॥ २ ॥ क्या आपने कोई महाभागा नारी ऐसी पतिव्रता सुनी वा देखी है, जैसी यह द्रुपद कन्या है* ॥ ३॥ मार्कण्डेय बोले—मद्रदेश में राजा अश्वपति हुआ है, जो बड़ा धार्मिक, ब्रह्मण्य, महात्मा, सच्ची प्रतिज्ञा वाला, जितेन्द्रिय, यज्ञ-

* द्रौपदी के पातिव्रत्य को इतने गौरव से कहना, और तिस पर मार्कण्डेय का सावित्री का वर्णन करना द्रौपदी का एक पतित्व का बोधक है।

कर्ता, दानपति, निपुण, पुर और देश के लोगों का प्यारा, और सब लोगों के हित में रत था ॥ ४—५ ॥ सन्तान उत्पत्ति के लिये वह तीव्र व्रत करने लगा, समय पर परिमित भोजन ब्रह्मचर्य, और संयम में रहने लगा॥ ६ ॥और फिर हे महाराज! उसने एकलक्ष सावित्री (गायत्री) होम किया, उन दिनों वह दिन में छटे पहर थोड़ा भोजन करता था ॥ ७ ॥

मूल—कस्मिंश्चित्तु गते काले स राजा नियतव्रतः । ज्येष्ठायां धर्मचारिण्यां महिष्यां गर्भ माद्धे ॥ ८ ॥ प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम् । क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे च नृपसत्तमः ॥ ९ ॥ सावित्र्या प्रीतया दत्ता सावित्र्या हुतयाह्यपि । सावित्रीत्येव नामास्याश्चक्रुर्विप्रास्तथा पिता ॥ १० ॥ सा विग्रहवतीव श्रीर्व्यवर्धत नृपात्मजा । कालेन चापि सा कन्या यौवनस्था बभूव ह ॥ ११ ॥ तां सुमध्यां पृथुश्रोणीं प्रतिमां काञ्चनीमिव । प्राप्तेयं देव कन्येति दृष्ट्वा संमेनिरे जनाः ॥ १२ ॥ तां तु पद्मपलाशाक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा । न कश्चिद् वरयामास तेजसा प्रतिवारितः ॥ १३ ॥ यौवनस्थां तु तां दृष्ट्वा स्वां सुतां देवरूपिणीम् । अयाच्यमानां च वरैर्नृपतिर्दुःखितोऽभवत् ॥१४॥

अर्थ—कुछ काल बीतने पर दृढव्रती उस राजा ने अपने साथ धर्मानुष्ठान करने वाली बड़ी रानी में गर्भाधान किया ॥८॥ उसने समय प्राप्त होने पर कमलनयनी कन्या को जन्म दिया, हर्ष से भरे राजा ने उसके जात कर्मादि संस्कार किये ॥ ९ ॥ सावित्री ने प्रसन्न होकर यह कन्या दी है, इस से ब्राह्मणों ने और पिता ने सावित्री ही उस का नाम रखा ॥ १० ॥ देह धार कर आई लक्ष्मी के समान वह राजपुत्री क्रम से बढ़ने लगी, और

समय पाकर यौवनवती हुई ॥ ११ ॥ पतली कमर वाली स्थूल जघन वाली सुवर्ण की घड़ी हुई मूर्ति के समाना उस कन्या को देख कर लोग समझते थे, कि यह कोई देव कन्या आई है।१२। पद्मपत्र तुल्य नेत्र वाली और अपने तेज से मानों जलती हुई उस को कोई वरने के लिये तय्यार न हुआ, क्योंकि उस के तेज के सामने कोई ठहर नहीं सकता था ॥ १३ ॥ दिव्य रूप वाली अपनी पुत्री को यौवनवती देख, और उस के योग्य कोई वर न पाकर राजा दुःखित हुआ ॥ १४ ॥

मूल-राजोवाच—पुत्रि प्रदान कालस्ते न च कश्चिद् वृणोति माम्। स्वयमन्विच्छ भर्तारं गुणैः सदृश मात्मनः ॥ १५ ॥ अप्रदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः । मृते भर्तारि पुत्रश्च वाच्यो मातुर रक्षिता ॥ १६ ॥ इदं मे वचनं श्रुत्वा भर्तुरन्वेषणे त्वर । देवतानां यथा वाच्यो न भवेयं तथा कुरु ॥ १७ ॥ एवमुक्त्वा दुहितरं तथा वृद्धांश्च मन्त्रिणः । व्यादिदेशानुयात्रं च गम्यतां चेत्यचोदयत् ॥ १८ ॥ साऽभिवाद्य पितुः पादौ व्रीडितेव तपस्विनी । पितुर्वचन माज्ञाय निर्जगामा विचारितम् ॥ १९ ॥ स हैमं रथमास्थाय स्थविरैः सचिवैर्वृता । तपोवनानि रम्याणि राजर्षीणां जगाम ह ॥ २० ॥

अर्थ--राजा बोले—हे पुत्रि ! तेरे अब देने का समय है, और मुझ से कोई तेरे वरने को नहीं कहता है, इस कारण तुम आप ही अपने गुणों के सदृश पति को ढूंढलो ॥ १५ ॥ समय पर न देने वाला (विवाह देने वाला) पिता निन्दा के योग्य होता है, (ऋतुकाल में) पास न जाने वाला पति निन्दा के योग्य होता है, पति के मरने पर रक्षा न करने वाला पुत्र नि-

न्दा के योग्य होता है ॥ १६ ॥ मेरे इस वचन को सुन कर पति के ढूंढने में जल्दी करो, जिससे मैं देवताओं का निन्दनीय न बनूं, वैसे तुझे करना चाहिये ॥ १७ ॥ पुत्री को ऐसा कह कर वृद्ध मन्त्रियों को यात्रा की सामग्री इकट्ठी करने की आज्ञा दी, और जाने की प्रेरणा की ॥ १८ ॥ वह तपस्विनी लज्जा युक्त हुई पिता के चरणों को प्रणाम कर पिता के वचन को मान कोई मन में संशय न लाकर चली ॥ १९ ॥ वह सुनहले रथ पर चढ़ कर वृद्ध मन्त्रियों से युक्त हुई राजऋषियों के सुहावने तपो वनों को गई ॥ २० ॥

अ० ३४ (व० २९४) सावित्री का स्वयंवर

मूल—अथ मद्राधिपो राजा नारदेन समागतः । उपविष्टः सभामध्ये कथायोगेन भारत ॥ १ ॥ ततोऽभिगम्य तीर्थानि सर्वाण्येवा श्रमांस्तथा । आजगाम पितुर्वेश्म सावित्री सह मन्त्रिभिः ॥ २ ॥ सा ब्रूहि विस्तरेणेति पित्रा संचोदिता शुभा । दैव तस्येव वचनं प्रतिगृह्येद मब्रवीत् ॥ ३ ॥ आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथिवीपतिः । द्युमत्सेन इति ख्यातः पश्चाच्चान्धो बभूव ह ॥ ४ ॥ विनष्ट चक्षुषस्तस्य बाल पुत्रस्य धीमतः । सामीप्येन हृतं राज्यं छिद्रेऽस्मिन् पूर्व वैरिणा ॥ ५ ॥ स बालवत्सया सार्धं भार्यया प्रस्थितो वनम् । महारण्यं गतश्चापि तपस्तेपे महाव्रतः ॥ ६ ॥ तस्य पुत्रः पुरे जातः संवृद्धश्च तपोवने । सत्यवाननुरूपो मे भर्तेति मनसा वृतः ॥ ७ ॥

अर्थ—एक समय मद्रराज अपनी सभा में नारद के साथ बैठे वार्तालाप कर रहे थे ॥ १ ॥ कि सब तीर्थों और आश्रमों

में घूम कर सावित्री मन्त्रियों सहित पिता के घर आ पहुंची ॥२॥ तब उस कल्याणी से पिता ने कहा, विस्तार से सारी बात कहो, वह उसे देवाज्ञा के तुल्य मान यह बोली ॥ ३ ॥ शाल्व देश में धर्मात्मा क्षत्रिय राजा द्युमत्सेन नाम से प्रसिद्ध थे, वह पीछे नेत्र-हीन होगए ॥ ४ ॥ उसके नेत्र नष्ट होगए और पुत्र अभी छोटा बाल था, तब इस छिद्र में समीपवर्ती एक पुराने वैरी ने राज्य छीन लिया ॥५ ॥ वह छोटे बच्चे और पत्नी को संग लिये वन को चले गए, और महा वन में जाकर दृढव्रती हो तपस्या करने लगे ॥ ६ ॥ उन का पुत्र सत्यवान् जो पुर में जन्मा और तपोवन में बढ़ा है, वह मेरे योग्य पति है, उसे मैंने अपने मन से वर लिया है ॥ ७ ॥

मूल—नारद उवाच—सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते । तथाऽस्य ब्राह्मणाश्चक्रुर्नामैतत् सत्यवानिति ॥ ८ ॥ बालस्याश्वाः प्रियाश्चास्य करोत्यश्वांश्च मृन्मयान् । चित्रेपिविलिखत्यश्वां श्चित्राश्व इति चोच्यते ॥ ९ ॥ राजोवाच—अपीदानीं स तेजस्वी बुद्धिमान् वा नृपात्मजः । क्षमावानपिवा शूरः सत्यवान् पितृवत्सलः ॥ १० ॥ नारद उवाच—विवस्वानिव तेजस्वी बृहस्पति समो मतौ । महेन्द्र इव वीरश्च वसुधेव क्षमान्वितः॥११॥ अश्वपतिरुवाच—अपिराजात्मजो दाता ब्रह्मण्यश्चापि सत्यवान् । रूपवानप्युदारोवाप्यथवा प्रियदर्शनः ॥ १२ ॥ नारद उवाच—सांकृते रन्ति देवस्य स्वशक्त्या दानतः समः । ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शिवि रौशीनरो यथा ॥ १३ ॥ ययातिरिव चोदारः सोमवत् प्रियदर्शनः । रूपेणान्यतमोऽश्विभ्यां द्युमत्सेन सुतो बली ॥ १४ ॥ स दान्तः स मृदुः शूरः स सत्यः संयतेन्द्रियः । स मैत्रः सोऽनसू-

यश्च स ह्रीमान् द्युतिमांश्च सः ॥ १५ ॥ नित्यशश्चार्जवं तस्मिन् स्थितिस्तस्यैव च ध्रुवा।संक्षेपतस्तपो वृद्धैःशील वृद्धैश्च कथ्यते।१६।

अर्थ—नारद बोले-उस का पिता सदा सत्य बोलता है, और माता सदा सत्य बोलती है, इस लिये ब्राह्मणों ने उस का नाम सत्यवान् रक्खा ॥ ८ ॥ इस बालक को घोड़े बहुत प्यारे थे, यह मट्टी के घोड़े बनाया करता था, और घोड़ों के चित्र खींचा करता था, इस से वह चित्राश्व कहलाया ॥ ९ ॥ राजा बोले-हे नारद ! क्या वह राजपुत्र तेजस्वी, बुद्धिमान्, क्षमावान्, सत्यवान् और माता पिता का प्यारा है ॥ १० ॥ नारद बोले-सूर्य के समान तेजस्वी, बृहस्पति के समान बुद्धिमान्, इन्द्र के समान वीर और पृथिवी के सदृश क्षमाशील है ॥ ११ ॥ अश्वपति बोले—क्या वह राजपुत्र सत्यवान् दाता, ब्राह्मण भक्त, रूपवान्, उदार हृदय और सब को प्यारा लगने वाला है ॥ १२ ॥ नारद बोले-संकृति के पुत्र रन्तिदेव के समान अपनी शक्ति अनुसार दाता है, ब्राह्मण भक्त, और उशीनर के पुत्र शिवि तुल्य सत्यवादी है ॥ १३ ॥ ययाति के तुल्य उदार हृदय है, चन्द्र तुल्य प्यारा लगने वाला है, रूप में अश्वियों के तुल्य है ॥ १४ ॥ वह सिधा हुआ, नम्र, शूर वीर, सच्चा, जितेन्द्रिय, सब का मित्र, असूया से रहित, ह्री (गैरत) वाला, कान्ति वाला है ॥ १५ ॥ संक्षेप से तपो वृद्ध और शील वृद्ध उस में सरलता और मर्यादा में रहना अटल बतलाते हैं ॥ १६ ॥

मूल—अश्वपतिरुवाच-गुणैरुपेतं सर्वैस्तं भगवन् प्रब्रवीषि मे। दोषानप्यस्य मे ब्रूहि यदि संतीह केचन ॥ १७ ॥ नारद उवाच-एक एवास्य दोषोहि गुणानाक्राम्य तिष्ठति। संवत्सरेण

क्षीणायुर्देह न्यासं करिष्यति ॥ १८ ॥ राजोवाच—एहि सावित्रि गच्छस्व अन्यं वरय शोभने । तस्य दोषो महानेको गुणाना क्रम्य च स्थितः ॥ १९ ॥ सावित्र्युवाच—सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते । सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥ २० ॥ दीर्घायुरथवाऽल्पायुः सगुणो निर्गुणोपि वा । सकृद् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ॥ २१ ॥ मनसा निश्चितं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते । क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः ॥ २२ ॥ नारद उवाच—स्थिरा बुद्धिर्नरश्रेष्ठ सावित्र्या दुहितुस्तव । प्रदानमेव तस्मान्मे रोचते दुहितुस्तव ॥ २३ ॥ साधयिष्याम्यहं तावत् सर्वेषां भद्रमस्तु वः ॥ २४॥

अर्थ—अश्वपति बोले—हे भगवन् ! आपने सब गुणों से युक्त उस बालक को कहा, अब उस में कोई दोष हैं, तो वह भी कहिये ॥ १७ ॥ नारद बोले—एक ही इस का दोष है, जो इन सारे गुणों को दबा लेता है, वह यह, कि एक वर्ष में आयु क्षीण होजाने से देह त्याग करेगा ॥ १८ ॥ राजा बोले—हे सावित्रि ! तुम जाओ, और दूसरा वरो, उस का एक ही भारी दोष सारे गुणों को दबा कर स्थित है ॥ १९ ॥ सावित्री बोली-एक ही वार विभाग होता है, एक वार कन्या दी जाती है, एक ही वार दान दिया जाता है, यह तीनों एक २ वार होते हैं।२०। दीर्घायु वा अल्पायु, सगुण वा निर्गुण, एक बार जब मैंने वर लिया है, अब दूसरा मैं नहीं वरती ॥ २१ ॥ मन से पहले निश्चित करके फिर वाणी से कहा जाता है, पीछे कर्म से किया जाता है, इससे मुझे मन प्रमाण है ॥ २२ ॥ नारद बोले—' हे नरश्रेष्ठ ! तेरी कन्या सावित्री की बुद्धि स्थिर है, इस से कन्या

का दान ही मुझे पसन्द है ॥ २३ ॥ मैं अब जाऊंगा, आप सब का कल्याण हो ॥ २४ ॥

अ० ३५ (व० २९५-२९६) सावित्री का गृहाश्रम

मूल—मेधारण्यं स गत्वा च द्युमत्सेनाश्रमं नृपः। सत्यवन्तं समुद्दिश्य सर्व मेव न्यवेदयत् ॥ १ ॥ सावित्री नाम राजर्षे कन्येयं मम शोभना। तां स्वधर्मेण धर्मज्ञ स्नुषार्थे त्वं गृहाण मे॥ २ ॥ द्युमत्सेन उवाच—च्युताः स्म राज्याद् वनवास माश्रिताश्चिराय धर्म नियतास्तपस्विनः। कथं त्वनर्हा वनवास माश्रमे निवत्स्यते क्लेशमिमं सुता तव ॥ ३ ॥ अश्वपतिरुवाच—सुखं च दुःखं च भवाभवात्मकं यदा विजानाति सुताऽहमेव च। न मद्विधे युज्यति वाक्यमीदृशं विनिश्चयेनाभिगतोऽस्मि ते नृप ॥ ४ ॥ अनुरूपो हि युक्तश्च त्वं ममाहं तवापि च। स्नुषां प्रतीच्छ मे कन्यां भार्यां सत्यवतस्ततः ॥ ५ ॥ ततः सर्वान् समानाय्य द्विजानाश्रम वासिनः। यथाविधि समुद्वाहं कारयामासतुर्नृपौ ॥ ६ ॥ दत्त्वा सोऽश्वपतिः कन्यां यथार्हं सपरिच्छदम्। ययौ स्वमेव भवनं युक्तः परमया मुदा ॥ ७ ॥

अर्थ—तब राजा अश्वपति पवित्र वन में द्युमत्सेन के आश्रम में गए, और सत्यवान् को लक्ष्य रख अपना सारा अभिप्राय निवेदन किया ॥ १ ॥ हे राजर्षे ! यह सुन्दर सावित्री मेरी कन्या है, हे धर्मज्ञ ! इसे अपने धर्मानुसार पुत्र वधू बनाने के लिये स्वीकार कीजिये ॥ २ ॥ द्युमत्सेन बोले—हम राज्य से भ्रष्ट हुए वन में रहते हैं, नियमसे तपस्वि धर्म का पालन करते हैं, कैसे वनवास के अयोग्य यह तेरी कन्या आश्रम वास का

क्लेश उठाएगी ॥ ३ ॥ अश्वपति बोले—सुख दुःख कल्याण अकल्याण मेरी कन्या समझती है और मैं भी समझता हूं; आप मुझसे इस प्रकार की बात न कहिये, हे राजन् ! मैं तेरे पास निश्चय से आया हूं ॥ ४ ॥ हे राजन् ! आप मेरे सदृश हैं, अतएव योग्य हैं, मैं भी आप के योग्य हूं, सो मेरी कन्या को आप अपनी स्नुषा सत्यवान् की पत्नी बनावें ॥ ५ ॥ तब उन दोनों नृपों ने आश्रमवासी द्विजों को बुला कर विधिपूर्वक विवाह कराया ॥ ६ ॥ अश्वपति यथा योग्य सामान सहित कन्यादान करके परम प्रसन्न हुआ अपने घर को गया ॥ ७ ॥

मूल—सत्यवानपि तां भार्यां लब्ध्वा सर्वगुणान्विताम्। मुमुदे सा च तं लब्ध्वा भर्तारं मनसेप्सितम् ॥ ८ ॥ गते पितरि सर्वाणि संन्यस्या भरणानि सा । जगृहे वल्कलान्येव वस्त्रं काषायमेव च ॥ ९ ॥ परिचारैर्गुणैश्चैव प्रश्रयेण दमेन च । सर्वकाम क्रियाभिश्च सर्वेषां तुष्टि मादधे ॥ १० ॥ श्वश्रूं शरीर सत्कारैः सर्वैराच्छादनादिभिः । श्वशुरं देवसत्कारैर्वाचः संयमनेन च॥११॥ तथैव प्रियवादेन नैपुणेन शमेन च । रहश्चैवोपचारेण भर्तारं पर्यतोषयत् ॥ १२ ॥ एवं तत्रा श्रमे तेषां तदा निवसतां सताम् । कालस्तपस्यतां कश्चिदपाक्रामत भारत ॥ १३ ॥

अर्थ—सत्यवान् सर्वगुण युक्त भार्या को पाकर प्रसन्न हुए और सावित्री मन चाहे पति को पाकर प्रसन्न हुई ॥ ८ ॥ (सावित्री के) पिता जब घर को चले गए, तो सावित्री ने सारे भूषण उतार दिये, और बकले और गेरू रंगे वस्त्र पहन लिये ॥ ९ ॥ सावित्री सेवा से गुणों से, नम्रता से, तपस्या से और (पूज्यों की) इच्छानुसार सारे कार्य करने से सब को

प्रसन्न करने लगी ॥ १० ॥ सास को शरीर सेवा (न्हलाना आदि) और वस्त्रादि से, और ससुर को देव सेवा और बोलने के संयम से, और पति को मीठा बोलने, समझ बूझ कर काम करने, परिश्रम, और एकान्तसेवन से प्रसन्न करने लगी ॥११-१२ ॥ हे भारत ! इस प्रकार आश्रम में रह कर तप करते हुए उन सब को कुछ काल बीत गया ॥ १३ ॥

मूल—गणयन्त्याश्च सावित्र्या दिवसे दिवसे गते । यद्वाक्यं नारदेनोक्तं वर्तते हृदि नित्यशः ॥ १४ ॥ चतुर्थेऽहनिमर्तव्य मिति सञ्चिन्त्य भाविनी । व्रतं त्रिरात्रमुद्दिश्य दिवारात्रं स्थिताऽभवत् ॥ १५ ॥ श्वोभूते भर्तृमरणे सावित्र्या भरतर्षभ । दुःखान्वितायास्तिष्ठन्त्याः सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ १६ ॥ अद्यतद् दिवसं चेति हुत्वादीप्तं हुताशनम् । युग मात्रोदिते सूर्ये कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ॥ १६ ॥ ततः सर्वान् द्विजान् वृद्धान् श्वश्रूं श्वशुरमेव च । अभिवाद्यानु पूर्व्येण प्राञ्जलिर्नियता स्थिता॥१८॥ अवैधव्याशिषस्तेतु सावित्र्यर्थं हिताः शुभाः । ऊचुस्तपस्विनः सर्वे तपोवन निवासिनः ॥ १९ ॥ श्वशुरावूचतुः—व्रतं यथोपदिष्टं तु तथा तत्पारितं त्वया । आहारकालः संप्राप्तः क्रियतां यदनन्तरम् ॥ २० ॥ सावित्र्युवाच—अस्तं गते मयादित्ये भोक्तव्यं कृत कामया । एष मे हृदि संकल्पः समयश्च कृतो मया ॥ २१ ॥

अर्थ—पर यह काल सावित्री को दिन २ गिनते बीता, उस के हृदय में वह बात सदा घूमती रहती, जो नारद ने कही थी ॥ १४ ॥ जब सावित्री ने जाना कि आज से चौथे दिन उस का स्वामी मर जायगा, तब वह तीन दिन का व्रत धारकर खड़ी रही ॥ १५ ॥ जब अगला दिन पति के मरने का था, वह दुःख

भरी रात भी सावित्री ने खड़े २ बिताई ॥ १६ ॥ आज वह दिन है, यह विचार सवेरे ही अग्नि प्रज्वलित करके होम किया, और सवेरे के सारे कर्म चार हाथ सूर्य चढ़ते तक समाप्त कर लिये ॥ १७ ॥ तिस पीछे सकल वृद्ध ब्राह्मण और सास ससुर को प्रणाम करके हाथ जोड़ कर सावित्री सामने खड़ी हुई॥१८॥ तपोवन वासी उन सब तपस्वियों ने सावित्री के लिये यह शुभ असीसें दीं, कि तू कभी विधवा न होगी ॥ १९ ॥ सास ससुर बोले—जैसा तुमने व्रत लिया था, सो पूरा कर दिया, अब आ-हार का समय आया है, आहार करो ॥ २० ॥ सावित्री बोली-सूर्य अस्त होने पर जब मेरी कामना पूरी होगी, तब भोजन करूंगी, यह मेरे हृदय में संकल्प है, और मैंने प्रतिज्ञा की है।२१।

मूल—एवं संभाषमाणायाः सावित्र्या भोजनं प्रति। स्कन्धे परशुमादाय सत्यवान् प्रस्थितो वनम् ॥ २२ ॥ सावित्री त्वाह भर्तारं नैकस्त्वं गन्तु मर्हसि। सह त्वया गमिष्यामि न हि त्वां हातु मुत्सहे ॥ २३ ॥ उपवासान्न मे ग्लानिर्नास्ति चापि परि-श्रमः। गमने च कृतोत्साहां प्रतिषेद्धुं न मार्हसि ॥ २४ ॥ सत्य-वानु वाच—यदि गमनोत्साहस्ते करिष्यामि तव प्रियम्। ममत्वा मन्त्रय गुरून् न मां दोषः स्पृशेदयम् ॥ २५ ॥ साऽभिवाद्या ब्रवीच्छ्वश्रूं श्वशुरं च महाव्रता। अयं गच्छति मे भर्ता फला-हारो महावनम् ॥ २४ ॥ इच्छेय मभ्यनुज्ञाता आर्यया श्वशुरेण ह। अनेन सह निर्गन्तुं न मेऽद्य विरहः क्षमः ॥ २७ ॥ उभा-भ्या मभ्यनुज्ञाता सा जगाम यशस्विनी। सह भर्त्रा हसन्तीव हृदयेन विदूयता ॥ २८ ॥

अर्थ—भोजन के लिये जब सावित्री यह कह रही थी,

उसी समय सत्यवान् कन्धे पर कुल्हाड़ा रख कर वन को चले ॥ २२ ॥ सावित्री भर्ता से बोली, आप अकेले वन में जाने योग्य नहीं हैं, मैं आप के संग चलूंगी, आप को छोड़ नहीं सकती हूं ॥ २३ ॥ उपवास से मुझे कोई मुरझाहट वा परिश्रम नहीं हुआ है, चलने में उत्साह है, आप मुझे रोकने योग्य नहीं हैं ॥ २४ ॥ सत्यवान् बोले-यदि चलने में उत्साह है, तो मैं वही करूंगा, जो तुम्हें प्रिय है, किन्तु मेरे माता पिता से आज्ञा ले लो, जिससे मुझे दोष न लगे ॥ २५ ॥ तब उस महाव्रता ने सास ससुर को प्रणाम करके कहा, यह मेरे स्वामी फल लाने के लिये वन को जाते हैं, सास ससुर की आज्ञा से मैं भी वन को जाना चाहती हूं. मुझे आज अलग रहना उचित नहीं है ॥२७॥ दोनों से आज्ञा पाकर वह यशस्विनी बाहर हंसती हुई अन्दर से दुःखित हुई भर्ता के साथ गई ॥ २८ ॥

अ० ३६ (व० २९७-) यम सावित्री संवाद

मूल-अथ भार्या सहायः स फलान्यादाय वीर्यवान् । कठिनं पूरयामास ततः काष्ठान्यपातयत् ॥ १ ॥ तस्य पाटयतः काष्ठं स्वेदो वै समजायत । व्यायामेन च तेनास्य जज्ञे शिरसि वेदना ॥ २ ॥ सोऽभिगम्य प्रियां भार्यामुवाच श्रमपीडितः । व्यायामेन ममानेन जाता शिरसि वेदना ॥ ३ ॥ शूलै रिव शिरो विद्ध मिदं संलक्षयाम्यहम् । तत् स्वप्तु मिच्छे कल्याणि न स्थातुं शक्तिरस्ति मे ॥ ४ ॥ सा समासाद्य सावित्री भर्तारमुपगम्य च । उत्संगेऽस्य शिरः कृत्वा निषसाद महीतले ॥ ५ ॥ मुहूर्तादेव चापश्यत् पुरुषं रक्तवाससम् । बद्ध मौलिं वपुष्मन्त

मादित्यसमतेजसम् ॥ ६ ॥ श्यामावदातं रक्ताक्षं पाश हस्तं भयावहम् । स्थितं सत्यवतः पार्श्वे निरीक्षन्तं तमेव च ॥ ७ ॥ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय भर्तुर्न्यस्य शनैः शिरः । कृताञ्जलिरुवाचार्ता हृदयेन प्रवेपती ॥ ८ ॥ दैवतं त्वाभिजानामिवपुरेतद्ध्य मानुषम् । कामया ब्रूहि देवेश कस्त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ९ ॥

अर्थ—अब भार्या के साथ सत्यवान् ने फल ले कर टोकरी भरली, पीछे लकड़ी तोड़ने लगा ॥ १ ॥ लकड़ी तोड़ते हुए उसे पसीना आगया, और उस व्यायाम से सिर में पीड़ा होने लगी ॥ २ ॥ तब वह थकावट से पीड़ित हुआ अपनी प्यारी स्त्री के पास आकर बोला, इस व्यायाम से मेरे सिर में पीड़ा होने लग गई है॥ ३ ॥ मुझे ऐसा प्रतीत होता है, मेरा यह सिर मानों सूलों से वींधा गया है, हे कल्याणि मैं लेटना चाहता हूं, खड़ा रहने की मुझ में शक्ति नहीं है ॥ ४ ॥ सावित्री भर्ता के निकट जाकर उसके सिर को अपनी जांघ पर रख कर भूमि पर बैठ गई ॥ ५ ॥ थोड़ा ही समय पीछे उसने लाल वस्त्र वाले मुकट बांधे हुए सूर्य तुल्य तेज वाले काले दांतों वाले लाल नेत्रों वाले हाथ में फांस लिये सत्यवान् के पास खड़े और उसी पर दृष्टि डाले हुए बड़े डील डौल वाले एक भयावने पुरुष को देखा ॥ ६–७ ॥ उसे देख वह धीरे २ पति के सिर को नीचे रख कर झट उठ खड़ी हुई, उस का हृदय धड़कने लगा, दुःखित हुई, हाथ जोड़ यह वचन बोली ॥ ८ ॥ मैं आप को देवता जानती हूं, यह शरीर मनुष्य का नहीं है, हे देवेश ! यथेच्छ कहिये, आप कौन हैं, क्या करना चाहते हैं ॥ ९ ॥

मूल—यम उवाच—पतिव्रतासि सावित्रि तथैव च तपोऽन्विता।

अतस्त्वामभि भाषामि विद्धि मां त्वं शुभे यमम् ॥ १० ॥ अयं ते सत्यवान् भर्ता क्षीणायुः पार्थिवात्मजः । नेष्यामि तमहं बध्वा विद्ध्येतन्मे चिकीर्षितम् ॥ ११ ॥ सावित्र्युवाच—श्रूयते भगवन् दूतास्तवागच्छन्ति मानवान् । नेतुं किल भवान् कस्मादागतोऽसि स्वयं प्रभो ॥ १२ ॥ यम उवाच—अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान् गुणसागरः । नार्हो मत्पुरुषैर्नेतु मतोऽस्मि स्वयमागतः॥१३॥ ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम् । अंगुष्ठ मात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥ १४ ॥ ततः समुद्धृत प्राणं गतश्वासं हतप्रभम् । निर्विचेष्टं शरीरं तद् बभूवा प्रियदर्शनम् ॥ १५ ॥ यमस्तु तं ततो बध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः । सावित्री चैव दुःखार्ता यममेवान्वगच्छत॥ १६ ॥

अर्थ—यम बोले-हे सावित्रि ! तुम पतिव्रता हो, और तप से युक्त हो, इस लिये तेरे साथ बोलता हूं, हे कल्याणि मुझे यम समझ ॥ १० ॥ इस तेरे पति राजपुत्र सत्यवान् की आयु पूरी होचुकी, मैं इसे बांध कर लेजाना चाहता हूं, यह मेरा करने का काम जान ॥ ११ ॥ सावित्री बोली—हे भगवन् ! सुना जाता जाता है, कि मनुष्यों के ले जाने को आप के दूत आते हैं, तो हे प्रभो ! आप स्वयं किस कारण से आए ॥ १२ ॥ यम बोले—यह धर्मी रूपवान् गुणों का सागर मेरे दूतों से ले जाने योग्य नहीं था, इस कारण से मैं स्वयं आया हूं ॥ १३ ॥ तिस पीछे यम ने सत्यवान् के शरीर से अंगुष्ठ मात्र पुरुष (सूक्ष्म शरीर) को बलात् फांस से बांध कर वश करके बाहर निकाला ॥ १४ ॥ तब वह शरीर, जिस से प्राण निकलगए, सांस बन्द होगया, कान्ति उड़ गई, सारी चेष्टाओं से रहित अप्रियदर्शन

होगया ॥ १५ ॥ यम उसको बांध कर दक्षिण की ओर चले, और दुःखार्त सावित्री भी यम के पीछे २ चली ॥ १६ ॥

मूल—यम उवाच-निवर्त गच्छ सावित्रि कुरुष्वास्यौर्ध्वदेहिकम् । कृतं भर्तुस्त्वयाऽनृण्यं यावद् गम्यं गतं त्वया ॥ १७ ॥ सावित्र्युवाच—यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति । मया च तत्र गन्तव्य मेष धर्मः सनातनः ॥ १८ ॥ तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद् व्रतेन च । तव चैव प्रसादेन न मे प्रति हता गतिः ॥ १९ ॥ प्राहुः साप्तपदं मैत्र बुधास्तत्त्वार्थ दर्शिनः । मित्रतां च पुरस्कृत्य किञ्चिद् वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २० ॥ नाऽनात्मवन्तस्तु वने चरन्ति धर्मं च वासं च परिश्रमं च । विज्ञानतो धर्ममुदा हरन्ति तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥ २१ ॥ एकस्य धर्मेण सतां मतेन सर्वेस्म तं मार्ग मनु प्रपन्नाः । मा वै द्वितीयं मा तृतीयं च वाञ्छेत् तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥ २२ ॥

अर्थ—यम बोले—हे सावित्रि ! जहां तक गति होसकती थी, तूने पति का साथ दिया है, तूने पति का ऋण चुका दिया, अब तू लौट जा और इस का और्ध्वदेहिक कर्म (मरने के पीछे का कर्म) कर ॥ १७ ॥ सावित्री बोली—जहां मेरा पति लेजाया जाए, वा स्वयं जाए, वहीं मुझे भी जाना चाहिये, यह सनातन धर्म है ॥ १८ ॥ तप, गुरु भक्ति, पति का स्नेह, व्रत, और आप की कृपा से मेरी गति रुक नहीं सकती है ॥ १९ ॥ तत्त्व के जानने वाले पण्डित सात पद साथ चलने में मैत्री मानते हैं, सो मैं मित्रता का मान करके जो कहती हूं, उसे सुनिये ॥ २० ॥ अजितेन्द्रिय पुरुष न वन में रहते (वानप्रस्थ होसकते), न धर्म करते, न गुरुकुलवास करते, न परिश्रम करते हैं, विज्ञान से धर्म

बतलाते हैं, इस लिये सत्पुरुष धर्म को ही प्रधान कहते हैं॥२१॥
सत्पुरुष जिसको मानते हैं, वह एक धर्म है, जिस से उस मार्ग
पर चलते हैं। दूसरे वा तीसरे मार्ग की इच्छा न करे, इस लिये
सत्पुरुष धर्म को प्रधान कहते हैं ॥ २२ ॥

मूल—यम उवाच—निवर्त तुष्टोऽस्मितवानयागिरा स्वराक्षर
व्यञ्जन हेतु युक्तया। वरं वृणीष्वेह विनाऽस्य जीवितं ददामिते
सर्व मनिन्दिते वरम् ॥ २३ ॥ सावित्र्युवाच—च्युतः स्वराज्याद्
वनवास माश्रितो विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाश्रमे। स लब्ध चक्षुर्व-
लवान् भवेन्नृपस्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसन्निभः ॥ २४ ॥ यम
उवाच—ददानितेऽहं तमनिन्दिते वरं यथा त्वयोक्तं भविता च
तत् तथा। तवाध्वना ग्लानि मिवोपलक्षये निवर्त गच्छस्व न ते
श्रमो भवेत् ॥ २५ ॥ सावित्र्युवाच—श्रमः कुतो भर्तृसमीपतोहि मे
यतो हि भर्ता मम सा गतिर्ध्रुवा। यतः पतिं नेष्यसि तत्र मे गतिः
सुरेश भूयश्च वचो निबोधमे ॥ २६ ॥ सतां सकृत् संगत मीप्सितं
परं ततः परं मित्र मिति प्रचक्षते। न चाफलं सत्पुरुषेण संगतं ततः
सतां संनिवसेत् समागमे ॥ २७ ॥

अर्थ—यम बोले—हे अनिन्दिते! स्पष्ट स्वर और व्यञ्जनों
से युक्त तेरी इस वाणी से प्रसन्न हुआ हूं, इस के जीवन के विना
कोई वर मांगो, सब तुझे दूंगा ॥ २३ ॥ सावित्री बोली—मेरा
ससुर जिसकी आंखें खोई गईं, राज्य से भ्रष्ट हुआ, वनवास ले
कर आश्रम में रहता है, वह तेरी कृपा से नेत्रों को पाकर अग्नि
और सूर्य के तुल्य तेजस्वी बलवान् राजा हो ॥ २४ ॥ यम
बोले—हे अनिन्दिते! तुझे यही वर देता हूं, जो तुमने कहा, वह
ठीक होगा, मार्ग चलने से तुम्हें थकावट सी प्रतीत करता हूं,

लौट जाओ, तुम्हें बहुत थकावट न हो ॥ २५ ॥ सावित्री बोली-पति के समीप होते मुझे कोई थकावट नहीं, क्योंकि पति ही मेरा निश्चित सहारा है, जहां मेरे पति को लेजाओगे, वहीं जाउंगी, हे देवेश ! मेरी एक और बात पर ध्यान दीजिये॥२६॥ सत्पुरुषों से एक वार समागम भी बड़ा उत्तम है, उससे बढ़कर सत्पुरुषों की मित्रता कहते हैं, सत्पुरुषों का संग निष्फल नहीं जाता।, इस लिये सत्पुरुषों के समागम में रहना चाहिये॥ २७ ॥

मूल-यम उवाच-मनोऽनुकूलं बुध बुद्धि वर्धनं त्वया यदुक्तं वचनं हिताश्रयम्। विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि ॥ २८ ॥ साविञ्युवाच-हृतं पुरामे श्वशुरस्य धीमतः स्वमेव राज्यं लभतां स पार्थिवः। जह्याव स्वधर्मान्न च मे गुरुर्यथा द्वितीयमेतद् वरयामि ते वरम् ॥ २९ ॥ यम उवाच-स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यतेऽचिरान्न च स्वधर्मात्परिहास्यते नृपः। कृतेन कामेन मया नृपात्मजे निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत्॥३०॥

अर्थ-यम बोले-हे सुन्दरि ! तुमने जो वचन कहा, यह मन के अनुकूल, पण्डितों की बुद्धि का बढ़ाने वाला और हितकारी है, सो सत्यवान् के जीवन के विना (जो चाहो) दूसरा वर मांगो ॥ २८ ॥ सावित्री बोली-मेरे बुद्धिमान् ससुर का जो राज्य छीना गया है, उसी अपने राज्य को वह राजा फिर प्राप्त हो, और मेरे ससुर धर्म पर दृढ रहें, यह मैं दूसरा वर आप से वरती हूं ॥ २९ ॥ यम बोले—हे राजपुत्रि ! जल्दी वह राजा अपने राज्य को फिर पाएगा, और न कभी अपने धर्म से गिरेगा, अब तुम इस पूर्ण इच्छा के साथ लौट जाओ, तुम्हें थकावट न हो ॥ ३० ॥

मूल-सावित्र्युवाच-अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ ३१ ॥ एवं मायश्च लोकोऽयं मनुष्याः शक्तिपेशलाः। सन्तस्त्वेवाप्य मित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते ॥ ३२ ॥ यम उवाच—पिपासितस्येव भवेद् यथा पयस्तथा त्वया वाक्यमिदं समीरितम्। विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं वृणीष्वेह शुभे यदिच्छसि ॥ ३३ ॥ सावित्र्युवाच-ममानपत्यः पृथिवीपतिः पिता भवेत् पितुः पुत्र शतं तथौरसम्। कुलस्य सन्तानकरं च यद् भवेत् तृतीयमेतद् वरयामि ते वरम् ॥३४॥ यम उवाच-कुलस्य सन्तान करं सुवर्चसं शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे। कृतेन कामेन नराधिपात्मजे निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ३५ ॥

अर्थ—सावित्री बोली-मन वचन और काय से किसी का द्रोह न करना, सब पर दया करना, दान देना, यह सत्पुरुषों का सनातन धर्म है ॥ ३१ ॥ जगत् में प्रायः ऐसी अवस्था है, मनुष्य शक्ति में दुर्बल हैं, पर सत्पुरुष शरण आए शत्रुओं पर भी दया करते हैं ॥ ३२ ॥ यम बोले—प्यासे को जैसे, जल मिले वैसा तूने यह वचन बोला है, सो हे शुभे ! तू इस सत्यवान् के जीवन के विना वर मांग जो चाहती है ॥ ३३ ॥ सावित्री बोली—मेरा पिता राजा है, और पुत्र से हीन है, सो मेरे पिता के सौ पुत्र हों, जिन से उस का वंश बढ़े, यह मैं आप से तीसरा वर मांगती हूं ॥ ३४ ॥ यम बोले—हे शुभे ! तेरे पिता के कुल को बढ़ाने वाले सौ तेजस्वी पुत्र होंगे, अब पूर्ण हुई कामना के साथ हे राजपुत्रि ! तू लौटजा, तुझे थकावट न हो ॥ ३५ ॥

मूल—सावित्र्युवाच—आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति

सत्सुयः । तस्माद् सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥ ३६ ॥ सौहृदाद् सर्व भूतानां विश्वासो नाम जायते । तस्माद् सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः ॥ ३७ ॥ यम उवाच—उदाहृतं मे वचनं यदंगने शुभे न तादृक् त्वदृते श्रुतं मया । अनेन तुष्टोऽस्मि विनाऽस्यजीवितं वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च ॥ ३८ ॥ सावित्र्युवाच—ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं भवेदुभाभ्यामिह यद् कुलोद्वहम् । शतं सुतानां बलवीर्य शालिना मिदं चतुर्थं वरयामि ते वरम् ॥ ३९ ॥ यम उवाच—शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां भविष्यति प्रीतिकरं तवाबले । परिश्रमस्ते न भवेन्नृपात्मजे निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ४० ॥

अर्थ—मनुष्यों को जैसा विश्वास सत्पुरुषों के ऊपर होता है, वैसा अपने ऊपर भी नहीं होता । इस लिये सत्पुरुषों के विषय में सब कोई प्रेम चाहता है ॥ ३६ ॥ सौजन्य से सब लोगों का विश्वास हुआ करता है, इस लिये सत्पुरुषों में लोग विशेष करके विश्वास करते हैं ॥ ३७ ॥ यम बोले—हे शुभे ! जो वचन तुमने कहा है, ऐसा मैंने तेरे विना किसी से नहीं सुना है, इससे प्रसन्न हुआ हूं, इस के जीवन के विना चौथा वर मांग और जा ॥ ३८ ॥ सावित्री बोली—बल वीर्यशाली मेरे सौ पुत्र हों, जो सत्यवान् के औरस हों (न कि क्षेत्रज) अर्थात् हम दोनों से हों, जो हमारे कुल को ऊंचा करें, यह मैं चौथा वर मांगती हूं ॥ ३९ ॥ यम बोले—हे अबले ! तेरा आनन्द बढ़ाने वाला बलवीर्य शाली तेरा सौपुत्र होगा, हे राजपुत्रि ! तुझे परिश्रम न हो, लौटजा, तू बहुत दूर आगई है ॥ ४० ॥

मूल—सावित्र्युवाच—सतां सदा शाश्वद्धर्मवृत्तिः सन्तो न

सीदन्ति न च व्यथन्ति । सतां सद्भिर्नाफलः संगमोऽस्ति मद्भयो भयं नानु वर्तन्ति सन्तः ॥ ४१ ॥ सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति । सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन् सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ॥ ४२ ॥ आर्यजुष्ट मिदं वृत्त मिति विज्ञाय शाश्वतम् । सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ति परस्परम्॥४३॥ न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः । यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति॥४४॥

अर्थ—सावित्री बोली—सत्पुरुषों की सदा धर्म में प्रवृत्ति रहती है, सत्पुरुष न फंसते हैं, न दुःखी होते हैं, सत्पुरुषों का सत्पुरुषों से संगम निष्फल नहीं होता है, सत्पुरुषों को सत्पुरुषों से भय नहीं होता है ॥ ४१ ॥ सन्तजन सत्य से सूर्य को चलाते हैं, सन्तजन सत्य से पृथिवी को धारते हैं,सन्तजन भूत भविष्यत् का सहारा हैं, हे राजन् सन्तजनों के मध्य में सन्तजन दुःखी नहीं होते हैं ॥ ४२ ॥ यह बर्ताव सदा से आर्यों का प्यारा है, यह जानकर सन्तजन परोपकार करते हुए प्रत्युपकार की इच्छा नहीं करते हैं ॥ ४३ ॥ सत्पुरुषों का प्रसाद (मेहरबानी) व्यर्थ नहीं जाता, न अर्थ नष्ट होता है, न मान नष्ट होता है, क्योंकि सत्पुरुषों में धर्म सदा बना रहता है, इस लिये सन्त रक्षक होते हैं ॥ ४४ ॥

मूल—यम उवाच—यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं मनोऽनुकूलं सुपदं महार्थवत् । तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा वरं वृणीष्वा प्रतिमं पतिव्रते ॥ ४५ ॥ साविच्युवाच—न तेऽपवर्गः सुकृताद् विना कृतस्तथा यथाऽन्येषु वरेषु मानद । वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं यथा मृताह्येवमहं पतिं विना ॥ ४६ ॥ न कामये भर्तृ विना

कृता सुखं न कामये भर्तृविना कृतादिवम् । न कामये भर्तृ विना कृताश्रियं न भर्तृ हीना व्यवसामि जीवितुम् ॥ ४७ ॥ वराति-सर्गः शतपुत्रता मम त्वयैवदत्तो ह्रियते च मे पतिः । वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं तवैव सत्यं वचनं भविष्यति ॥ ४८ ॥

अर्थ—यम बोले—तुम जैसे २ धर्मयुक्त, मन के अनुकूल, सुन्दर पदों वाला, गम्भीर अर्थ वाला वचन कहती हो, वैसे २ मेरी तुझ में भक्ति ऊंची होती जाती है. हे पतिव्रते ! तुम अतुल्य वर मांगो ॥ ४५ ॥ सावित्री बोली—हे मान देने वाले ! इस वर की समाप्ति "जीवन के विना" नहीं की (=इस वर में सत्यवान् के जीवन से विना वर मांग, यह नहीं कहा) जैसा कि अन्य वरों में की गई, सो मैं वर मांगती हूं, कि यह सत्यवान् जी उठे, जैसा कि मैं भी पति से विना मरी समान हूं ॥ ४६ ॥ मैं पति के विना सुख नहीं चाहती, न पति के विना स्वर्ग चाहती हूं, पति के विना मैं राज्य लक्ष्मी नहीं चाहती, पति के विना मैं जीना ही नहीं चाहती ॥ ४७ ॥ आपने ही तो मुझे (औरस) सौपुत्र का वर दिया है,और मेरे पति को लिये जा रहे हो,सो मैं वर मांगती हूं, यह सत्यवान् जीवे, आप का ही वचन सच्चा होगा ॥ ४८ ॥

मूल—तथेत्युक्त्वा तु तं पाशं मुक्त्वा वैवस्वतो यमः । धर्म-राजः महृष्टात्मा सावित्री मिदमब्रवीत् ॥ ४९ ॥ एष भद्रे मया मुक्तो भर्ता ते कुलनन्दिनि । अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थः स भविष्यति ॥ ५० ॥ चतुर्वर्ष शतायुश्च त्वया सार्धं मवाप्स्यति । इष्ट्वा यज्ञैश्च धर्मेण ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥ ५१ ॥ त्वयि पुत्र शतं चैव सत्यवान् जनयिष्यति । ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्र-

पौत्रिणः ॥ ५२ ॥ ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः । पितुश्च ते पुत्र शतं भविता तव मातरि ॥ ५३ ॥ मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्र पौत्रिणः । भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ॥ ५४ ॥ एवं तस्यै वरं दत्वा धर्मराजः प्रतापवान्। निवर्तयित्वा सावित्रीं स्वमेव भवनं ययौ ॥ ५५ ॥

अर्थ—' तथास्तु ' कह कर और (सत्यवान् की) उस फांस को छोड़ कर सूर्य पुत्र धर्मराज यम प्रसन्न मन हुए सावित्री से बोले ॥ ४९ ॥ हे भद्रे हे कुलनन्दिनि ! यह मैंने तेरा पति छोड़ दिया, यह अरोग रहेगा, तेरा प्रेमी होगा, इस के अर्थ सब पूरे होंगे ॥ ५० ॥ तेरे साथ चार सौ वर्ष की आयु पाएगा, और यथाविधि यज्ञ करके लोक में यश लाभ करेगा ॥ ५१ ॥ तुझ में से सौ पुत्र उत्पन्न करेगा, वह भी सब राजे क्षत्रिय पुत्र पोतों वाले होंगे, जो तेरे नाम से (सावित्र) प्रसिद्ध होंगे, और तेरे पिता का भी तेरी मालवी माता में से सौ पुत्र होगा, वह मालव नाम क्षत्रिय तेरे भाई पुत्र पोतों वाले देवताओं के तुल्य होंगे ॥ ५२—५४ ॥ इस प्रकार उसे वर दे कर प्रतापी धर्मराज सावित्री को लौटा कर अपने भवन को गए ॥ ५५ ॥

मूल—सावित्र्यपि यमे याते भर्तारं प्रतिलभ्य च । जगाम तत्र यत्रास्य भर्तुः शावं कलेवरम् ॥ ५६ ॥ सा भूमौ प्रेक्ष्य भर्तारमुपसृत्योपगृह्य च । उत्संगे शिर आरोप्य भूमावुप विवेश ह॥५७॥ संज्ञां च स पुनर्लब्ध्वा सावित्री मभ्यभाषत । प्रोष्यागत इव प्रेम्णा पुनः पुनरुदीक्ष्य वै ॥ ५८ ॥ सुचिरं बत सुप्तोस्मि किमर्थं नावबोधितः । क्वचाऽसौ पुरुषः श्यामो योऽसौ मां चकर्ष ह ॥ ५९ ॥

अर्थ—जब यम चले गए, और सावित्री ने पति को प्राप्त कर लिया, तो वह फिर वहां आई, जहां उस के पति का मृत शरीर था ॥ ५६ ॥ वह अपने पति को भूमि पर देख कर, उस के पास गई, और उस के सिर को उठा कर अपनी गोद में रख, भूमि पर बैठ गई ॥ ५७ ॥ अब सत्यवान् फिर चेतना पा कर, प्रदेश से आई की भांति प्रेम से बार २ सावित्री की ओर देखता हुआ बोला ॥ ५८ ॥ बहुत देर सोया रहा हूं, मुझे जगा क्यों न दिया, और वह काला पुरुष कहां है, जो मुझे खींचता था॥५९॥

मूल—सावित्र्युवाच—सुचिरं त्वं प्रसुप्तोसि ममांके पुरुषर्षभ । गतः स भगवान् देवः प्रजासंयमनो यमः ॥ ६० ॥ विश्रान्तोऽसि महाभाग विनिद्रश्च नृपात्मज । यदि शक्यं समुत्तिष्ठ विगाढां पश्य शर्वरीम् ॥ ६१ ॥ उपलभ्य ततः संज्ञां सुखसुप्त इवोत्थितः । दिशः सर्वा वनान्तांश्च निरीक्ष्योवाच सत्यवान् ॥ ६२ ॥ फलाहारोऽस्मि निष्क्रान्तस्त्वया सह सुमध्यमे । ततः पाटयतः काष्ठं शिरसो मे रुजा भवत् ॥ ६३ ॥ शिरोभिताप संतप्तः स्थातुं चिरमशक्नुवन् । तवोत्संगे प्रसुप्तोस्मि इति सर्वं स्मरे शुभे ॥ ६४ ॥ त्वयोपगूढस्य च मे निद्रयाऽपहृतं मनः । ततोऽपश्यं तमो घोरं पुरुषं च महौजसम् ॥ ६५ ॥ तद्यदि त्वं विजानासि किं तद् ब्रूहि सुमध्यमे । स्वप्नो मे यदि वा दृष्टो यदि वा सत्यमेव तत्॥६६॥

अर्थ—सावित्री बोली—हे पुरुषवर ! मेरी गोद में तुम बहुत देर तक सोए हो, प्रजा को बांधने वाले भगवान् यम अब चले गए ॥ ६० ॥ हे राजपुत्र ! तुम ने आराम कर लिया है, और अब तुम्हारी निद्रा खुल गई है, यदि समर्थ हो, तो उठिये, देखो ! कैसी गाढ़ अन्धेरी रात है ॥ ६१ ॥ तब चेतना पाकर

सुख से सो कर उठे की भांति सब दिशाओं और वन प्रदेशों को देख कर सत्यवान् बोले ॥ ६२ ॥ हे सुमध्यमे! फल लाने तेरे साथ निकला था, यहां आकर लकड़ी को काटते समय मेरे सिर में पीड़ा उठी ॥ ६३ ॥ सिर की पीड़ा से दुःखित हुआ मैं बहुत चिर खड़ा न रह सका, तब तेरी गोद में सो गया, यह सब हे शुभे मुझे स्मरण है ॥ ६४ ॥ तेरे अंग पर लेटते ही मेरा मन निद्रा के वश होगया, तब मैंने घोर अन्धेरा देखा, और एक महाबली पुरुष देखा ॥ ६५ ॥ हे सुमध्यमे यदि तुम इस वृत्तान्त को जानती हो, तो वह क्या है, कहो, क्या मैंने स्वप्न देखा है, वा सत्य ही है ॥ ६६ ॥

मूल—तमुवाचाथ सावित्री रजनी व्यवगाहते । श्वस्ते सर्वं यथावृत्त माख्यास्यामि नृपात्मज ॥ ६७ ॥ सावित्री तत उत्थाय केशान् संयम्य भाविनी । पति मुत्थापयामास बाहुभ्यां परिगृह्य वै ॥ ६८ ॥ उत्थाय सत्यवांश्चापि प्रमृज्यांगानि पाणिना । सर्वा दिशः समालोक्य कठिने दृष्टि मादधे ॥ ६९ ॥ तमुवाचाथ सावित्री श्वः फलानि हरिष्यसि । योगक्षेमार्थ मेतत् ते नेष्यामि परशुं त्वहम् ॥ ७० ॥ कृत्वा कठिन भारं सा वृक्षशाखाव लम्बिनम् । गृहीत्वा परशुं भर्तुः सकाशे पुनरागमत् ॥ ७१ ॥ वामे स्कन्धे तु वामोरूर्भर्तुर्बाहुं निवेश्य च । दक्षिणेन परिष्वज्य जगाम गजगामिनी ॥ ७२ ॥ स्वस्थोस्मि बलवानस्मि दिदृक्षुः पितरावुभौ । ब्रुवन्नेव त्वरा युक्तः संप्रायादाश्रमं प्रति ॥ ७३ ॥

अर्थ—सावित्री उस से बोली, अब रात गाढ़ी होरही है, कल आप को जो हुआ है, बतलाउंगी ॥ ६७ ॥ तब उठ कर सुन्दरी सावित्री ने अपने बालों को बांधा, और भुजाओं से

पकड़ कर पति को उठाया ॥ ६८ ॥ सत्यवान् ने भी उठ कर अंगों पर हाथ फेरा, और चारों ओर ध्यान करके टोकरी पर दृष्टि डाली ॥ ६९ ॥ सावित्री उस से बोली, फलों को आप कल लेजाइयेगा, आप के योगक्षेम के लिये कुल्हाड़े को मैं लेचलती हूं ॥ ७० ॥ तब सावित्री ने टोकरी को वृक्ष की शाखा से लटका दिया, और कुल्हाड़ा ले कर फिर पति के पास आई ॥ ७१ ॥ वह गजगामिनी वामोरू बाएं कन्धे पर पति की भुजा को रख कर, और दाएं से कुल्हाड़ा लटका कर चली ॥ ७२ ॥ मैं स्वस्थ हूं, बलवान् हूं, माता पिता को देखना चाहता हूं, यह कहता हुआ सत्यवान् जल्दी २ आश्रम को गया ॥ ७३ ॥

अ० ३७ (व० २९८) सावित्री का आश्रम में लौटना

मूल—एतस्मिन्नेव कालेतु द्युमत्सेनो महाबलः । लब्धचक्षुः प्रसन्नायां दृष्ट्यां सर्वं ददर्श ह ॥ १ ॥ स सर्वानाश्रमान् गत्वा शैब्यया सह भार्यया । पुत्रहेतोः परामार्तिं जगाम भरतर्षभ॥ २ ॥ तावाश्रमान्नदीश्चैव वनानि च सरांसि च । तस्या निशि विचिन्वन्तौ दम्पती परिजग्मतुः ॥ ३ ॥ श्रुत्वा शब्दं तु यं कंचिदुन्मुखौ सुतशंकया । सावित्री सहितोऽभ्येति सत्यवानित्य भाषताम् ॥ ४ ॥ भिन्नैश्च परुषैः पादैः सव्रणैः शोणितोक्षितैः । कुश कण्टक विद्धांगावुन्मत्ता विव धावतः ॥ ५ ॥ ततोऽभिसृत्य तैर्विप्रैः सर्वै राश्रमवासिभिः । परिवार्य समाश्वास्य तावानीतौ स्वमाश्रमम् ॥ ६ ॥ ततो मुहूर्तात् सावित्री भर्त्रा सत्यवता सह । आजगामाश्रमं रात्रौ प्रहृष्टा प्रविवेश ह ॥ ७ ॥

अर्थ—इसी समय महाबली राजा द्युमत्सेन को आंखें मिल

को गया, तब उसने भाई नकुल को भूमिपर मरा पड़ा हुआ देखा ॥ २१ ॥ भाई के शोक से संतप्त हुआ और प्यास से व्याकुल हुआ पानी की ओर दौड़ा, तब वाणी हुई॥ २२ ॥हे प्यारे! मत साहस कर, यह पहले मेरी मलकीयत है, प्रश्नों के उत्तर दे कर यथारुचि पियो और ले भी जाओ ॥ २३ ॥

मूल—अनादृत्य तु तद्वाक्यं सहदेवः पिपासितः । अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥२४ ॥ अथाब्रवीत् स विजयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं चत्वमानय ॥ २५ ॥ एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः । आमुक्त खड्गो मेधावी तत् सरः प्रत्यपद्यत ॥ २६ ॥ प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः । धनुरुद्यम्य कौन्तेयो व्यलोकयत तद्वनम् ॥ २७ ॥ नापश्यत् तत्र किञ्चित् स भूतमस्मिन् महावने । सव्यसाची ततः श्रान्तः पानीयं सोऽभ्यधावत ॥ २८ ॥ अभिधावंस्ततो वाक्य मन्तरिक्षात् स शुश्रुवे । किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात् त्वया ॥ २९ ॥ कौन्तेय यदि प्रश्नांस्तान् मयोक्तान् प्रतिपत्स्यसे । ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ॥ ३० ॥ वारितस्त्व ब्रवीत्पार्थो दृश्यमानो निवारय । यावद् बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥ ३१ ॥ एवमुक्त्वा ततः पार्थः शब्दवेधं च दर्शयन् । अनेकैरिषु संघातै रन्तरिक्षं ववर्ष ह॥३२॥ यक्ष उवाच—किं विघातेन ते तात प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब । अनुक्त्वा च पिबन् प्रश्नान् पीत्वैव न भविष्यसि ॥ ३३ ॥ एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनञ्जयः । अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह ॥ ३४ ॥

अर्थ—प्यासे सहदेव ने उस वचन का अनादर कर ठंढा

यहां जल अवश्य होगा ॥ १३ ॥ तब सच्चे धैर्य वाला कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर बोला—हे सौम्य ! शीघ्र वहां जाओ, और भत्थों (तर्कशों) में जल भर कर ले आओ ॥ १४ ॥ नकुल (तथास्तु) कह कर बड़े भाई की आज्ञा से उधर को दौड़ कर गया, जहां पानी था, और शीघ्र जा पहुंचा ॥ १५ ॥ उसने विमल जल को सारसों से घिरा देखा, और पीने की इच्छा की, उसी समय यह आकाशवाणी हुई ॥ १६ ॥ हे प्यारे ! मत साहस कर, यह पहले मेरी मलकीयत है, हे माद्रीपुत्र ! मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, तब पियो और ले जाओ ॥ १७ ॥

मूल—अनादृत्यतु तद्वाक्यं नकुलः क्षुत्पिपासितः । अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपातह ॥ १८ ॥ चिरायमाणे नकुले कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । अब्रवीद् भ्रातरं वीरं सहदेव मरिन्दमम् ॥ १९ ॥ भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः । तथैवानय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ॥ २० ॥ सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत । ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥२१॥ भ्रातृशोकाभि संतप्तस्तृषया च प्रपीडितः । अभिदुद्राव पानीयं ततो वाग भ्यभाषत ॥ २२ ॥ मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्व परिग्रहः । प्रश्नानुक्त्वा यथा कामं पिवस्व च हरस्व च ॥ २३ ॥

अर्थ—भूख प्यास से युक्त नकुल ने उस वाक्य का अनादर करके जल पी लिया, और पीते ही गिर पड़ा ॥ १८ ॥ जब नकुल को देर हुई, तब युधिष्ठिर शत्रुओं के सिधाने वाले वीर भ्राता सहदेव से बोले ॥ १९ ॥ हे सहदेव ! हमारे भाई तेरे बड़े भाई को गए देर होगई है, सो तुम जाकर सोदर भाई को और जल को ले आओ ॥ २० ॥ सहदेव तथास्तु कह कर उधर

लुप्त न हो ॥ ६ ॥ ब्राह्मण के वचन को सुन कर वह झट पट मृग के पीछे गए ॥ ७ ॥ महारथी पाण्डवों ने उस मृग को अपने निकट देखते हुए बहुत से कर्णी, नालीक और नाराच बाण छोड़े, पर वह उसे बींध न सके ॥ ८ ॥ उन के पीछा करते ही वह महामृग दृष्टि से ओझल होगया, मृग को न देखते हुए थके हुए दुःखित हुए वह मनस्वी उस गहनवन में ठंडी छाया वाले बड़ के नीचे आए, और भूख प्यास से व्याकुल हुए वह वहां बैठ गए ॥ ९—१० ॥

मूल—ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्य मब्रवीत् । एते हि भ्रातरः श्रान्तास्तव तात पिपासिताः ॥ ११ ॥ नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् । अब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठ मभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ १२ ॥ पश्यामि बहुलान् राजन् वृक्षानुदकसंश्रयान्। सारसानां च निर्ह्राद मत्रोदकमसंशयम् ॥ १३ ॥ ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूर्णः पानीयमानय ॥ १४ ॥ नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् । प्राद्रवत् यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत ॥ १५ ॥ स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् । पातुकामस्ततो वाच मन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ॥ १६ ॥ मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः। प्रश्नानुक्त्वातु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ॥ १७ ॥

अर्थ—तब राजा युधिष्ठिर नकुल से बोले, हे तात! यह तेरे भाई थके हुए और प्यासे हैं ॥ ११ ॥ नकुल बहुत अच्छा कह कर शीघ्र एक वृक्ष पर चढ़ गया, और चारों ओर देख कर बड़े भाई से बोला ॥ १२ ॥ हे राजन् ! मैं जल के तट पर होनेवाले बहुत से वृक्षों को देखता हूं, और सारसों का शब्द सुनता हूं,

भ्रातृभिः सहितं वने । आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्तश्चेद मब्रवीत ॥ ४ ॥ अरणीसहितं मन्थं समासक्तं वनस्पतौ । मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे सममज्जत ॥ ५ ॥ तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः । अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पाण्डवाः ॥ ६ ॥ ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा शीघ्रमन्वगमन्मृगम् ॥ ७ ॥ कर्णिनालीक नाराचानुत्सृजन्तो महारथाः । नाविध्यन् पाण्डवास्तत्र पश्यन्तो मृग मन्तिकात् ॥ ८ ॥ तेषां प्रयतमानानां नाहश्यत महामृगः । अपश्यन्तो मृगं श्रान्ता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ॥ ९ ॥ शीतलच्छाय मागम्य न्यग्रोधं गहने वने । क्षुत्पिपासा परीतांगाःपाण्डवाः समुपाविशन् ॥ १० ॥

अर्थ—इस प्रकार द्रौपदी के हरेजाने पर बहुत बड़ा क्लेश पाय, भाइयों समेत राजा युधिष्ठिर, काम्यक वन को त्याग, फिर भांति २ के वृक्षों से भरे, स्वादु मूल फलों वाले, सुहावने द्वैतवन में आए ॥ १-२ ॥ उस वन में रहते हुए उन कुरुवरों ने जो क्लेश पाया, जिसका परिणाम अच्छा था, वह तुम्हें कहूंगा, सुनो ॥ ३ ॥ (एक दिन) वन में भाइयों के साथ बैठे हुए युधिष्ठिर के पास एक ब्राह्मण दौड़ता हुआ आया, और संतप्त हुआ यह बोला ॥ ४ ॥ मेरी (अग्निहोत्र की) अरणी और मथानी* टंगी हुई थी, वह अपने सींग रगड़ते हुए एक मृग के सींगों पर टंग गई ॥ ५ ॥ उस को लेकर वह महामृग, कूदता हुआ चला गया है, हे पाण्डवो ! मुझे वह लाकर दो, ताकि मेरा अग्निहोत्र

*हवन के लिये एक लकड़ी नीचे रखते हैं, और उस में किये एक छोटे से बिल में एक मथानी डाल कर रगड़ते हैं, निचली लकड़ी को अरणी और ऊपर की को मन्थ=मथानी कहते हैं ।

देश से (द्युमत्सेन के) दरबारी आए ॥ १९ ॥ और बतलाया, कि आप के शत्रु को अपने ही मन्त्री ने मार डाला है, और अब राजा के लिये सब लोगों की इस में एकमति है ॥ २० ॥ कि चाहे नेत्र वाला है, वा नेत्र हीन, वही (द्युमत्सेन ही) हमारा राजा हो, सो चलिये हे राजन् ! आप का कल्याण हो, नगर में आप की जय घोषणा की गई है ॥२१॥ तब राजा ने आश्रमवासी सब वृद्ध ब्राह्मणों को प्रणाम किया, और उन्हों ने भी उस का सत्कार किया, और वह नगर को चले गए॥ २२ ॥ तब पुरोहितों ने प्रीति से द्युमत्सेन का अभिषेक किया, और इस के महात्मा पुत्र को यौवराज्य में अभिषेक दिया ॥ २३ ॥ बहुत काल बीते पीछे सावित्री के सौ पुत्र हुए, जो बड़े शूरवीर, (युद्धों में) न लौटने वाले, यश के बढ़ाने वाले हुए ॥ २४॥ और वैसे ही सावित्री के सौ सगे भाई मालवी में से मद्रराज अश्वपति के पुत्र हुए जो बड़े बलवान् थे ॥ २५ ॥ इस प्रकार सावित्री ने पिता माता सास ससुर अपना आप और भर्ता का कुल का दुःख से उद्धार किया ॥ २६ ॥ वैसे यह शीलवती कुलीना कल्याणी द्रौपदी भी सावित्री की भांति तुम सब को तारेगी ॥२७॥

अ० ३८ (व० ३११)

मूल—एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेश मनुत्तमम् । विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥ १ ॥ पुनर्द्वैतवनं रम्य माजगाम युधिष्ठिरः । स्वादुमूल फलं रम्यं विचित्र बहुपादपम् ॥ २ ॥ तस्मिन् प्रतिवसन्तस्ते यत्प्रापुः कुरुसत्तमाः । वने क्लेशं सुखोदर्कं तत्प्रवक्ष्यामि ते शृणु ॥ ३ ॥ अजातशत्रु मासीनं

लिये। पिता के लिये सौ पुत्र मांगा, और अपने लिये भी सौ पुत्र मांगा ॥ १६ ॥ जिसके लिये पति की चारसौ वर्ष की आयु पाई, पति के जीवित रहने के लिये मैंने यह व्रत किया था ॥ १७ ॥

मूल—ऋषयऊचुः—निमज्जमानं व्यसनैरभिद्रुतं कुलं नरेन्द्रस्य तमोमये ह्रदे। त्वया सुशीलव्रतपुण्यया कुलं समुद्धृतं साध्वि पुनः कुलीनया ॥ १८ ॥ तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां समेयुस्ते तपोधनाः। ततः प्रकृतयः सर्वाः शाल्वेभ्योऽभ्यागता नृप ॥ १९ ॥ आचख्युर्निहतं चैव स्वेनामात्येन तं द्विषम्। ऐकमत्यं च सर्वस्य जनस्याथ नृपं प्रति ॥ २० ॥ स चक्षुर्वाप्य चक्षुर्वा स नो राजा भवत्विति। प्रयाहि राजन् भद्रं ते घुष्टस्ते नगरे जयः ॥ २१ ॥ ततोऽभिवाद्य तान् वृद्धान् द्विजानाश्रमवासिनः। तैश्चाभि पूजितः सर्वैः प्रययुः नगरं प्रति ॥ २२ ॥ ततोऽभिषिषिचुः प्रीत्या द्युमत्सेनं पुरोहिताः। पुत्रं चास्य महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ २३ ॥ ततः कालेन महता सावित्र्याः कीर्तिवर्धनम्। तद्वै पुत्रशतं जज्ञे शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ २४ ॥ भ्रातॄणां सोदराणां च तथैवास्या भवच्छतम्। मद्राधिपस्याश्वपतेर्मालव्यां सुमहद्बलम् ॥ २५ ॥ एवमात्मा पिता माता श्वश्रूः श्वशुर एव च। भर्तुः कुलं च सावित्र्या सर्वं कृच्छ्रात् समुद्धृतम् ॥ २६ ॥ तथैवैषापि कल्याणी द्रौपदी शीलसंमता। तारयिष्यति वः सर्वान् सावित्रीव कुलांगना ॥ २७ ॥

अर्थ—ऋषि बोले—विपत्तियों से घिरे हुए, अन्धकार के तालाब में डूबते हुए, ससुर कुल को हे साध्वि तुमने अपने उत्तम शीलव्रत और पुण्य के प्रभाव से निकाल लिया है ॥ १८ ॥ उस रात के बीतने पर वह तपोधन फिर मिल कर बैठे, अनन्तर शाल्व

दिशं पितृ निषेविताम् ॥ १४ ॥ अस्तौषं तमहं देवं सत्येन वचसा विभुम् । पञ्च वै तेन मे दत्ता वराः शृणुत तान्मम ॥ १५ ॥ चक्षुषी च स्वराज्यं च द्वौवरो श्वशुरस्य मे । लब्धं पितुः पुत्रशतं पुत्राणां चात्मनः शतम् ॥ १६ ॥ चतुर्वर्षशतायुर्मे भर्ता लब्धश्च सत्यवान् । भर्तुर्हि जीवितार्थं तु मया चीर्णं मिदं व्रतम् ॥ १७ ॥

अर्थ—ब्राह्मण बोले—पुत्र का समागम, सावित्री का देखना, और अपने नेत्र का लाभ इन तीनों की आप को बधाई हो ॥८॥ (फिर सत्यवान् से बोले) हे राजपुत्र! किस कारण से तुमने आज पिता माता और हम को संताप दिया, यह हम नहीं जानते हैं, यह सारा वृत्तान्त हमें बतलाओ ॥ ९ ॥ सत्यवान् बोले—मैं सिर पीड़ से देर तक सोया रहा, इतना जानता हूं, इस लिये बड़ी रात गई आया, और कोई कारण नहीं है ॥ १० ॥ गौतम बोले—अकस्मात् तुम्हारे पिता द्युमत्सेन के नेत्र खुल गए, इसका कारण तुम नहीं जानते हो, सावित्री कहने की कृपा करेगी ॥ ११ ॥ सावित्री बोली—ऐसे ही है हे ब्राह्मणो! जैसा तुम जानते हो, तुम्हारा संकल्प झूठा नहीं है। यह मुझे आप से कोई रहस्य की बात नहीं, सुनिये जो सत्य है ॥ १२ ॥ महात्मा नारद ने मेरे पति का मृत्यु बतलाया था, और वह आज का दिन था, इस लिये मैं इसे छोड़ती नहीं थी ॥ १३ ॥ जब यह वन में सोगए, तब दूतों सहित साक्षात् यम इस के पास आए, और वह इसे बांध कर दक्षिण की ओर ले चले ॥ १४ ॥ उसी समय मैंने सत्य वचन से उस शक्तिमान् देव की स्तुति की। तब उस ने मुझे पांच वर दिये, उन को मुझ से सुनिये ॥ १५ ॥ नेत्रों की प्राप्ति और अपने राज्य की प्राप्ति यह दो वर मैंने ससुर के लिये

गईं, और दृष्टि के निर्मल होने पर सब कुछ देखने लगे ॥ १ ॥ तब वह अपनी शैब्या (शिबियों की पुत्री) भार्या के साथ पुत्र के कारण सब आश्रमों में ढूंढ कर परम दुःखित हुए ॥ २ ॥ वह दम्पती उस रात्रि में आश्रम वन गिरि और सरोवरों पर ढूंढते हुए घूमने लगे ॥ ३ ॥ कोई भी शब्द सुन कर पुत्र की शंका से उधर ही देखने लगते थे, और कहते थे, वह सावित्री सहित सत्यवान् आता है ॥ ४ ॥ उन के पाओं फटगए, घाव होगए, उन से रुधिर बहने लगा, अंग कुशा और कांटों से छिद गए, और वह पागलों की भांति इधर उधर दौड़ने लगे ॥५॥ तब आश्रम-वासी सब ब्राह्मण उन के पास गए, और उन को धीरज देकर घेर कर उन्हें अपने आश्रम में ले आए ॥ ६ ॥ थोड़ी देर पीछे सत्यवान् पति समेत सावित्री आश्रम में आई और प्रसन्न हुई प्रविष्ट हुई ॥ ७ ॥

मूल–ब्राह्मणा ऊचुः–समागेन पुत्रस्य सावित्र्या दर्शनेन च। चक्षुषश्चात्मनो लाभात् त्रिभिर्दिष्ट्या विवर्धसे ॥ ८ ॥ संतापिताः पिता माता वयं चैव नृपात्मज । कस्मादिति न जानीमस्तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ९ ॥ सत्यवानुवाच–सुप्तश्चाहं वेदनया चिर मित्युप लक्षये । अतो चिरात्रागमनं नान्यदस्तीह कारणम् ॥ १० ॥ गौतम उवाच–अकस्माच्चक्षुषः प्राप्तिर्द्युमत्सेनस्य ते पितुः । नास्य त्वं कारणं वेत्सि सावित्री वक्तुमर्हति ॥ ११ ॥ सावित्र्युवाच–एव मेतद् यथा वेत्थ संकल्पो नान्यथाहि वः । नहि किञ्चिद् रहस्यं मे श्रूयतां तथ्यमेव यत् ॥ १२ ॥ मृत्युमें पत्युराख्यातो नारदेन महात्मना । स चाद्य दिवसः प्राप्तस्ततो नैनं जहाम्यहम् ॥ १३ ॥ सुप्तं चैनं यमः साक्षादुपागच्छत् सकिंकरः । स एनमनयद् बध्वा

जल पिया, और पीते ही गिर पड़ा ॥ २४ ॥ अब कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर अर्जुन से बोले, तुम उन दोनों (भाइयों) को लेआओ, और पानी भी लेआओ ॥ २५ ॥ ऐसी आज्ञा दिया मेधावी अर्जुन धनुषबाण पकड़ कर और तलवार लटका कर उस सरोवर पर पहुंचा ॥२६॥ उस नरसिंह कुन्तीपुत्र ने उन दोनों को वहां गाढ़ सोए हुओं की भांति देख कर अपना धनुष उठाया और उस वन में चारों ओर दृष्टि डाली ॥ २७ ॥ इस महावन में उस ने कोई प्राणी न देखा, तब थका हुआ अर्जुन पानी की ओर दौड़ा ॥ २८ ॥ उधर दौड़ते ही उसने आकाशवाणी सुनी, क्यों दुःख उठाते हो, इस जल को तुम बल से नहीं पी सकते ॥२९॥ हे कौन्तेय ! यदि मेरे कहे प्रश्नों को खोल सकोगे, तब पानी पी सकोगे और ले जा भी सकोगे ॥ ३० ॥ रोके हुए अर्जुन ने कहा, सामने आकर मुझे रोको, जिससे कि मेरे बाणों से छिद कर फिर ऐसा नहीं बोल सकोगे ॥ ३१ ॥ यह कह कर अर्जुन ने शब्दवेधी बाण को चलाते हुए अनेक बाण समूहों से अन्तरिक्ष में वर्षा करदी ॥ ३२ ॥ तब वह यक्ष बोला—हे प्यारे इस यत्न से तुझे क्या, पहले प्रश्नों के उत्तर दे, फिर पी, प्रश्नों के उत्तर न देकर पियेगा, तो पीते ही मर जाएगा ॥ ३३ ॥ ऐसे कहे हुए सव्यसाची अर्जुन ने उसके वचन का अनादर कर के पी लिया और पीते ही गिर पड़ा ॥ ३४ ॥

मूल—अथाब्रवीद् भीमसेनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः। तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ॥ ३५ ॥ भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत । तान् दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः ॥ ३६ ॥ अमन्यत महाबाहुः कर्म तद् यक्षरक्षसाम् । स चिन्तया-

मास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै ॥ ३७ ॥ पास्यामि तावत्पानीय-मिति पार्थो वृकोदरः । ततोऽभ्य धावत् पानीयं पिपासुः पुरुष-र्षभः ॥ ३८ ॥ यक्ष उवाच—मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरि-ग्रहः । प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३९ ॥ एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामित तेजसा । अनुक्त्वैव तु तान् प्रश्नान् पीत्वैव निपपात ह ॥ ४० ॥ ततः कुन्ती सुतो राजा प्रचिन्त्य पुरुषर्षभः । समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा ॥ ४१ ॥ व्यपेत जननिर्घोषं प्रविवेश महावनम् ॥ ४२ ॥ स गच्छन कानने तस्मिन् हेमजाल परिष्कृतम् । ददर्श तत्सरः श्रीमान् विश्वकर्म कृतं यथा ॥ ४२ ॥

अर्थ—अब कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा, तेरा भला हो, उन (भाइयों) को लाओ और जल लाओ ॥ ३५ ॥ भीमसेन 'तथास्तु' कह कर उस स्थान पर गया, उन को देख कर दुःखित हुए और प्यास से तंग हुए उस महावाहु ने जाना, कि यह कर्म यक्ष और राक्षसों का है, उसने सोचा, कि युद्ध अब अवश्य करना होगा ॥ ३६ ॥ सो पहले मैं जल पीलूं, यह सोच वह पुरुष वर भीम जल पीने की इच्छा से जल की ओर दौड़ा ॥ ३७ ॥ यक्ष बोला—हे प्यारे मत साहस कर, यह पहले मेरी मलकीयत है, प्रश्नों के उत्तर दे कर हे कौन्तेय ! फिर पी और ले भी जा ॥ ३८ ॥ अपरिमित तेज वाले यक्ष से ऐसे कहा भीम प्रश्नों का उत्तर दिये बिना ही जल पीकर तत्क्षण गिर पड़ा ॥ ३९ ॥ तब महावाहु पुरुषवर राजा युधिष्ठिर दग्ध होते हुए मन से उठा, और मनुष्यों की ध्वनि से शून्य उस महा-वन में घुसा ॥ ४० ॥ उस वन में जाकर उसने चारों ओर सोने

की जाली वाले उस सरोवर को देखा, जैसे कि विश्वकर्मा का बनाया हो ॥ ४१ ॥

अ० ३९ (व० ३१३) यक्ष युधिष्ठिर संवाद

मूल—तान् दृष्ट्वा पतितान् भ्रातॄन् सर्वांश्चिन्तासमन्वितः । सुखं प्रसुप्तान् प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः ॥ १ ॥ बुध्या विचिन्तयामास वीराः केन निपातिताः । नेषां शस्त्रप्रहारोस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित् ॥ २ ॥ भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः। एकाग्रं चिन्तयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम् ॥ ३ ॥ एतेन व्यवसायेन तत् तोयं व्यवगाढवान् । गाहमानश्च तत्तोय मन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ॥ ४ ॥ अहं बकः शैवलमत्स्य भक्षो नीता मया प्रेतवशं तवानुजाः । त्वं पञ्चमो भविता राजपुत्र न चेत् प्रश्नान् पृच्छतो व्याकरोषि ॥ ५ ॥ युधिष्ठिर उवाच—पृच्छामि को भवान् देवो नैतच्छकुनिना कृतम् । चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरि तेजसः ॥ ६ ॥ यक्ष उवाच—यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षी जलेचरः ॥ ७ ॥ इमे ते भ्रातरो राजन् वार्यमाणा मयाऽसकृत् । बलात्तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै मृदिता मया ॥ ८ ॥ पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः । प्रश्नानुक्त्वातु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर उवाच—न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम् । यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान् प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥ १० ॥

अर्थ—उन सारे भाइयों को गिरे हुए, सुख की गहरी नींद सोए हुए देख कर, युधिष्ठिर चिन्ता से व्याकुल हुए, शरीर में पसीना आगया, मन खिन्न होगया, और बुरी दशा को प्राप्त हुए ॥ १ ॥ बुद्धि से सोचने लगे, कि यह वीर किसने गिराए हैं, न

इन के कोई शस्त्र का प्रहार लगा है, न यहां किसी का पाद चिन्ह है ॥ २ ॥ मैं जानता हूं, कि वह कोई बड़ा जीव है, जिसने मेरे भाई मारे हैं, एकाग्र हो कर 'सोचूंगा' वा जल पी कर पीछे पता लगाऊंगा ॥ ३ ॥ इस निश्चय से वह उस जल के अन्दर घुसा, उस जल का अवगाहन करते हुए उसने अन्तरिक्ष मे सुना ॥ ४ ॥ मैं सिवाल और मछलियें खाने वाला बगुला हूं, मैंने तेरे भाइयों को मारा है, हे राजपुत्र ! यदि मेरे पूछे प्रश्नों को नहीं खोलेगा, तो तू उन में पांचवां होगा ॥५ ॥ युधिष्ठिर बोले—मैं पूछता हूं, आप कौन देवता हैं, यह काम पक्षी का नहीं होसकता, किसने पर्वत समान मेरे तेजस्वी चारों भाई गिराए हैं ॥ ६ ॥ यक्ष बोला—मैं यक्ष हूं, तेरा भला हो, जलचर पक्षी नहीं हूं ॥ ७ ॥ हे राजन् ! मैंने तेरे इन भाइयों को बार २ रोका, किन्तु यह बलात् जल लेना चाहते थे, इस से मैंने इन्हें मारडाला ॥ ८ ॥ हे पार्थ मत साहस कर, पहले यह मेरी मलकीयत है, प्रश्नों के उत्तर दे कर हे कौन्तेय ! पीछे पियो और ले भी जाओ ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर बोले—हे यक्ष मैं तेरी मलकीयत की कामना नहीं करता, यथाबुद्धि आप के प्रश्नों के उत्तर दूंगा, मुझे पूछिये ॥ १० ॥

मूल—यक्ष उवाच—किं स्विदादित्य मुन्नयति केच तस्याभितश्चराः । कश्चैन मस्तं नयाति कस्मिंश्च प्रति तिष्ठति ॥ ११ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—(इस विश्व में) कौन सूर्य को उदय करता है, कौन उस के चारों ओर घूमने वाले हैं, कौन उसे अस्त करता है, किसमें ठहरा हुआ है ॥ ११ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः । धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥ १२ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—ब्रह्म सूर्य को उदय करता है, देव (किरण वा ग्रह) उस के चारों ओर घूमते हैं, धर्म उसे अस्त करता है, सत्य (नियम) में ठहरा हुआ है ॥ १२ ॥

मूल—यक्ष उवाच—केनस्विच्छ्रोत्रियोभवति केनस्विद्विन्दते महत्। केनस्विद् द्वितीयवान् भवति राजन् केन च बुद्धिमान्॥१३॥

अर्थ—यक्ष बोला—किससे श्रोत्रिय होता है, किससे बड़ाई पाता है, किससे सदा के साथी वाला होता है, और किससे हे राजन ! बुद्धिमान् होता है ॥ १३ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत्। धृत्या द्वितीयवान् भवति बुद्धिमान् वृद्धसेवया॥१४॥

अर्थ—वेद (जानने) से श्रोत्रिय होता है, तप से बड़ाई पाता है, धीरज से सदा के साथी वाला होता है, और वृद्धों की सेवा से बुद्धिमान् होता है ॥ १४ ॥

मूल—यक्ष उवाच—किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव। कश्चैषां मानुषो भावः किमेषा मसतामिव ॥ १५ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—ब्राह्मणों का देवतापन क्या है, मनुष्यपन क्या है ? इनमें सज्जनों का धर्म कौन है, और दुष्टों का धर्म कौन है ? ॥ १५ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव। मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥ १६ ॥

अर्थ—वेदाभ्यास इन में देवतापन है, मरना मनुष्यपन है, तप सज्जनों का सा धर्म है, और निन्दा दुष्टों का सा है ॥१६॥

मूल—यक्ष उवाच—किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव। कश्चैषां मानुषो भावः किमेषा मसतामिव ॥ १७ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—क्षत्रियों का देवतापन क्या है और मनुष्यपन क्या है, कौन इन में सज्जनों का सा धर्म है, और कौन दुष्टों का सा है ॥ १७ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव। भयं वै मानुषो भावो परित्यागोऽसतामिव ॥ १८ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—धनुषवाण इनका देवपन है, भय करना मनुष्यपन है, यज्ञ इन में सज्जनों का धर्म है, और (आर्तों का) त्याग दुष्टों का सा है ॥ १८ ॥

मूल—यक्ष उवाच—इन्द्रियार्थाननु भवन् बुद्धिमान् लोकपूजितः। संमतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन् को न जीवति॥ १९ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—इन्द्रियों के विषयों को अनुभव करता हुआ, बुद्धिमान्, लोक में पूजित, सब लोगों का माना हुआ, सांस लेता हुआ कौन नहीं जीता है ॥ १९ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—देवतातिथि भृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः। न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन् न सजीवति ॥२०॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—देवताओं, अतिथियों, भृत्यों, पितरों के लिये तथा अपने लिये, इन पांचों के लिये जो अपनी कमाई नहीं लगाता है, वह सांस लेता हुआ भी नहीं जीता है ॥२०॥

मूल—यक्ष उवाच—किं स्विद् गुरुतरं भूमेः किं स्विदुच्च तरं च खात्। किं स्विच्छीघ्रतरं वायोः किं स्विद् बहुतरं तृणात्॥२१।

अर्थ—यक्ष बोला—पृथिवी से भारी कौन है, आकाश से ऊंचा कौन है, वायु से शीघ्रतर कौन है, तृण से अधिक क्या है२१

मूल—युधिष्ठिर उवाच—माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा। मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरं तृणात् ॥ २२ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—माता पृथिवी से भारी है, पिता आकाश से ऊंचा है, मन वायु से शीघ्रगामी है, चिन्ता तृण से अधिक है ॥ २२ ॥

मूल—यक्ष उवाच—किं स्वित् प्रवसतो मित्रं किं स्विन्मित्रं गृहे सतः । आतुरस्य च किं मित्रं किं स्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥२३॥

अर्थ—यक्ष बोला—परदेश जाते हुए का मित्र कौन है, घर में रहते हुए का मित्र कौन है, रोगी का मित्र कौन है, मरने लगे का मित्र कौन है ? ॥ २३ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः । आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥ २४ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—परदेश जाते हुए का सार्थ(काफिला) मित्र है, घर में रहते हुए की स्त्री मित्र है, रोगी का वैद्य मित्र है, मरने लगे का दान मित्र है ॥ २४ ॥

मूल-यक्ष उवाच—किं स्विदेको विचरते जातः कोजायते पुनः। किं स्विद्धिमस्य भैषज्यं किं स्विदावपनं महत् ॥ २५ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—एकला कौन फिरता है, उत्पन्न होकर फिर कौन उत्पन्न होता है, शीतका औषध क्या है, क्या बड़ा डालने का पात्र है ॥ २५ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—सूर्य एको विचरते चन्द्रमा जायते पुनः । अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥ २६ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—सूर्य एकला फिरता है, चन्द्रमा फिर उत्पन्न होता है, अग्नि शीत का औषध है, भूमि बड़ा पात्र है॥ २६॥

मूल—यक्ष उवाच—किं स्विदेकपदं धर्म्यं किं स्विदेकपदं यशः। किं स्विदेकपदं स्वर्ग्यं किं स्विदेकपदं सुखम् ॥ २७ ॥

अर्थ-यक्ष बोला-धर्म का एक स्थान क्या है, यश का एक स्थान क्या है, स्वर्ग का एक स्थान क्या है, और सुख का एक स्थान क्या है ? ॥ २७ ॥

मूल-युधिष्ठिर उवाच-दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः। सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥ २८ ॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोले-सरलता धर्म का एक स्थान है, दान यश का एक स्थान है, सत्य स्वर्ग का एक स्थान है, शील सुख का एक स्थान है ॥ २८ ॥

मूल-यक्ष उवाच-किं स्विदात्मा मनुष्यस्य किं स्विद् दैवकृतः सखा। उपजीवनं किं स्विदस्य किं स्विदस्य परायणम्॥२९॥

अर्थ-यक्ष बोला-मनुष्य का अपना रूप कौन होता है, देवताओं का दिया हुआ सखा कौन है, जीवन का उपाय क्या है, और परलोक का बड़ा सहारा क्या है ॥ २९ ॥

मूल-युधिष्ठिर उवाच-पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा। उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥ ३० ॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोले-पुत्र मनुष्य का अपना रूप है, पत्नी देवताओं का दिया सखा है; मेघ जीवन का उपाय है, दान परलोक का बड़ा सहारा है ॥ ३० ॥

मूल--यक्ष उवाच-धन्यानामुत्तमं किं स्विद्धनानां स्यात् किमुत्तमम्। लाभानामुत्तमं किं स्यात् सुखानां स्यात् किमुत्तमम्३१

अर्थ--यक्ष बोला--धन्यों (धन्यवाद के योग्य गुणों) में उत्तम क्या है, धनों में उत्तम क्या है, लाभों में उत्तम क्या है, सुखों में उत्तम क्या है ॥ ३१ ॥

मूल-युधिष्ठिर उवाच--धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं

श्रुतम् । लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥ ३२ ॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोले-धर्मों में उत्तम सरलता और फुरती, धनों में उत्तम वेद ज्ञान, लाभों में उत्तम अरोगता, और सन्तोष सुखों में उत्तम है ॥ ३२ ॥

मूल-यक्ष उवाच—कश्च धर्मः परोलोके कश्च धर्मः सदाफलः । किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च सन्धिर्नजीर्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ—लोक में उच्चतम धर्म क्या है, कौन धर्म सदाफल वाला है, किस को रोक कर शोक से पार होते हैं, किन के साथ सन्धि नहीं टूटती है ॥ ३३ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः । मनो यम्य न शोचन्ति सन्धिः सद्भिर्नजीर्यते॥ ३४ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—अभय दान उच्चतम धर्म है, वेदोक्त धर्म सदा फलने वाला है, मन को रोक कर शोक से परे होता है, सज्जनों के साथ सन्धि नहीं टूटती है ॥ ३४ ॥

मूल—यक्ष उवाच—किंनु हित्वा प्रियो भवति किंनु हित्वा न शोचति । किंनु हित्वाऽर्थवान् भवति किं नु हित्वा सुखी भवेत॥३५॥

अर्थ—यक्ष बोला—किस को त्यागने से प्यारा बनता है, किसको त्यागने से शोक से परे होता है, किस को त्यागने से धनवान् होता है, किस को त्यागने से सुखी होता है ॥ ३५ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति । कामं हित्वाऽर्थवान् भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत ॥ ३६ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—अभिमान के त्यागने से प्यारा होता है, क्रोध के त्यागने से शोक से पार होता है, काम के त्याग

ने से धनवान् होता है, लोभ के त्यागने से सुखी होता है ॥३६॥

मूल—यक्ष उवाच–किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके । किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥ ३७ ॥

अर्थ—यक्ष बोला–दान ब्राह्मण को किस लिये दिया जाता है, नट और नचैयों को किस लिये, सेवकों को किस लिये, और राजाओं को किस लिये दिया जाता है ॥ ३७ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच–धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोऽर्थं नट-नर्तके । भृत्येषु भरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु ॥ ३८ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले–दान ब्राह्मण को धर्म के अर्थ, नट नचैयों को यश के अर्थ, भृत्यों को भरण के अर्थ और राजाओं को भय के अर्थ दिया जाता है ॥ ३८ ॥

मूल—यक्ष उवाच—केनस्विदावृतो लोकः केनास्विन्न प्रकाशते । केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति॥ ३९ ॥

अर्थ—यक्ष बोला–जगत् किस से आच्छादित है, किससे प्रकाशता नहीं है, किस से मित्रों को त्यागता है, किससे स्वर्ग को नहीं पाता है ॥ ३९ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच–अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते । लोभात् त्यजति मित्राणि संगात् स्वर्गं न गच्छति ॥४०॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले–अज्ञान से जगत् अच्छादित है, अन्धकार से नहीं प्रकाशता है, लोभ से मित्रों को त्यागता है, और संग से स्वर्ग को नहीं पाता है ॥ ४० ॥

मूल—यक्ष उवाच–मृतः कथं स्यात् पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् । श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात् कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥ ४१ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—पुरुष कैसे मृत (मरा हुआ) होता

है, देश कैसे मृत होता है, श्राद्ध कैसे मृत होता है, यज्ञ कैसे मृत होता है ॥ ४१ ॥

मूल-युधिष्ठिर उवाच-मृतः दरिद्रो पुरुषो मृतं राष्ट्रमरा-जकम् । मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्व दक्षिणः ॥ ४२ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले-धन हीन पुरुष मृत है, राजा हीन देश मृत है, श्रोत्रिय हीन श्राद्ध मृत है, दक्षिणा हीन यज्ञ मृत है ४२

मूल-यक्ष उवाच-का दिक् किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम् । श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥ ४३ ॥

अर्थ—यक्ष बोला-दिशा कौन है, जल क्या है, अन्न क्या है, विष क्या है, श्राद्ध का काल बतलाओ, तब पियो और ले जाओ ॥ ४३ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच-सन्तो दिग्जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् । श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे।४४।

अर्थ-युधिष्ठिर बोले—सज्जन दिशा (मार्गदर्शी) हैं, आकाश जल है, पृथिवी अन्न है, मांगना विष है, श्राद्ध का काल ब्राह्मण है, वा तुम हे यक्ष कैसे मानते हो ॥ ४४ ॥

मूल—यक्ष उवाच—तपः किं लक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः । क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता।४५।

अर्थ-यक्ष बोला—तप का क्या लक्षण है, दम किसे कहते हैं, उत्तम क्षमा क्या है, और ह्री (ग़ैरत) क्या है ॥ ४५ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच-तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं-दमः । क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्री रकार्यनिवर्तनम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—अपने धर्म का अनुष्ठान तप है, मन का सिधाना दम, द्वन्द्व सहना क्षमा, और बुरे कामों से बचना

ही कहलाती है ॥ ४६ ॥

मूल—यक्ष उवाच—किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः । दया च का परा प्रोक्ता किं चार्जव मुदाहृतम्॥४७॥

अर्थ—यक्ष बोला-हे राजन् ज्ञान किसे कहते हैं, शम किसे कहते हैं, परम दया क्या कही है, और आर्जव क्या बतलाया है ॥ ४७ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच-ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्त प्रशान्तता । दया सर्व सुखैषित्व मार्जवं समचित्तता ॥ ४८ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले-तत्त्व अर्थ का बोध ज्ञान, चित्त की शान्ति शम, सब का सुख चाहना दया, और चित्त का एकरस रहना आर्जव है ॥ ४८ ॥

मूल—यक्ष उवाच-कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनन्तकः । कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥ ४९ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—पुरुषों को दुर्जय शत्रु कौन है ? अन्त न होने वाला रोग कौन है, कैसा पुरुष साधु माना गया है, और असाधु कैसा माना गया है ॥ ४९ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधि रनन्तकः । सर्वः भूत हितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥ ५० ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—क्रोध दुर्जय शत्रु है, लोभ अन्त न होने वाला रोग है, सब प्राणियों का हिती पुरुष साधु और निर्दयी असाधु माना गया है ॥ ५० ॥

मूल—यक्ष उवाच—को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्चमानः प्रकीर्तितः । किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ॥५१॥

अर्थ—यक्ष बोला—हे राजन् मोह किसे कहते हैं, मान क्या

कहा है, आलस्य क्या है और शोक किसे कहते हैं ॥ ५१ ॥

मूल--युधिष्ठिर उवाच-मोहाद्धि धर्म मूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता । धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यं शोकस्त्वज्ञान मुच्यते ॥ ५२ ॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोले-धर्म में भूल मोह है, अपने को बड़ा मानना अभिमान, धर्म का अनुष्ठान न करना आलस्य, और अज्ञान शोक कहलाता है ॥ ५२ ॥

मूल-यक्ष उवाच-किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्य मुदाहृतम् । स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमि होच्यते ॥ ५३ ॥

अर्थ-यक्ष बोला-ऋषि स्थिरता किसे कहते हैं, धैर्य क्या है, स्नान क्या है, और दान क्या कहलाता है ॥ ५३ ॥

मूल-युधिष्ठिर उवाच-स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रिय निग्रहः । स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥ ५४ ॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोले-अपने धर्म में स्थिर रहना स्थिरता, इन्द्रियों का रोकना धैर्य, मन की मैल का त्याग स्नान, और लोगों की रक्षा दान है ॥ ५४ ॥

मूल-यक्ष उवाच-कः पण्डितः पुमान् ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते । को मूर्खः कश्च कामः स्यात् कोमत्सर इति स्मृतः ॥५५॥

अर्थ-यक्ष बोला-कौन पुरुष पण्डित, कौन नास्तिक, कौन मूर्ख कहलाता है, काम क्या है और मत्सर क्या है ॥ ५५ ॥

मूल-युधिष्ठिर उवाच-धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते । कामः संसार हेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥ ५६ ॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोले-धर्मज्ञ को पण्डित, मूर्ख को नास्तिक कहते हैं. संसार का हेतु (वासना) काम है, हृदय का ताप मत्सर माना है ॥ ५६ ॥

मूल—यक्ष उवाच—कोऽहंकार इति प्रोक्तः कश्च दम्भः प्रकीर्तितः। किं तद्दैवं परं प्रोक्तं किं तत् पैशुन्य मुच्यते ॥ ५७ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—किसको अहंकार, किसको दम्भ, किसको दैव और किसको पैशुन्य (चुगली) कहते हैं ॥ ५७ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—महाज्ञानमहंकारो दम्भो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः। दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—महा अज्ञान अहंकार है, दिखलावे का धर्म दम्भ है, दान का फल दैव है, और दूसरे पर दोष लगाना पिशुनता है ॥ ५८ ॥

मूल—यक्ष उवाच—धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः। एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः ॥ ५९ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—धर्म, अर्थ, काम जो परस्पर विरोधी है, इन सदा के विरोधियों का एक स्थान में मेल कैसे होता है॥५९॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—यदा धर्मश्च भार्या च परस्पर वशानुगौ। तदा धर्मार्थ कामानां त्रयाणामपि संगमः ॥ ६० ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—जब धर्म और पत्नी परम वशावर्ती हों (पत्नी धर्म पर चले, और धर्म कार्य पत्नी के अधीन हों) तब धर्म अर्थ और काम इन तीनों का मेल होता है ॥ ६० ॥

मूल—यक्ष उवाच—अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ। एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥ ६१ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—हे भरतवर ! अक्षय नरक किससे मिलता है, मेरे इस प्रश्न का शीघ्र उत्तर दीजिये ॥ ६१ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिञ्चनम्। पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ ६२ ॥

वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु । देवेषु पितृ धर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत ॥ ६३ ॥ विद्यमाने धने लोभाद् दानभोग विवर्जितः । पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयाव सोऽक्षयं नरकं व्रजेत॥६४॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—मांगते हुए निर्धन ब्राह्मण को स्वयं बुला कर, पीछे ' नहीं है ' कहे, वह अक्षय नरक को प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥ वेदों में, धर्म शास्त्रों में, ब्राह्मणों में, देवताओं में और पितरों में जो मिथ्या दृष्टि है, वह अक्षय नरक को प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥ धन के होते हुए जो मनुष्य दान भोग से रहित है, किन्तु यह कहता है, कि मेरे पास नहीं है, वह अक्षय नरक को प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

मूल—यक्ष उवाच—राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा । ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—हे राजन् ! कुल से, धर्म से, स्वाध्याय से, वा विद्या से, किस से ब्राह्मणपन होता है, यह मुझे पूरा निश्चित कहो ॥ ६५ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् । कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥ ६६ ॥ वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः । अक्षीणवित्तो नक्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ६७ ॥ पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्र चिन्तकाः । सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥ ६८ ॥ चतुर्वेदोपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते । योऽग्निहोत्र परोदान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ६९ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे यक्ष सुनो, न स्वाध्याय, न विद्या, किन्तु आचरण ही ब्राह्मणत्व में कारण है, इस में संशय नहीं

॥ ६६ ॥ मनुष्य मात्र को, ब्राह्मण को विशेषतः चाहिये, कि यत्न से आचरण की रक्षा करे, धन के क्षीण होने से क्षीण नहीं होता, पर आचरण से भ्रष्ट हुआ नष्ट ही होजाता है ॥ ६७ ॥ पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले और जो और शास्त्र के विचारने वाले हैं, सब मूर्ख हैं व्यसनी हैं, जो क्रिया वाला है, वह पण्डित है ॥ ६८ ॥ चतुर्वेदी भी दुराचारी हो, तो शूद्र से भी नीच है, जो अग्निहोत्र करने वाला, मन को वश में किये हुए है, वह पण्डित है ६९

मूल—यक्ष उवाच—प्रियवचनवादी किं लभते विमृशित कार्यकरः किं लभते । बहुमित्रकरः किं लभते धर्मे रतः किं लभते कथय ॥ ७० ॥

अर्थ—यक्ष बोला—प्रिय वचन कहने वाला क्या लाभ करता है, सोच कर काम करने वाला क्या लाभ करता है, बहुत मित्र बनाने वाला क्या लाभ करता है, धर्म में रत पुरुष क्या लाभ करता है कहो ॥ ७० ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—प्रियवचनवादी प्रियो भवति विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति । बहुमित्रकरः सुखं वसते यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥ ७१ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—प्रिय वचन बोलने वाला सब का प्यारा होता है, सोच कर काम करने वाला अधिक जीतता है, बहुत मित्र बनाने वाला सुख से वास करता है, जो धर्म में रत है, वह उत्तम गति पाता है ॥ ७१ ॥

मूल—यक्ष उवाच—को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्थाः का च वार्तिका । वद मे चतुरः प्रश्नान् मृता जीवन्तु बान्धवाः॥७२॥

अर्थ—यक्ष बोला—जगत् में सुखी कौन है, आश्चर्य क्या

है, मार्ग कौन है, और वार्ता क्या है, मेरे इन चार प्रश्नोंका उत्तर दो, ताकि तुम्हारे मरे हुए भाई जीवें ॥ ७२ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वेगृहे । अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥७३॥ अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् । शेषाः स्थावर मिच्छन्ति किमाश्चर्य मतः परम् ॥ ७४ ॥ तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणं । धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥ ७५ ॥ अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन । मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥ ७६ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले-पांचवें वा छठे दिन जो अपने घर में साग बना कर खाता है, न किसी का ऋणी है, न परदेशी है, हे यक्ष वह सुखी है ॥ ७३ ॥ दिन पर दिन लोग यहां से यम के घर जारहे हैं, शेष टिकना चाहते हैं, इस से बढ़ कर आश्चर्य क्या होगा ॥ ७४ ॥ तर्क का कहीं ठहराव नहीं, श्रुतियें परस्पर भिन्न हैं, ऋषि भी एक नहीं, जिस का मत माना जाए, धर्म का तत्त्व कन्दरा में रखा है (अन्धेरे में पड़ा है), सो महाजन जिस पर चले हैं, वह मार्ग है ॥ ७५ ॥ इस महामोहमय कड़ाह में सूर्य की आग से और दिन रात के इन्धन से, मास और ऋतुओं की करछी से काल प्राणियों को पका रहा है, यह वार्ता है ॥ ७६ ॥

मूल—यक्ष उवाच—व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परंतप । पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः ॥ ७७ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—हे शत्रुनाशक ! तुम ने मेरे प्रश्नों का

ठीक२ उत्तर दे दिया, अब पुरुष की व्याख्या करो और जो सर्व धनी (सारे धनों वाला) पुरुष है, उसकी व्याख्या करो॥७७॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा। यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते ॥ ७८ ॥ तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुख दुःखे तथैव च। अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥ ७९ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—पुण्यकर्म से पुरुष का शब्द (यश) भूमि और आकाश में फैलता है, जब तक वह शब्द है, तब तक पुरुष कहाता है ॥ ७८ ॥ जिस को प्रिय, अप्रिय, सुख, दुःख, भूत भविष्यत् समान हैं, वह पुरुष सर्व धनी है ॥ ७९ ॥

मूल—यक्ष उवाच—व्याख्यातः पुरुषो राजन् यश्च सर्व धनी नरः। तस्मात् त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु ॥ ८० ॥

अर्थ—यक्ष बोला—राजन् तुम ने पुरुष की और सर्व धनी की व्याख्या कर दी है; इससे तुम अपने भाइयों में से जिस एक को चाहो वह जीवे ॥ ८० ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः। व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु ॥ ८१ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—यह जो गूढ़े रंग वाला लाल आंखों वाला विशाल छाती वाला महाबाहु बड़े शाल की भांति ऊंचा है, वह नकुल हे यक्ष जीवे ॥ ८१ ॥

मूल—यक्ष उवाच—प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम्। स कस्मान्नकुलं राजन् सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ ८२ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—यह भीमसेन तुझे प्यारा है, अर्जुन तुम सब का सहारा है, तब किस लिये तुम हे राजन्! सौतेले भाई

का जीवन चाहते हो ॥ ८२ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः । तस्माद्धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ ८३ ॥ कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम । उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥ ८४ ॥ यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः । मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु॥८५॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—धर्म मारा हुआ मार देता है, धर्म रक्षा किया हुआ रक्षा करता है, इस लिये मैं धर्म को नहीं त्यागता हूं. न हो, कि मारा हुआ धर्म हमारा नाश करे ॥ ८३ ॥ कुन्ती और माद्री यह दोनों मेरे पिता की पत्नियें हैं, वह दोनों पुत्र वाली बनी रहें, यह मेरी बुद्धि का निश्चय है ॥ ८४ ॥ जैसे कुन्ती वैसे माद्री, मुझे उन में भेद नहीं है, मैं दोनों माताओं से सम वर्ताव चाहता हूं, इस लिये हे यक्ष नकुल जीवे ॥ ८५ ॥

मूल—यक्ष उवाच—यस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम् । तस्मात् भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ ॥ ८६ ॥

अर्थ—यक्ष बोला—जिस लिये तुझे अर्थ और काम से धर्म बढ़ कर है, इस लिये हे भरत वर तेरे सारे भाई जीवें ॥ ८६ ॥

अ० ४० (वं० ३१४)

मूल—ततस्ते यक्ष वचनादुदतिष्ठन्त पाण्डवाः । क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम् ॥ १ ॥ युधिष्ठिर उवाच—सरस्येकेन पादेन तिष्ठन्तमपराजितम् । पृच्छामि को भवान् देवो न मे यक्षो मतो भवान् ॥ २ ॥ यक्ष उवाच—अहं ते जनकस्तात धर्मो मृदुपराक्रम । त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरत-

र्षभ ॥ ३ ॥ यशः सत्यं दमः शौच मार्जवं ह्रीरचापलम् । दानं तपो ब्रह्मचर्य मित्येतास्तनवो मम ॥ ४ ॥ अहिंसा समताशान्ति-स्तपः शौचममत्सरः । द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियोह्यसि सदा मम ॥ ५ ॥ धर्मोहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वा मिहागतः । आनृशं-स्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ॥ ६ ॥ वरं वृणीष्व राजे-न्द्र दाता ह्यस्मि तवानघ । ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ॥ ७ ॥

अर्थ—तब यक्ष के वचन से पाण्डव उठ खड़े हुए, उन सब की एक क्षण में भूख और प्यास जाती रही ॥ १ ॥ युधिष्ठिर बोले—तालाब में एक पैर से खड़े हुए, न हारने वाले आप से मैं पूछता हूं, आप कौन देवता हैं, मैं आप को यक्ष नहीं सम-झता हूं ॥ २ ॥ यक्ष बोले—हे प्यारे हे मृदुपराक्रम वाले! मैं तेरा पिता धर्म हूं, मैं तेरे देखने को आया हूं ॥ ३ ॥ यश सत्य, इन्द्रियों का रोकना, शौच, सरलता, ह्री, अचञ्चलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य यह मेरा रूप हैं ॥ ४ ॥ अहिंसा, समता, शान्ति, तप, शौच, अमत्सर (ईर्षा असूया का न होना) यह मेरी प्राप्ति के द्वार जान, तुम मेरे सदा प्यारे हो (इस कारण से तुम पर प्रकाशित करता हूं) ॥ ५ ॥ मैं धर्म हूं, तेरा भला हो, मैं तुम को जानने के लिये यहां आया हूं, तुम्हारे धर्मभाव से बड़ा प्रसन्न हुआ हूं, हे निष्पाप तुझे वर दूंगा ॥ ६ ॥ वर मांग हे निष्पाप! मैं तुझे देना चाहता हूं, क्योंकि जो मेरे भक्त हैं, उन की दुर्गति कभी नहीं होती ॥ ७ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—अरणीसहितं यस्य मृगो ह्या-दाय गच्छति । तस्याग्नयो न लुप्येरन् प्रथमोऽस्तु वरो मम ॥८॥

यक्ष उवाच—अरणी सहितं यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया । मृग वेषेण कौन्तेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो ॥ ९ ॥ ददानीत्येव भगवा-नुत्तरं प्रत्यपद्यत । अन्यं वरं भद्रं ते वर त्वममरोपम ॥ १० ॥ युधिष्ठिर उवाच—वर्षाणि द्वादशारण्ये त्रयोदश मुपस्थितम् । तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ॥ ११ ॥ ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत । प्रहृणिष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददानि ते ॥ १२ ॥ न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन् वै वरांस्तथा । त्वं हि मत्प्र-भवो राजन् विदुरश्च ममांशजः ॥ १३ ॥ युधिष्ठिर उवाच-देव देवो मया दृष्टो भवान् साक्षात् सनातनः । यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः ॥ १४ ॥ जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो । दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥ १५ ॥ धर्म उवाच—उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव। भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥ १६ ॥ इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे धर्मो भगवांल्लोकभावनः । समेताः पाण्डवाश्चैव सुख सुप्ता मनस्विनः ॥ १७ ॥ उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः । आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ॥ १८ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—जिस ब्राह्मण की अरणि और मन्थ को मृग ले कर भाग गया है, उस की अग्नियें लुप्त न हों, यह मेरा पहला वर है ॥ ८ ॥ यक्ष बोला—अरणी और मन्थन जिस ब्राह्मण का मैं मृग रूप धार कर तेरी जिज्ञासा के लिये ले आया हूं, वह तुझे देता हूं । हे देव तुल्य तू और वर मांग यह भगवान् ने उत्तर दिया ॥ १० ॥ युधिष्ठिर बोले—वन में बारह वर्ष होगए, अब तेरहवां सामने आया है, उस में हम कहीं रहें, लोग हमें जान न सकें ॥ ११ ॥ भगवान् ने उत्तर दिया

'देता हूं' हे सौम्य और वर जो तुझे अभीष्ट हो, मांग, दूंगा ॥ १२ ॥ हे नरश्रेष्ठ तुझे वर देता हुआ मैं तृप्त नहीं होता हूं, हे राजन् तुम मेरे पुत्र हो और विदुर भी मेरे अंश से उत्पन्न हुआ है ॥ १३ ॥ युधिष्ठिर बोले–देवों के देव साक्षात् सनातन भगवान् के मुझे दर्शन हुए, जो तुम प्रसन्न होकर वर दोगे, हे पितः! वही ग्रहण करूंगा ॥ १४ ॥ हे विभो ! मैं लोभ मोह और क्रोध को सदा जीते रहूं, और दान तप और सत्य में मेरा मन सदा लगे ॥ १५ ॥ धर्म बोले–हे पाण्डव ! इन गुणों से तुम स्वभावतः युक्त हो, तुम धर्म रूप हो, फिर भी जो तुम कहते हो, वह होगा ॥ १६ ॥ यह कह कर लोक पूजित भगवान् धर्म वहीं छिप गए । और सुख की नींद से उठे हुए मनस्वी पाण्डव सब मिल कर आश्रम में आए, और उस तपस्वी ब्राह्मण को अरणियें दीं ॥ १७-१८ ॥

मूल—धर्मेण तेऽभ्यनुज्ञाताः पाण्डवाः सत्यविक्रमाः । अज्ञातवासं वत्स्यन्तश्छन्ना वर्षं त्रयोदशम् ॥ १९ ॥ उपोपविष्टा विद्वांसः सहिताः संशितव्रताः । ये तद्भक्ता वसन्तिस्म वनवासे तपस्विनः ॥ २० ॥ तानब्रुवन् महात्मानः स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥ २१ ॥ विदितं भवतां सर्वं धार्तराष्ट्रैर्यथा वयम् । छद्मना हृतराज्याश्चानयाश्च बहुशः कृताः ॥ २२ ॥ उषिताश्च वने कृच्छ्रं वने द्वादश-वत्सरान् । अज्ञातवासमयं शेषं वर्षं त्रयोदशम् ॥ २३ ॥ तद्वसामो वयं छन्नास्तदनुज्ञातु मर्हथ ॥ २४ ॥ अपिनस्तद् भवेद् भूयो यद्वयं ब्राह्मणैः सह । समस्ताः स्वेषु राष्ट्रेषु स्वराज्यस्था भवेमहि ॥ २५ ॥ इत्युक्त्वा दुःख शोकार्तो शुचिर्धर्म सुतस्तदा । संमूर्छितोऽभवद् राजा साश्रुकण्ठो युधिष्ठिरः ॥ २६ ॥ तमथाश्वासयन् सर्वे ब्राह्मणाः परमाशिषः । प्रयुज्या पृच्छय भरतान्

यथास्वं प्रययुर्ग्रहान् ॥ २७ ॥ सह धौम्येन विद्वांसस्तथा पञ्च च पाण्डवाः । उत्थाय प्रययुर्वीराः कृष्णा मादाय धन्विनः ॥ २८ ॥ क्रोशमात्र मुपागम्य तस्माद् देशान्निमित्ततः । श्वभूते मनुजव्याघ्राश्छन्न वासार्थ मुद्यताः ॥ २९ ॥ पृथक् शास्त्रविदः सर्वे सर्वे मन्त्र विशारदाः । सन्धि विग्रह तत्त्वज्ञाः मन्त्राय समुपाविशन् ।३०।

अर्थ—धर्म से अनुज्ञा पाकर, सच्चे पराक्रम वाले पाण्डव तब तेरहवें वर्ष छिप कर अज्ञातवास में रहने के समय, जो उनके भक्त विद्वान् तीक्ष्णव्रती तपस्वी ब्राह्मण जो वनवास में उनके साथ रहे थे, उन से हाथ जोड़ कर बोले ॥ १९–२१ ॥ आप को सब विदित है, जैसा कि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने धोके से हम से राज्य छीना है, और हम पर बहुत अन्याय किये हैं ॥ २२ ॥ १२ वर्ष हम वन में तंगी से रहे हैं, अब यह तेरहवां वर्ष अज्ञात वास का है ॥ २३ ॥ वह हम छिप कर रहेंगे, इस की हमें अनुज्ञा दीजिये ॥ २४ ॥ परमात्मा करे, कि फिर हम ब्राह्मणों के साथ इकट्ठे होकर अपने देश में अपने राज्य पर स्थित हों ॥ २५ ॥ यह कह कर ब्राह्मणों से अलग होने के दुःख शोक से पीड़ित हुए शुचि धर्मपुत्र युधिष्ठिर का कण्ठ आंसुओं से भर गया और वह मूर्छित होगया ॥ २६ ॥ ब्राह्मणों ने उसे तसल्ली दी, और उत्तम असीसें दे कर और अनुज्ञा ले कर अपने २ घरों को चलेगए ॥ २७ ॥ अब धौम्य सहित पांचों पाण्डव कृष्णा को लिये उठ कर चल पड़े ॥ २८ ॥ उस स्थान से कोस दूर जाकर अगले दिन गुप्तवास के लिये तय्यार हुए वह सभी शास्त्र वेत्ता मन्त्र विशारद, सन्धि और विग्रह का तत्त्व जानने वाले मन्त्रणा के लिये बैठ गए ॥ २९–३० ॥ वनपर्व समाप्त हुआ ॥

विराट पर्व ४

—०:-◌-:०—

अ० १ (व० १-३) युधिष्ठिरादि की मन्त्रणा

मूल—युधिष्ठिर उवाच—विराट नगरे तात संवत्सर मिमं वयम् । कुर्वन्तस्तस्य कर्माणि विहरिष्याम भारत ॥ १ ॥ सभास्तारो भविष्यामि तस्य राज्ञो महात्मनः । कंको नाम द्विजो भूत्वा मताक्षः प्रियदेवनः ॥ २ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे तात ! यह वर्ष विराट नगर में हम राजा विराट के कर्म करते हुए रहें ॥ १ ॥ मैं पांसों का मर्मज्ञ, खेल का प्यारा कंक नामी ब्राह्मण बन कर उस महात्मा राजा (की सभा) का सभासद् बनूंगा ॥ २ ॥

मूल—भीमसेन उवाच—पौरोगवो ब्रुवाणोऽहं वल्लवो नाम भारत । सूपानस्य करिष्यामि कुशलोऽस्मि महानसे ॥ ३ ॥ द्विपा वा बलिनो राजन् वृषभा वा महाबलाः । विनिग्राह्या यदि मया निग्रहीष्यामि तानपि ॥ ४ ॥ ये च केचिन्नियोत्स्यन्ति समाजेषु नियोधकाः । तानहं विनियोत्स्यामि रतिं तस्य विवर्धयन् ॥ ५ ॥

अर्थ—भीमसेन बोले—हे भारत ! मैं वल्लव नाम रसोइया कह कर रसोई का काम करूंगा, मैं रसोई में कुशल हूं ॥ ३ ॥ और हे राजन् ! जो महाबली हाथी वा बैल सिधाने योग्य होंगे, उन को भी सिधाउंगा ॥ ४ ॥ और मेलों में जो कोई भी नामी मल्ल कुश्ती लड़ने निकलेंगे, उन को मल्ल युद्ध कराउंगा, इस तरह उस राजा के प्रेम को बढ़ाउंगा ॥ ५ ॥

मूल—अर्जुन उवाच—प्रतिज्ञां षंढकोऽस्मीति करिष्यामि महीपते ॥ ६ ॥ ज्याघातौ हि महान्तौ मे संवर्तुं नृप दुष्करौ ।

वलयैश्छादयिष्यामि बाहू किणकृताविमौ ॥ ७ ॥ पिनद्धकम्बुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः । वेणी कृत शिरा राजन् नाम्ना चैव बृहन्नला ॥ ८ ॥ गीतं नृत्यं विचित्रं च वादित्रं विविधं तथा। शिक्षयिष्याम्यहं राजन् विराटस्य पुरस्त्रियः ॥ ९ ॥

अर्थ—अर्जुन बोले-हे पृथिवीनाथ ! मैं यह प्रतिज्ञा करूंगा, कि मैं नपुंसक हूं ॥ ६ ॥ (भुजाओं पर) चिल्ले की रगड़ के बड़े २ चिन्ह मेरे ढके जाने कठिन है,सो इस प्रकार चिन्ह वाली भुजाओं को चूड़ियों से ढकलूंगा ॥ ७ ॥ हाथों पर शंख की चूड़ियां पहन कर और सिर पर वेणी सजा कर बृहन्नला नामी नपुंसक बनूंगा॥८॥ और हे राजन् ! गाना और विचित्र नाचना और भांति२के बाजे विराट की पुरस्त्रियों को सिखाऊंगा ॥ ९ ॥

मूल—नकुल उवाच—अश्वबन्धो भविष्यामि विराट नृपते रहम् । ग्रन्थिको नाम नाम्नाहं कर्मैतत् सुप्रियं मम ॥ १० ॥ कुशलोऽस्म्यश्व शिक्षायां तथैवाश्व चिकित्सने ॥ ११ ॥

अर्थ—नकुल बोला—मैं राजा विराट के घोड़ों का ग्रान्थिक नामी साईस बनूंगा, यह कर्म मुझे बहुत प्रिय है ॥ १० ॥ मैं घोड़ों के सिखलाने में और घोड़ों की चिकित्सा करने में निपुण हूं॥११॥

मूल—सहदेव उवाच—गोसंख्याता भविष्यामि विराटस्य महीपते। प्रतिषेद्धा च दोग्धा च संख्याने कुशलो गवाम् ॥ १२ ॥ तन्तिपाल इति ख्यातो नाम्नाऽहंविदितस्त्वथ । निपुणं च चरिष्यामि व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ १३ ॥ अहं हि सततं गोषु भवता प्रहितः पुरा । तत्र मे कौशलं सर्वं मवबुद्धं विशांपते ॥ १४ ॥ वृषभानपि जानामि राजन् पूजित लक्षणान् । येषां मूत्रमुपाघ्राय अपिवन्ध्या प्रसूयते ॥ १५ ॥

अर्थ—सहदेव बोले—हे पृथिवीनाथ! मैं विराट की गौओं का गिनने, रोकने और दोहने वाला बनूंगा, गौओं के ज्ञान में मैं कुशल हूं ॥ १२ ॥ तन्तिपाल नाम से प्रसिद्ध रहूंगा, और बड़ी निपुणता से चलूंगा, आप के मन का सन्ताप दूर हो ॥ १३ ॥ आपने मुझे सदा गौओं के अधिकार में भेजा है, हे प्रजा नाथ! इस काम में सारा कौशल मेरा जाना हुआ है ॥ १४ ॥ हे राजन्! अच्छे लक्षणों वाले उन सांडों को भी जानता हूं, जिनके मूत्र को सूंघ कर वन्ध्या भी फल जाती है ॥ १५ ॥

मूल—द्रौपद्युवाच—सैरन्ध्र्यो रक्षिता लोके भुजिष्याःसन्ति भारत। नैवमन्याः स्त्रियो यान्ति इति लोकस्य निश्चयः॥ १६ ॥ साहं ब्रुवाणा सैरन्ध्री कुशला केशकर्मणि । सुदेष्णां प्रत्युपस्थास्ये राजभार्यां यशस्विनीम् ॥ १७ ॥ सा रक्षिष्यति मां प्राप्तां माभूत् ते दुःख मीदृशम् ॥ १८ ॥

अर्थ—द्रौपदी बोली—हे भारत! सैरन्ध्रियें लोक में रक्षित* दासियें होती हैं, और कोई स्त्रियें रानियों के पास जाने नहीं पाती हैं, यह लोक का निश्चय है, सो मैं बाल गूंथने में कुशल सैरन्ध्री बन कर राजपत्नी यशस्विनी सुदेष्णा के पास रहूंगी ॥ १७ ॥ उस के पास रहने से वह मेरी रक्षा करेगी, आप को मत क्लेश हो ॥ १८ ॥

अ० २ (व० ४) धौम्य का उपदेश

मूल—युधिष्ठिर उवाच—पुरोहितोऽयमस्माकमग्निहोत्राणि रक्षतु। सूदपौरोगवैः सार्धं द्रुपदस्य निवेशने ॥ १ ॥ इन्द्रसेन

* उन की सब रक्षा करते हैं।

मुखाश्चेमे रथानादाय केवलान् । यान्तु द्वारवतीं शीघ्र मिति मे वर्तते मतिः ॥ २ ॥ इमाश्च नार्यो द्रौपद्या सर्वाश्च परिचारिकाः । पञ्चालानेव गच्छन्तु सूदपौरोगवैः सह ॥ ३ ॥ सर्वैरपि च वक्तव्यं न प्राज्ञायन्त पाण्डवाः । गता ह्यस्मानपाहाय सर्वे द्वैतवनादिति ४ ॥

अर्थ—यह हमारे पुरोहित जी रसोइयों और उन के अध्यक्षों समेत द्रुपद के घर में अग्निहोत्र की रक्षा करें ॥१॥ यह इन्द्रसेन आदि खाली रथों को लेकर शीघ्र द्वारका जावें, यह मेरा निश्चय है ॥ २ ॥ यह सब स्त्रियें जो द्रौपदी की सेविका हैं, यह रसोइयों और अध्यक्षों के साथ पञ्चाल देश को ही जावें ॥ ३ ॥ सब यह कहें, कि हमें पाण्डवों का पता नहीं है, हमें छोड़ कर द्वैतवन में चले गए हैं * ॥ ४ ॥

मूल—धौम्य उवाच—विदितं वो यथा सर्वं लोक वृत्त मिदंव्रत । विदिते चापि वक्तव्यं सुहृद्भिरनुरागतः ॥ ५ ॥ हृष्टद्वारो लभेद् द्रष्टुं राजस्वेषु न विश्वसेत् । तदेवासन मन्विच्छेद् यत्र नाभिपतेत्परः ॥ ६ ॥ यो न यानं न पर्यङ्कं न पीठं न गजं रथम् । आरोहेत् संमतोऽस्मीति स राजवसतिं वसेत् ॥ ७ ॥ यत्र यत्रैनमासीनं शंकेरन् दुष्टचारिणः । न तत्रोपविशेद् यो वै स राजवसतिं वसेत् ॥ ८ ॥ नचानुशिष्याद् राजानम पृच्छन्तं कदाचन । तूष्णींत्वेन मुपासीत काले समभि पूजयेत् ॥ ९ ॥ विदिते चास्य कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि । एवं विचारतो राज्ञि न क्षतिर्जायते क्वचित् ॥ १० ॥

---

* वस्तुतः विराटदेश में रहने की मन्त्रणा एकान्त में की गई थी और इन को पता नहीं दिया था ।

अर्थ-धौम्य बोले-बड़े हर्ष की बात है, लोक में किस के साथ कैसे वर्तना चाहिये, यह सब ठीक २ आप सब भाई जानते हैं, जानने पर भी अपने सुहृद् प्रेमवश से बतलाया करते हैं ॥५॥ किसी के द्वारा(निवेदन करके राजा को)देखने की इच्छा करे,राजा के आत्मीय जनों पर विश्वस्त न हो, उसी आसन को चाहे,जहां (से उसे उठाकर) कोई दूसरा न बैठे ॥ ६ ॥ जो मैं राजा का प्यारा हूं, इस बुद्धि से (राजा के) यान-पलंग, पीठ, हाथी, रथ पर न चढ़े, वह राजा के पास रहे ॥ ७ ॥ जहां २ बैठने पर दुष्ट जन उस पर शंका खड़ी कर दें, जो वहां कभी न बैठे, वह राजा के निकट रहे ॥ ८ ॥ बिन पूछे कभी कोई बात राजा को समझाने न लगे,किन्तु चुपचाप उस की सेवा करे,और समय पर राजा का मान करे ॥ ९ ॥ बहुत छोटे काम भी उस को जितला कर करे, इस प्रकार राजा के पास विचार कर चलने से कहीं कोई क्षति नहीं होती है ॥ १० ॥

मूल-समर्थनासु सर्वासु हितं च प्रियमेव च । संवर्णयेत् तदेवास्य प्रियादपि हितं वदेत् ॥ ११ ॥ नाहमस्य प्रियोस्मीति मत्वा सेवेत पण्डितः । अप्रमत्तश्च सततं हितं कुर्यात् प्रियं च यत् ॥ १२ ॥ शूरोस्मीति न दृप्तः स्याद् बुद्धिमानिति वा पुनः । प्रियमेवाचरन् राज्ञः प्रियो भवति भोगवान् ॥ १३ ॥ अम्लानो बलवान् शूरश्छायेवानुगतः सदा । सत्यवादी मृदुर्दान्तः स राजवसतिं वसेत् ॥ १४ ॥ अन्यस्मिन् प्रेष्यमाणे तु पुरस्ताद् यः समुत्पतेत् । अहं किं करवाणीति स राजवसतिं वसेत् ॥ १५ ॥ आन्तरे चैव बाह्ये च राज्ञा यश्चाथ सर्वदा । आदिष्टो नैव कंपेत स राजवसतिं वसेत् ॥ १६ ॥ यो वै गृहेभ्यः प्रवसन् प्रियाणां नानु

संस्मरेत् । दुःखेन सुखमन्विच्छेत् स राजवसतिं वसेत् ॥ १७ ॥ समवेषं न कुर्वीत नोच्चैः सन्निहितो वसेत् । न मन्त्रं बहुधा कुर्यादेवं राज्ञः प्रियो भवेत् ॥ १८ ॥ न कर्मणि नियुक्तः सन् धनं किञ्चिदपि स्पृशेत्।प्राप्नोति हि हरन् द्रव्यं बन्धनं यदि वा वधम्॥१९॥ यानं वस्त्र मलंकारं यच्चान्यत् संप्रयच्छति । तदेव धारयेन्नित्य मेवं प्रियतरो भवेत् ॥ २० ॥ एवं संयम्य चित्तानि यत्नतः पाण्डुनन्दनाः । संवत्सरमिमं तात तथाशीला बभूवत ॥ २१ ॥

अर्थ—विचार कर निर्णय की जाने वाली सब बातों में वह बात कहे, जो हित की भी हो और प्यारी भी लगे,(जहां दोनों का मेल न बन सके तहां) प्रिय से भी हित को बढ़ कर कहे ॥ ११ ॥ मैं इस का प्यारा हूं, ऐसे अभिमान से कभी इस का सेवन न करे, अप्रमत्त रह कर सदा हित और प्रिय करे ॥१२ ॥ मैं शूर वीर वा बुद्धिमान् हूं, इससे कभी अभिमानी न हो, राजा का प्रिय करता हुआ ही प्यारा बनता है और भोगों वाला बनता है ॥ १३ ॥ चेहरे पर कभी उदासी न लाए, बलवान् शूर वीर बन कर छाया की भांति सदा साथ रहे, सत्यवादी, मृदु और दमन शील हो, वह राजा के निकट रहे ॥ १४ ॥ दूसरे को भेजने के समय जो पहले उठ कर कहे क्या आज्ञा है, वह राजा के निकट रहे ॥ १५ ॥ किसी आन्तर वा बाह्य कार्य पर राजा से आज्ञा दिया हुआ कांपे नहीं, वह राजा के निकट बसे ॥ १६ ॥ जो घर से बाहर रहता हुआ अपने प्यारों का स्मरण न करे, दुःख से सुख को ढूंढे, वह राजा के निकट रहे ॥ १७ ॥ राजा के बराबर का वेष न रखे, निकट ऊंचे स्थान पर न बैठे, न मन्त्र को बहुतों में फैलाए इस प्रकार राजा का प्यारा होता है॥१८॥

किसी काम पर लगाया हुआ (अर्थियों से) तनिक भी धन न छुए, धन लेने से बन्धन वा वध को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ यान वस्त्र अलंकार वा कोई और वस्त्र जो राजा देवे, उस को नित्य धारण करे, इस प्रकार राजा का प्रिय तर होता है ॥ २० ॥ हे पाण्डु पुत्रो ! यत्न से अपने चित्तों को रोक कर इस वर्ष ऐसे स्वभाव वाले रह कर वृद्धि की इच्छा करो ॥ २१ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच–अनुशिष्टाः स्म भद्रं ते नैतद्वक्तास्ति कश्चन । कुन्तीमृते मातरं नो विदुरं वा महामतिम् ॥ २२ ॥ यदेवानन्तरं कार्यं तद् भवान् कर्तुमर्हति । तारणायास्य दुःखस्य प्रस्थानाय जयाय च ॥ २३ ॥ एवमुक्तस्ततो राज्ञा धौम्योऽथ द्विज सत्तमः । तेषां समिध्य तानग्नीन् मन्त्र वच्च जुहावसः ॥२४॥ समृद्धि वृद्धि लाभाय पृथिवी विजयाय च ॥ २५ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हमें शिक्षा दी है, आप का कल्याण हो, ऐसी शिक्षा देने वाला माता कुन्ती और महामति विदुर के सिवाय और कौन है ॥ २२ ॥ अब जो दुःख से तारने के लिये, प्रस्थान के लिये, और जय के लिये कर्म करना चाहिये, वह करने योग्य हैं ॥ २३ ॥ राजा के ऐसा कहने पर द्विजवर धौम्य ने उन की अग्नियों को प्रज्वालित करके समृद्धि और वृद्धि की प्राप्ति के लिये और पृथिवी के विजय के लिये मन्त्रों से हवन किया ॥ २५ ॥

अ०३ (व० ५-१२) पाण्डवों का विराट नगर में प्रवेश

मूल—ते वीरा बद्धनिस्त्रिंशास्तथा बद्ध कलापिनः । बद्ध गोधांगुलित्राणाः कालिन्दी मभितो ययुः ॥ १ ॥ विध्यन्तो मृग

जातानि महेष्वासा महाबलाः । लुब्धा ब्रुवाणा मत्स्यस्य विषयं प्राविशन् वनात् ॥ २ ॥ स राजधानीं संप्राप्य कौन्तेयोऽर्जुन मब्रवीत् । क्वायुधानि समासज्य प्रवेक्ष्यामः पुरं वयम् ॥ ३ ॥ अर्जुन उवाच—इयं कूटे मनुष्येन्द्र गहना महती शमी । भीमशाखा दुरारोहा श्मशानस्य समीपतः ॥ ४ ॥ न चापि विद्यते कश्चिन्मनुष्य इति मे मतिः । योऽस्मान् निदधतो द्रष्टा भवेच्छस्त्राणि पाण्डवाः ॥ ५ ॥ एषाधाया युधं शम्यां गच्छामो नगरं प्रति॥६ ॥

अर्थ—वह वीर तलवारें और तरकश लटकाए और अंगुलित्राण पहने हुए यमना के एक ओर (दक्षिण तट पर) चलने लगे ॥ १ ॥ महाबली धनुर्धारी मृगों को मारते हुए अपने आप को चिड़ीमार बतलाते हुए वन से विराट के देश में प्रविष्ट हुए ॥ २ ॥ राजधानी के पास पहुंच कर, युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा, शस्त्रों को कहां रख कर हम पुर में प्रवेश करें ॥ ३ ॥ अर्जुन बोला—हे नरनाथ!यह एक जंड(शमी) का वृक्ष है(यहां लोग हमारे शस्त्रों को नहीं देखेंगे, क्योंकि) यह बड़ा है, घना है, भिड़ के ऊपर है, शाखा इस की भयावनी हैं, चढ़ने का कोई मार्ग नहीं, और श्मशान के निकट है (इस से भी त्याज्य है) ॥ ४ ॥ इस समय कोई मनुष्य यहां है ही नहीं, जो हमें शस्त्र रखते हुए देख सके ॥ ५ ॥ सो इस जंड पर शस्त्र रख कर नगर में चलें ॥ ६ ॥

मूल—अथान्व शासन्नकुलं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । आरुह्येमां शमीं वीर धनूंष्येतानि निक्षिप ॥ ७ ॥ तामुपारुह्य नकुलो धनूंषि निदधे स्वयम् । यत्र चापश्यत स वै तिरो वर्षाणि वर्षति ॥ ८ ॥ तत्र तानि दृढैः पाशैः सुगाढं पर्यबन्धत ॥ ९ ॥ शरीरं च मृतस्यैकं समबन्धन्त पाण्डवाः । विवर्जयिष्यन्ति नरा दूरा देव

शमी मिमाम् ॥ १० ॥ अशीतिशतवर्षेयं माता न इति वादिनः । कुल धर्मोऽयमस्माकं पूर्वैराचरितोपिवा ॥ ११ ॥ आगोपालावि-पालेभ्य आचक्षाणाः परन्तपाः । आजग्मुर्नगराभ्याशं पार्थाः शत्रु निबर्हणाः ॥ १२ ॥

अर्थ—अब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने नकुल को आज्ञा दी, हे वीर! तुम इस जंड पर चढ़ कर इन धनुषों को रख दो॥ ७ ॥ उस पर चढ़ कर नकुल ने उन धनुषों को रखा, जहां देखा, कि बरसने पर वर्षा से बचे रहेंगे ॥ ८ ॥ और वहां उन को दृढ़ रस्सियों से पक्का करके बांध दिया ॥ ९ ॥ और किसी मृत का शरीर लटका दिया, ताकि लोग इस शमी को दूरसे ही छोड़ दें ॥ १० ॥ और यह कहते हुए कि एक सौ अस्सी वर्ष की यह हमारी माता है, यह हमारा कुलधर्म है, हमारे बड़े ऐसे ही करते आए हैं ॥ ११ ॥ यह बात वह ग्वालों और गडरियों तक प्रसिद्ध करते हुए नगर के निकट आए ॥ १२ ॥

मूल—ततो विराटं प्रथमं युधिष्ठिरो राजा सभाया मुप-विष्ट मा व्रजत् । वैदूर्य रूपान् प्रतिमुच्यकाञ्चनानक्षान् स कक्षे परिगृह्य वाससा ॥ १३ ॥ तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य पाण्डवं विराट राडिन्दु मिवाभ्र संवृतम् । समागतं पूर्ण शशिप्रभाननं महानुभावं नचिरेण दृष्टवान् ॥ १४ ॥ वितर्कयन्तं तु नरर्षभस्तथा युधिष्ठि-रोऽभ्येत्य विराट मब्रवीत् । सम्राड्विजानात्विह जीवनार्थिनं विनष्ट सर्वस्व मुपागतं द्विजम् ॥ १५ ॥ इहाह मिच्छामि तवान-घान्तिके वस्तुं यथा कामचरस्तथा विभो । तमब्रवीत् स्वागत मित्य नन्तरं राजा प्रहृष्टः प्रतिसंगृहाण च ॥ १६ ॥

अर्थ—तब पहले राजा युधिष्ठिर सब्ज मणिसे जटित सोने

के पासों को वस्त्र में लपेट कर बगल में दबाय, सभा में बैठे विराटराज के पास आए ॥ १३ ॥ मेघों से ढके चन्द्र की भांति (ढके तेज वाले) पूर्णिमा के चन्द्र सी कान्ति से युक्त मुख वाले आते हुए पाण्डव को देख कर राजा ने झट देख लिया, कि यह कोई महानुभाव है ॥ १४ ॥ उस के मन में कई तर्क उठने लगे, इतने में वह नरवर युधिष्ठिर विराट के पास जाकर बोला 'महाराज को विदित हो मैं द्विज(ब्राह्मण)हूं,मेरा सर्वस्व खोगया है,जीविका के अर्थ आप के पास आया हूं ॥ १५ ॥ हे निष्पाप ! मैं यहां आप के निकट आप की इच्छानुसार काम करने वाला होकर रहना चाहता हूं। तिस पर प्रसन्न होकर 'आप का स्वागत हो' यह कह कर राजा ने उसे स्वीकार किया ॥ १६ ॥

मूल—अथापरो भीमबलः श्रियाज्वलन्नुपाययौ सिंहविलासविक्रमः। खजां च दर्वीं च करेण धारयन्नासिं च कालांग मकोश मव्रणम् ॥ १७ ॥ ततो विराटं समुपेत्य पाण्डवस्त्वदीन रूपं वचनं महामनाः। उवाच सूदोऽस्मि नरेन्द्र बल्लवो भजस्व मां व्यञ्जनकार मुत्तमं ॥ १८ ॥ बलेन तुल्यश्च न विद्यते मया नियुद्ध शीलश्च सदैव पार्थिव। गजैश्च सिंहैश्च समेयिवानहं सदा करिष्यामि तवानघ प्रियम् ॥ १९ ॥ तथा स भीमो विहितो महानसे विराटराज्ञो दयितोऽभवद् दृढम् । उवास राज्ये न च तं पृथग्जनो बुबोध तत्रानुचराश्च केचन ॥ २० ॥

अर्थ—अब दूसरा भीमबल वाला(भीम),हाथ में खजा (मुसद), करछी, और काला लोहे का, नंगा, एक जैसा सुथरा एक छुरा लिये (रसोइये का वेष धार) कान्ति से चमकता, शेर की सी बांकी चाल से चलता हुआ आया ॥ १७ ॥ उदार हृदय भीम

विराट के पास आया, और अदीनता से यह वचन कहा, हे नरेन्द्र मैं बल्लव रसोइया हूं, मैं बहुत अच्छे व्यञ्जन (भाजी साग दालें) बनाता हूं, आप मुझे सेवक बनाएं ॥ १८ ॥ हे राजन्! मैं बल में भी अतुल्य हूं, मल्ल युद्ध का मुझे बहुत अभ्यास है, मैंने हाथी और शेरों का भी सामना किया है, हे निष्पाप! सदा तेरा प्रिय करूंगा ॥ १९ ॥ सो भीम रसोई के काम में लगाया गया, वह विराट राज का बड़ा प्यारा होगया, उस राज्य में रहने लगा, साधारण लोग वा राजा के नौकर कोई भी उस को नहीं समझते थे ॥ २० ॥

मूल—ततः केशान् समुत्क्षिप्य वेल्लितांग्रान निन्दितान्। जुगूहे दक्षिणेपार्श्वे मृदूनमितलोचना ॥ २१ ॥ वासश्च परिधायैकं कृष्णा सुमलिनं महत्। कृत्वावेषं च सैरन्ध्रयास्ततो व्यचरदार्त्तवत् २२ ॥ विराटस्य तु कैकेयी भार्या परम संमता। आलोकयन्ती ददृशे प्रासादाद् द्रुपदात्मजाम् ॥ २३ ॥ सा समीक्ष्य तथा रूपा मनाथामेकवाससम्। समाहूया ब्रवीद् भद्रे कात्वं किञ्च चिकीर्षसि ॥ २४ ॥ द्रौपद्युवाच—केशान् जानाम्यहं कर्तुं पिंषे साधु विलेपनम्। ग्रथयिष्ये विचित्राश्च स्रजः परम शोभनाः॥२५॥ मालिनीत्येव मे नाम आगतात्वांन्निवेशनम्। सुदेष्णोवाच—एवं त्वां वासयिष्यामि यथा त्वं नान्दिनच्छसि ॥ २६ ॥

अर्थ—तब काले नेत्रों वाली द्रौपदी ने चञ्चल अग्रों वाले अपने कोमल सुन्दर बाल गूंथ कर दाईं ओर डाल लिये, और मलीनसा एक बड़ा वस्त्र पहन कर, सैरन्ध्री का वेष बना के, दुःखिया की भांति घूमने लगी ॥ २१-२२ ॥ राजा विराट की प्यारी भार्या कैकेयी (केकयों की पुत्री सुदेष्णा) ने महल से

झांक कर द्रौपदी को देखा ॥ २३ ॥ ऐसे रूप वाली, अकेली एक वस्त्र वाली को देख कर उसने उसे बुलाया और पूछा, हे भद्रे तू कौन है, और क्या चाहती है ॥ २४ ॥ द्रौपदी बोली— मैं बालों का संवारना जानती हूं, उबटन अच्छे बनाती हूं, मालाएं विचित्र और बड़ी सुहावनी गूंथना जानती हूं ॥ २५ ॥ मालिनी मेरा नाम है (जीविका के लिये) आप के महल में आई हूं। सुदेष्णा बोली—हे नन्दिनि ! ऐसे ही तुझे वास दूंगी, जैसा तुम चाहती हो ॥ २६ ॥

मूल—सहदेवोऽपि गोपानां कृत्वा वेषमनुत्तमम् । भाषां चैषां समास्थाय विराटमुपतस्थिवान् ॥ २७ ॥ क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति न तासु रोगो भवतीह कश्चन । तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैत द्वेतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥ २८ ॥ ऋषभांश्चापि जानामि राजन् पूजित लक्षणान् । येषां मूत्र मुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥ २९ ॥ तथा स राज्ञो विदितो विशांपते रुवास तत्रैव सुखं नरोत्तमः । न चैन मन्येपि विदुः कथञ्चन प्रादाच्च तस्मै भरणं यथेप्सितम् ॥ ३० ॥

अर्थ—सहदेव भी ग्वालों का पूरा २ वेष बना, उन की भाषा बोलता हुआ विराट की सेवा में पहुंचा ॥ २७ ॥ कि मेरे में यह शिल्प (हुनर) हैं, मुझे ऐसे २ उपाय विदित हैं, कि गौएं जल्दी बहुत होजाएं, और उन में कभी कोई रोग न हो ॥ २८ ॥ उत्तम लक्षणों वाले ऐसे सांड भी मैं पहचानता हूं, जिनके मूत्र को सूंघ कर वन्ध्या भी फलती है ॥ २९ ॥ राजा ने उसे भी वैसा ही मान दिया, और वह नरोत्तम वहीं सुख से रहा, राजा उस को भृति पर्याप्त देते थे. और दूसरे उस को कुछ भी नहीं जानते थे ॥ ३० ॥

मूल—अथापरोऽदृश्यत रूप सम्पदा स्त्रीणामलंकार धरो बृहत्पुमान् । आमुच्य कम्बू परिहाटके शुभे ।विमुच्य वेणी मपिनह्य कुण्डले ॥ ३१ ॥ बृहन्नलां तामभिवीक्ष्य मत्स्यराट् कलासु नृत्येषु तथैव वादिते । संमन्त्र्य राजा विविधैः स्वमान्त्रिभिस्ततः कुमारी पुरमुत्ससर्ज ॥ ३२ ॥ स शिक्षयामास च गीतवादितं सुतां विराटस्य धनञ्जयः प्रभुः । तथा च तं तत्र न जज्ञिरे जना बहिश्चरा वाप्यथवाऽन्तरे चराः ॥ ३३ ॥

अर्थ—अब और बड़ा पुरुष रूप की सम्पदा से युक्त, स्त्री के भूषण धारे हुए, ग्रीवा के ऊपर सोने के सुहावने कुण्डल लटकाए हुए, और वेणी बांधे हुए दिखलाई दिया ॥ ३१ ॥ उस बृहन्नला को नाचने गाने बजाने की कलाओं में निपुण देख, मान्त्रियों के साथ निश्चय करके, विराट राज ने उसे कुमारी के अन्तःपुर में भेज दिया ॥ ३२ ॥ अर्जुन वहां विराट सुता को गाना बजाना सिखलाने लगे, वहां उस को न बाहर के लोग न अन्दर के पहचानते थे ॥ ३३ ॥

मूल—अथापरोऽदृश्यत पाण्डवः प्रभुर्विराटराजं तरसा समेयिवान् । स वै हयानैक्षत तांस्ततस्ततः समीक्षमाणं स ददर्श मत्स्यराट् ॥ ३४ ॥ नकुल उवाच—अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयं चापि सर्वशः । दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सितम् ॥ ३५ ॥ तथा स गन्धर्ववरोपमो युवा विराट राज्ञा मुदितेन पूजितः । न चैन मन्येपि विदुः कथञ्चन प्रियाभिरामं विचरन्त मन्तरा ॥ ३६ ॥ एवं हि मत्स्ये न्यवसन्त पाण्डवा यथा प्रतिज्ञाभिर मोघदर्शनाः । अज्ञातचर्यां व्यचरन् समाहिताः ससुद्रनेमिपतयोऽति दुःखिताः ॥ ३७ ॥

अर्थ—अब एक और पाण्डव दिखलाई दिया, जो वेग से विराटराज के पास गया, वह यहां वहां विराट के घोड़ों को देखने लगा, गहरी दृष्टि डालते हुए को विराटराज ने देखा॥३४॥ तब नकुल बोला—मैं घोड़ों के स्वभाव जानता हूं, और सब को सिखाना जानता हूं, दुष्टों के दोष दूर करने जानता हूं, और घोड़ों की सम्पूर्ण चिकित्सा जानता हूं ॥ ३५ ॥ वैसे ही, उस गन्धर्व तुल्य युवा को भी, विराट राज ने आदर दिया, इस प्रकार रहते हुए उस प्रिय सुन्दर को दूसरे लोग नहीं जानते थे ॥३६॥ इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञाओं के अनुसार, वह सफल दर्शन वाले पाण्डव विराटनगर में रहने लगे, बड़े सावधान होकर वह जो समुद्र तक पृथिवी के स्वामी थे अति दुःखित हुए अज्ञात वास को बिताने लगे ॥ ३७ ॥

अ०४(व०१३-१५) भीम का मल्ल युद्ध

अर्थ—अथमासे चतुर्थेतु ब्रह्मणः सु महोत्सवः । आसीत समृद्धो मत्स्येषु पुरुषाणां स संमतः ॥ १ ॥ तत्र मल्लाः समापेतुर्दिग्भ्यो राजन् सहस्रशः । महाकाया महावीर्याः कालखंजा इवासुराः ॥ २ ॥ तेषामेको महानासीत् सर्वमल्लानथा ह्वयत् । आवल्गमानं तं रंगे नोपतिष्ठति कश्चन ॥ ३ ॥ यदा सर्वे विमनसस्ते मल्ला हत चेतसः । अथ सूदेन तं मल्लं योधयामास मत्स्यराट् ॥ ४ ॥ क्षेपणैर्मुष्टिभिश्चैव शिरोभिश्चावघट्टनैः । तद् युद्ध मभवद् घोरं जानुभिश्चापि जघ्नतुः ॥ ५ ॥ व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्ध कुशलावुभौ । बाहुभिःसमसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥ ६ ॥

अर्थ—चौथे महीने विराट देश में सब लोगों का प्यारा ब्रह्मा का बड़ा भारी मेला हुआ ॥ १ ॥ उस में कालखंज असुरों के तुल्य बड़े डील डौल वाले, बड़े बलवान् सहस्रों मल्ल चारों दिशाओं से आकर इकट्ठे हुए ॥ २ ॥ उनमें से एक भारी मल्ल ने सारे मल्लों को ललकारा, रंग में ताल ठोंकते हुए उस मल्ल के सामने कोई खड़ा न हुआ ॥ ३ ॥ जब सारे मल्लों के मन मारे गए, तब विराट राज ने रसोइये (भीम) के साथ उस मल्ल को लड़ाया ॥ ४ ॥ एक दूसरे को धकेलने से, मुक्कियों से, और सिरों की टक्करों से वह युद्ध बड़ा भयंकर हुआ, गोड़ों से भी एक दूसरे को ताड़ने लगे ॥ ५ ॥ विशाल छाती वाले लंबी भुजाओं वाले नियुद्ध निपुण दोनों लोहे की मुंगलियों जैसी भुजाओं से जुटे ॥ ६ ॥

मूल—चकर्ष दोर्भ्यामुत्पात्य भीमो मल्ल ममित्रहा। निनदन्त मभि क्रोशन् शार्दूल इव वारणम् ॥ ७ ॥ समुद्यम्य महाबाहुर्भ्रामयामास वीर्यवान्। ततो मल्लाश्च मत्स्याश्च विस्मयं चक्रिरे परम् ॥ ८ ॥ तस्मिन् विनिहते वीरे जीमूते लोक विश्रुते। विराटः परमं हर्ष मगच्छद् बान्धवैः सह ॥ ९ ॥ महर्षाद् प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः। बल्लवाय महारंगे यथा वैश्रवणस्तथा॥१०॥ एवं स सुबहून् मल्लान् पुरुषांश्च महाबलान्। विनिघ्नन् मत्स्य राजस्य प्रीति माहरदुत्तमाम् ॥ ११ ॥ यदास्य तुल्यः पुरुषो न कश्चिद् तत्र विद्यते। ततो व्याघ्रैश्च सिंहैश्च द्विरदैश्चाप्ययोधयत् ॥ १२॥ पुनरन्तः पुरगतः स्त्रीणां मध्ये वृकोदरः। योध्यते स विराटेन सिंहैर्मत्तैर्महाबलैः ॥ १३ ॥ बीभत्सुरपि गीतेन स्वनृत्येन च पाण्डवः। विराटं तोषयामास सर्वाश्चान्तः पुरस्त्रियः ॥ १४ ॥

अश्वैर्विनीतैर्जवनैस्तत्र तत्र समागतैः । तोषयामास राजानं नकुलो नृप सत्तमम् ॥ १५ ॥ विनीतान् वृषभान् दृष्ट्वा सहदेवस्य चाभितः। धनं ददौ बहुविधं विराटः पुरुषर्षभः ॥ १६ ॥ एवं ते न्यवसंस्तत्र प्रच्छन्नाः पुरुषर्षभाः।कर्माणि तस्य कुर्वाणो विराट नृपतेस्तदा।१७।

अर्थ—अनन्तर शत्रु नाशक भीमने गर्ज कर उस गर्जते हुए मल्ल को अपने हाथों से इस प्रकार उठा लिया, जैसे शेर हाथी को उठाए ॥ ७ ॥ महाबाहु महा बलवान् ने जब उसे उठा कर घुमाया, तब सारे मल्ल और मत्स्य (क्षत्रिय) बड़े विस्मित हुए ॥ ८ ॥ उस प्रसिद्ध जीमूत मल्ल के गिरने पर विराट बान्धवों सहित बडे प्रसन्न हुए ॥ ९ ॥ उस महारंग में बडे मन वाले राजा ने कुवेर की भांति बल्लव को बहुत धन दिया ॥ १० ॥ इस प्रकार भीमने बहुत से मल्लों को और महाबली पुरुषों को गिरा२ कर विराट राज को बडा प्रसन्न किया ॥ ११ ॥ जब इस के जोड़ का कोई पुरुष न रहा, तो बाघ शेर और हाथियों से भी उसे लड़ाया ॥ १२॥ अन्तःपुर में स्त्रियों के अन्दर बैठ कर भी विराट ने महाबली मत्त शेरों से भीम का युद्ध कराया॥१३॥ अर्जुन भी गीत से और अपने नृत्य से विराट को और अन्तः पुर की सारी स्त्रियों को प्रसन्न करता था ॥ १४ ॥ और नकुल वहां २ से आए हुए सिधे हुए वेगवान् घोड़ों से राजा को प्रसन्न करता था ॥ १५ ॥ सहदेव के आस पास सिधे हुए बैलों को देख कर विराट उसे अनेक प्रकार का धन देता था ॥ १६ ॥ इस प्रकार वह पुरुष वर विराट राजा के कर्म करते हुए छिप कर रहने लगे ॥ १७ ॥

अ० ५ (व० १५) द्रौपदी पर विपत्ति

मूल—वसमानेषु पार्थेषु मत्स्यस्य नगरे तदा । महारथेषु छन्नेषु मासा दश समाययुः ॥ १ ॥ तस्मिन् वर्षे गतप्राये कीचकस्तु महाबलः । सेनापतिर्विराटस्य ददर्श द्रुपदात्मजाम् ॥ २ ॥ तां दृष्ट्वा देवगर्भाभां चरन्तीं देवतामिव । कीचकः कामयामास कामबाणप्रपीडितः ॥ ३ ॥ कीचक उवाच—का त्वं कस्यासि कल्याणि कुतो वा त्वं वरानने । अतीव भ्राजसे सुभ्रु प्रभेवेन्दोरनुत्तमा ॥ ४ ॥ निरीक्ष्य वक्त्रचन्द्रं ते लक्ष्म्याऽनुपमया युतम् । कृत्स्ने जगति को नेह कामस्य वशगो भवेत् ॥ ५ ॥ नार्हसीहा सुखं वस्तुं सुखार्हा सुख वर्जिता । प्राप्नुह्यनुत्तमं सौख्यं मत्तस्त्वं मत्तगामिनि ॥ ६ ॥

अर्थ—विराट नगर में छिप कर रहते हुए उन महारथी पाण्डवों को दस महीने बीत गए ॥ १ ॥ वह वर्ष जब लगभग निकल गया, तब एक दिन विराट के सेनापति महाबल कीचक ने द्रुपदसुता को देखा ॥ २ ॥ देवकन्या तुल्य कान्ति वाली, देवता की भांति विचरती हुई उस को देख कर काम बाण से पीड़ित हुआ कीचक उसे कामना करने लगा ॥ ३ ॥ कीचक बोला—हे कल्याणि ! तू कौन है, किस की है, और हे वरानने कहां से आई है, हे सुभ्रु चन्द्र की प्रभावत् तू अतीव शोभा वाली है ॥ ४ ॥ अनुपम कान्ति से युक्त तेरे मुख चन्द्र को देख कर, इस सारे जगत् में ऐसा कौन है, जो काम के वश न हो जाए ॥ ५ ॥ तू यहां (दासी भाव से) रहने योग्य नहीं है, तू सुख के योग्य है, आर सुख से वर्जित हो रही है, हे मस्त चाल

वाली मुझसे तू अत्युत्तम सुख भोग कर ॥ ६ ॥

मूल—द्रौपद्युवाच—अप्रार्थनीयामिह मां सूतपुत्राभिमन्यसे निहीनवर्णां सैरन्ध्रीं बीभत्सां केशकारिणीम् ॥ ७ ॥ परदारास्मि भद्रं ते न युक्तं त्वय साम्प्रतम् । दयिताः प्राणिनां दारा धर्मं समनुचिन्तय ॥ ८ ॥ कीचक उवाच—नार्हस्येवं वरारोहे प्रत्याख्यातुं वरानने । मां मन्मथ समाविष्टं त्वत्कृते चारु हासिनीम् ॥ ९ ॥ प्रत्याख्याय च मां भीरु वशगं प्रियवादिनम् । नूनं त्वमसितापांगि पश्चात्तापं करिष्यसि ॥ १० ॥ अहं हि सुभ्रु राज्यस्य कृतस्नस्यास्य सुमध्यमे । प्रभुर्वासयिता चैव वीर्ये चा प्रतिमः क्षितौ॥११॥ पृथिव्यां मत्समो नास्ति कश्चिदन्यः पुमानिह । रूपयौवन सौभाग्यैर्भोगैश्चानुत्तमैः शुभैः ॥ १२ ॥ सर्व काम समृद्धेषु भोगेष्वनुपमेष्विह । भोक्तव्येषु च कल्याणि कस्माद् दास्ये रतासि॥१३॥

अर्थ—द्रौपदी बोली—हे सूत पुत्र ! बाल गूंथने वाली, घृणित, निकृष्ट वर्ण की सैरन्ध्री हूं, मैं आप से चाहने योग्य नहीं हूं, फिर क्यों मुझे आप चाहते हैं ॥ ७ ॥ तेरा कल्याण हो, मैं पर स्त्री हूं, तुझे ऐसा कहना उचित नहीं है, सब प्राणियों को अपनी स्त्रियें प्यारी होती हैं, तुम अपने धर्म को विचारो ॥ ८ ॥ कीचक बोला—हे वरारोहे हे सुन्दर मुखि, सुन्दर हंसी वाली, मैं तेरे लिये काम पीड़ित हूं, तुझे मेरा प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥ हे काले नेत्रों वाली तुम मुझ प्रिय बोलने वाले वशवर्ती को त्याग कर अवश्य पछताओगी ॥ १० ॥ हे सुन्दर कमर वाली मैं इस सारे राज्य का स्वामी, बसाने वाला हूं, और पृथिवी में मेरे तुल्य कोई बली नहीं है ॥ ११ ॥ रूप, यौवन, सौभाग्य और अत्युत्तम शुभ

भोगों में सारी पृथिवी में मेरे बराबर कोई और पुरुष नहीं है ॥ १२ ॥ सो सारी इच्छाओं के अनुसार जब तेरे भोगने के लिये अनुपम भोग विद्यमान हैं, तो तुम दासपन में क्यों लगी हो ॥ १३ ॥

मूल—सैरन्ध्र्युवाच—मा सूतपुत्र मुह्यस्व माऽद्य त्यक्षस्व जीवितम् । जानी हि पञ्चभिर्घोरैर्नित्यं मामाभिरक्षिताम् ॥ १४ ॥ न चाप्यहं त्वया लभ्या गन्धर्वाः पतयो मम । ते त्वां निहन्युः कुपिताः साध्वलं मा व्यनीनशः ॥ १५ ॥ यथा निश्चेतनो बालः कूलस्थः कूलमुत्तरम् । तर्तुमिच्छति मन्दात्मा तथा त्वं कर्तुमिच्छसि ॥ १६ ॥ प्रत्याख्यातो राजपुत्र्या सुदेष्णां कीचकोऽब्रवीत् । यथा कैकेयि सैरन्ध्री समेयात् तद्विधीयताम् ॥ १७ ॥ तस्य सा बहुशः श्रुत्वा सुदेष्णा सूत मब्रवीत् ॥ १८ ॥ पर्वाणि त्वं समुद्दिश्य सुरा मन्नं च कारय । तत्रैनां प्रेषयिष्यामि सुराहारीं तवान्तिकम् ॥ १९ ॥

अर्थ—द्रौपदी बोली—हे सूत पुत्र भूल में मत पड़, मत अपने जीवन को त्याग, यह जान, कि पांच भयंकर जीव मेरी रक्षा कर रहे हैं ॥ १४ ॥ तुम मुझे नहीं पा सकते हो, मेरे रक्षक गन्धर्व हैं, वह कुपित हो कर तुझे मार डालेंगे, मत तू नाश को प्राप्त हो ॥ १५ ॥ जैसे (नदी के) एक तट पर बैठा हुआ बे समझ मूढ बालक तैर कर दूसरे तट पर जाना चाहे, वैसा काम तू करना चाहता है ॥ १६ ॥ राजपुत्री से रोका हुआ कीचक सुदेष्णा से बोला, हे कैकेयि ! सैरन्ध्री जैसे मेरे घर में बसे, वह उपाय करो ॥ १७ ॥ उस से यह बात कई बार सुन कर सुदेष्णा सूत से बोली ॥ १८ ॥ किसी मेले के अवसर पर सुरा और अन्न बनवाना, वहां इस को सुरा लाने के लिये तेरे पास भेजूंगी ॥ १९ ॥

मूल-इत्युक्तः स विनिष्क्रम्य भगिन्या वचनात् तदा। सुरामाहारयामास राजार्हां सुपरिष्कृताम् ॥ २० ॥ भक्षांश्च विविधाकारान् बहूंश्चोच्चावचांस्तदा। कारयामास कुशलैरन्नपानं सुशोभनम् ॥ २१ ॥ तस्मिन् कृते तदा देवी कीचकेनोपमन्त्रिता। सुदेष्णा प्रेषयामास सैरन्ध्रीं कीचकालयम्॥ २२ ॥ सैरन्ध्र्युवाच-न गच्छेयमहं तस्य राजपुत्रि निवेशनम्। त्वमेव राज्ञि जानासि यथा स निरपत्रपः ॥ २३ ॥ त्वं चैव देवि जानासि यथा स समयः कृतः। प्रविशन्त्या मया पूर्वं तव वेश्मनि भामिनि ॥ २४ ॥ कीचकस्तु सुकेशान्ते मूढो मदनदर्पितः। सोऽवमंस्यति मां दृष्ट्वा न यास्ये तत्र शोभने ॥ २५ ॥ सन्ति बह्व्यस्तव प्रेष्या राजपुत्रि वशानुगाः। अन्यां प्रेषय भद्रं ते सा हि मामवमंस्यते॥ २६ ॥

अर्थ-ऐसे कहा हुआ वह चला गया और बहिन के कहे अनुसार राजयोग्य उत्तम सुरा बनवाई ॥ २० ॥ अनेक प्रकार के भांति २ के भक्ष्य और सुन्दर अन्न पान कुशल पुरुषों से बनवाया ॥ २१ ॥ उस के तय्यार हो जाने पर कीचक ने सुदेष्णा को बुला भेजा। सुदेष्णा ने सैरन्ध्री को कीचक के घर जाने की आज्ञा दी ।२२। सैरन्ध्री बोली-हे राजपुत्रि! मैं उस के घर नहीं जाउंगी, हे रानी तू जानती है, जैसा कि वह निर्लज्ज है ॥ २३ ॥ हे देवि! आप जानती हैं, जैसा कि मैंने आप के घर में प्रवेश करते समय शर्त कर ली थी ॥ २४ ॥ हे सुन्दर केशों वाली मूढ कीचक काम से मत्त है, वह मुझे देख कर मेरा अपमान करेगा, हे सुन्दरि मैं वहां नहीं जाउंगी॥ २५ ॥ हे राजपुत्रि आप के अधीन बहुत परिचारिका हैं, किसी और को भेजिये, आप का कल्याण हो, मेरा वह अपमान करेगा ॥ २६ ॥

मूल—सुदेष्णोवाच—नैव त्वां जातु हिंस्यात् स इतः सं-प्रेषितां मया। इत्युक्त्वा प्रददौ पात्रं सपिधानं हिरण्मयम् ॥२७॥ सा शंकमाना रुदती दैवं शरणमीयुषी। प्रातिष्ठत सुराहारी की-चकस्य निवेशनम् ॥ २८ ॥ तां मृगीमिव सन्त्रस्तां दृष्ट्वा कृष्णां समीपगाम्। उदतिष्ठन्मुदा सूतो नावं लब्ध्वेव पारगः ॥ २९ ॥

अर्थ—सुदेष्णा बोली-मुझ से भेजी हुई तुझ को वह मार नहीं डालेगा, यह कह कर सोने का बर्तन ढकने सहित उस को दे दिया ॥ २७ ॥ वह डरती हुई, रोती हुई, परमात्मा की शरण पड़ी हुई, सुरा लाने के लिये कीचक के घर गई ॥ २ ॥ मृगी की भांति भयभीत हुई समीप आई कृष्णा को देख कर सूत हर्ष से उठ खड़ा हुआ, जैसे पार जाने वाला नौका को पा कर ॥ २९ ॥

अ० ६ (व० १६) कीचक कृत द्रौपदी का अपमान

मूल—कीचक उवाच-स्वागतं ते सुकेशान्ते सुव्युष्टा रज-नी मम। स्वामिनी त्वमनुप्राप्ता प्रकुरुष्व मम प्रियम् ॥ १ ॥ अस्ति मे शयनं दिव्यं त्वदर्थ मुपकल्पितम्। एहि तत्र मया सार्धं पिब-स्व मधुमाधवीम् ॥ २ ॥ द्रौपद्युवाच-अप्रैषीद् राजपुत्री मां सुरा हारीं तवान्तिकम्। पान माहर मे क्षिप्रं पिपासा मेति चाब्रवीत् ॥ ३ ॥ कीचक उवाच-अन्या भद्रे नयिष्यन्ति राजपुत्र्याः प्रति-श्रुतम्। इत्येनां दक्षिणे पाणौ सूत पुत्रः परामृशत् ॥ ४ ॥ सा गृहीता विधुन्वाना भूमावाक्षिप्य कीचकम्। सभां शरणमा-गच्छद् यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ ५ ॥ तां कीचकः प्रधावन्तीं केशपाशे परामृशत्। अथैनां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदाव-

धाव ॥ ६ ॥ तां चासीनौ ददृशातुर्भीमसेन युधिष्ठिरौ। अमृष्य माणौ कृष्णायाः कीचकेन परा भवम् ॥ ७ ॥ तस्य भीमो वधं प्रेप्सुः कीचकस्य दुरात्मनः। भूयश्च त्वरितः क्रुद्धः सहसोत्थातुमैच्छत ॥ ८ ॥ अथावमृद्नादंगुष्ठमंगुष्ठेन युधिष्ठिरः। प्रबोधन भयाद् राजा भीमं तं प्रत्यपेधयत ॥ ९ ॥ आलोकयसि किं वृक्षं सूद दारुकृतेन वै। यदि ते दारुभिः कृत्यं बहिर्वृक्षान्निगृह्यताम् ॥ १० ॥

अर्थ—कीचक बोला-हे सुन्दर बालों वाली मैं तेरा स्वागत करता हूं, यह मेरी रात उत्तम प्रभात वाली हुई है, तुम मेरी स्वामिनी आई हो, मेरा प्रिय करो ॥ १ ॥ तुम्हारे अर्थ यह दिव्य शय्या तय्यार है, आओ, यहां मेरे साथ महुए का मद्य पियो ॥ २ ॥ द्रौपदी बोली, मुझे राजपुत्री ने आप के पास सुरा लाने के लिये भेजा है, कहा है, कि मुझे प्यास लगी है, जल्दी ले आओ ॥ ३ ॥ कीचक बोला—हे भद्रे ! राजपुत्री से कही वस्तु को दूसरी दासियें ले जाएंगी, यह कह कर सूत पुत्र ने द्रौपदी का दहना हाथ पकड़ लिया ॥ ४ ॥ पकड़ी हुई ने झुंझला कर झटके से कीचक को पृथिवी पर फैंक दिया, और (दौड़ कर) सभा की शरण ली, जहां राजा युधिष्ठिर था ॥ ५ ॥ उस दौड़ती हुई को कीचक ने बालों से पकड़ लिया, और राजा के सामने गिरा कर उसे लात मारी ॥ ६ ॥ सभा में बैठे भीम और युधिष्ठिर ने उस की यह दशा देखी, कीचक से द्रौपदी के अपमान को वह नहीं सह सके ॥ ७ ॥ भीम उस दुरात्मा कीचक का वध चाहता हुआ, क्रोध से भरा हुआ झट उठने लगा ॥ ८ ॥ तब युधिष्ठिर ने (अपने हाथके) अंगूठे से

(उस के पाओं के) अंगूठे को दबा दिया, इस प्रकार उस ने पता लगजाने के डर से भीम को रोक दिया ॥ ९ ॥ (यह कहते हुए) हे रसोइये सूखी लकड़ी के लिये इस वृक्ष को क्यों देखते हो, यदि तुम्हें लकड़ियों से काम है, तो बाहर वृक्षों को काटो*॥१०॥

मूल—सा सभाद्वार मासाद्य रुदती मत्स्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥ मयाऽत्र शक्यं किं कर्तुं विराटे धर्मदूषके । यः पश्यन् मां मर्षयाति वध्यमानामनागसम् ॥ १२ ॥ नाहं मेतेन युक्तं वै हन्तुं मत्स्य तवान्तिके । सभासदोऽत्र पश्यन्तु कीचकस्य व्यतिक्रमम् ॥ १३ ॥ विराट उवाच—परोक्षं नाभिजानामि विग्रहं युवयोरहम् । अर्थ तत्त्व मविज्ञाय किन्तु स्यात् कौशलं मम ॥ १४ ॥ युधिष्ठिर उवाच—अकालज्ञासि सैरन्ध्रि शैलूषीव विरोदिषि । विघ्नं करोषि मत्स्यानां दीव्यतां राज संसदि ॥ १५ ॥ गच्छ सैरन्ध्रि गन्धर्वाः करिष्यन्ति तव प्रियम् । व्यपनेष्यन्ति ते दुःखं येन ते विप्रियं कृतम् ॥ १६ ॥ 'अतीव तेषां घृणिना मर्थेऽहं धर्मचारिणी' इत्युक्त्वा प्राद्रवत् कृष्णा सुदेष्णाया निवेशनम् ॥ १७ ॥

अर्थ—वह सभा द्वार पर आकर रोती हुई विराट से बोली ॥ ११ ॥ मैं यहां क्या कर सकती हूं, जब स्वयं विराट राज धर्म के दूषक हो गए, जिन्हों ने मुझ निरपराध को ताड़ना की जाती हुई अपनी आंखों से देख कर चुप रहे हैं॥१२॥हे विराट राज आप के पास मुझे इस प्रकार ताड़ना उचित न था । यहां के सब सभासद कीचक की इस अमर्यादा को देखें ॥ १३ ॥ विराट बोले—तुम दोनों की जो अलग लड़ाई हुई है, वह मुझे मालूम नहीं, बात के तत्त्व को जाने बिना मेरा कौशल क्या हो सकता

---

* 'निर्जन में इसे मारो' यह अभिप्राय है

है ॥ १४ ॥ युधिष्ठिर बोले—हे सैरन्ध्रि तू समय के जानने वाली नहीं है, जो नटी की भांति रोरही है, राजसभा में मत्स्यों की खेल में तू विघ्न डालती है ॥ १५ ॥ चली जा हे सैरन्ध्रि गन्धर्व तेरा प्रिय करेंगे, वह तेरे दुःख को दूर करेंगे, जिसने तेरा विप्रिय किया है ॥ १६ ॥ तब द्रौपदी 'उन अतिव दयालुओं के निमित्त मैं मर्यादा पाल रही हूं' यह कह कर सुदेष्णा के घर को चली गई ॥ १७ ॥

अ० ६ (व० १७-२२) कीचक के वध की मन्त्रणा

मूल—सा हता सूतपुत्रेण राजपुत्री यशस्विनी । वधं कृष्णा परीप्सन्ती सेनावाहस्य भामिनी ॥ १ ॥ किं करोमि क्व गच्छामि कथं कार्यं भवेन्मम । इत्येवं चिन्तयित्वा सा भीमं वै मनसागमत् ॥ २ ॥ तत उत्थाय रात्रौ सा विहाय शयनं स्वकम् । माद्रवन्नाथ मिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती ॥ ३ ॥ अभ्यभाषत पाञ्चाली भीमसेन मनिन्दिता । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे भीमसेन यथा मृतः ॥ ४ ॥ स संप्रहाय शयनं राजपुत्र्या प्रबोधितः । उपातिष्ठत मेघाभः पर्यंके सोपसंग्रहे ॥ ५ ॥ भीम उवाच—शीघ्र मुक्त्वा यथा कामं यत्ते कार्यं विवक्षितम् । गच्छ वै शयनायैव पुरा नान्येन बुध्यते ॥ ६ ॥ द्रौपद्युवाच—योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम भारत । सेनानीः पुरुषव्याघ्र श्यालः परम दुर्मतिः ॥ ७ ॥ स मां सैरन्ध्रिवेषेण वसन्तीं राज वेश्मनि । नित्यमेवाह दुष्टात्मा भार्या मम भवेति वै ॥ ८ ॥ तेनोप मन्त्र्यमाणाया वधार्हेण सपत्नहन् । कालेनेव फलं पक्वं हृदयं मे विदीर्यते ॥ ९ ॥ पश्यतो धर्मराजस्य कीचको मां पदावधीत् । तव चैव समक्षे वै भीमसेन महाबल

॥ १० ॥ त्वया ह्यहं परित्राता तस्माद् घोराज्जटा सुराद। जय-द्रथं तथैव त्वमजैषीर्भ्रातृभिः सह ॥ ११ ॥ जहीममपि पापिष्ठं योऽयं मामवमन्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—सूत पुत्र से ताड़ना की हुई यशस्विनी राजपुत्री द्रौपदी सेनापति का वध चाहती हुई 'क्या करूं, कहां जाऊं कैसे मेरा कार्य बने' यह सोचते २ उसने मन में भीम का निश्चय किया ॥ १–२ ॥ तब वह द्रौपदी नाथ वाली होकर भी नाथ को चाहती हुई रात के समय उठी और अपनी शय्या को छोड़ कर दौड़ी ॥ ३ ॥ और वहां जा वह अनिन्दिता द्रौपदी भीमसेन से बोली—उठो उठो हे भीमसेन कैसे मृत की नाईं (स्त्रियों का निरादर सहते हुए) सो रहे हो ॥ ४ ॥ राजपुत्री से जगाया हुआ मेघ सदृश भीम उठ कर बिछे हुए पलंग पर बैठ गया॥५॥ भीम बोले—जो बात कहनी चाहती हो, वह यथा रुचि कह कर सोने के लिये अपने स्थान पर ही चली जाओ, ताकि कोई और न जान ले ॥ ६ ॥ द्रौपदी बोली—हे भारत ! यह जो राजा विराट का साला परम दुष्ट सेनापति कीचक है ॥ ७ ॥ वह दुष्टात्मा राज घर में सैरन्ध्री वेष में रहती हुई मुझे प्रति दिन कहता है, कि तू मेरी भार्या बन जा ॥ ८ ॥ हे शत्रुओं के मारने वाले वह वध के योग्य दुष्ट जब मुझे इस तरह बुलाता है, तो मेरा हृदय समय पर पके फल की भांति टूट पड़ता है ॥ ९ ॥ धर्मराज के देखते हुए कीचक ने मुझे पाओं से ताड़ना किया और तेरे भी सामने ॥ १० ॥ हे भीम तुमने ही मुझे उस घोर जटासुर से बचाया था, और भाइयों सहित जा कर जयद्रथ को जीता था ॥ ११ ॥ इस पापिष्ठ को भी मार, जो मेरा अपमान करता है ॥ १२ ॥

मूल—भीमसेन उवाच—तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे। अद्य तं मूदयिष्यामि कीचकं सह बान्धवम् ॥ १३ ॥ अस्याः प्रदोषे शर्वर्याः कुरुष्वानेन संगतम्। दुःखं शोकं च निर्धूय याज्ञसेनि शुचिस्मिते ॥ १४ ॥ यैषा नर्तनशालेह मत्स्यराजेन कारिता। दिवाऽत्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथा गृहम् ॥ १५ ॥ तत्रास्ति शयनं दिव्यं दृढांगं सुप्रतिष्ठितम्। तत्रास्य दर्शयिष्यामि पूर्वमेतान् पितामहान् ॥ १६ ॥ यथा च त्वां न पश्येयुः कुर्वाणां तेन संविदम्। कुर्यास्तथा त्वं कल्याणि यथा सन्निहितो भवेत् ॥ १७ ॥ तथा तौ कथयित्वा तु बाष्पमुत्सृज्य दुःखितौ। रात्रि शेषं तमत्युग्रं धारयामासतुर्हृदि ॥ १८ ॥

अर्थ—भीमसेन बोले—हे कल्याणि ! वही करूंगा, जो तुम कहती हो। अभी उस कीचक को बान्धवों समेत मारूंगा॥१३॥ हे पवित्र हंसी वाली द्रौपदि, आज रात के प्रभात समय दुःख शोक प्रकट न करके इस से संभाषण करो ॥ १४ ॥ यह जो मत्स्यराज ने यहां नाचघर बनवाया है, दिन के समय यहां कन्याएं नाचती हैं, रात को अपने २ घर चली जाती हैं॥१५॥ वहां एक दृढ अंगों वाला गढ़ा हुआ दिव्य शयन है, वहां इस को इस के पहले मरे हुए पितर दिखलाऊंगा ॥ १६ ॥ पर जैसे उस से संकेत करती हुई तुम को कोई देखे न, वैसे करना, और जैसे कि वह वहां अवश्य आवे ॥ १७ ॥ इस प्रकार कह कर दुःखित हुए उन दोनों ने आंसुएं बहा कर उस अत्युग्र रात्रिशेष को दिलीलों में बिताया ॥ १८ ॥

मूल—तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय कीचकः। गत्वा राजकुलायैव द्रौपदी मिदं मब्रवीत् ॥ १९ ॥ सभायां पश्यतो

राज्ञः पातयित्वा पदाहनम् । न चैवालभसे त्राणमभिपन्ना बलीयसा ॥ २० ॥ प्रवादेनेह मत्स्यानां राजा नाम्नाऽयमुच्यते । अहमेव हि मत्स्यानां राजा वै वाहिनीपतिः ॥ २१ ॥ मां सुखं प्रतिपद्यस्व दासो भीरु भवामि ते । अह्नाय तव सुश्रोणि शतं निष्कान् ददाम्यहम् ॥ २२ ॥ द्रौपद्युवाच—एवं मे समयं त्वद्य प्रतिपद्यस्व कीचक । न त्वां सखा वा भ्राता वा जानीयात् संगतं मया ॥ २३ ॥ अनुप्रवादाद् भीतास्मि गन्धर्वाणां यशस्विनाम् । एवं मे प्रतिजानीहि ततोऽहं वशगा तव ॥ २४ ॥ कीचक उवाच-एवमेतत् करिष्यामि यथा सुश्रोणि भाषसे ॥ २५ ॥ द्रौपद्युवाच-यदेतन्नर्तनागारं मत्स्यराजेन कारितम् । दिवाऽत्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम् ॥ २६ ॥ तमिस्रे तत्र गच्छेथा गन्धर्वास्तन्न जानते ॥ २७ ॥

अर्थ—उस रात के बीतने पर प्रातःकाल उठ कर कीचक राजघर में गया, और द्रौपदी से बोला ॥ १९ ॥ सभा में राजा के देखते हुए मैंने तुझे गिरा कर लात मारी, और मुझ बलवान् के दबाव से तू किसी से रक्षा नहीं पासकती ॥ २० ॥ मत्स्यों के प्रवाद से (यह मत्स्य क्षत्रियों का देश है) यह नाम मात्र का राजा कहलाता है, मैं सेनापति ही मत्स्यों का असली राजा हूं ॥ २१ ॥ मुझे प्रसन्नता से प्राप्त हो, हे भीरु! तेरा दास बनता हूं, हे सुन्दर कमर वाली! अभी तुझे सौ मुहरें देता हूं ॥ २२ ॥ द्रौपदी बोली-हे कीचक मेरी इस शर्त को स्वीकार करो, कि मेरे साथ तुम्हारे संग को तुम्हारे मित्र और भाई भी न जान सकेंगे, क्योंकि यशस्वी गन्धर्वों तक इस बात के फैलने से मैं डरती हूं, यह मेरे साथ प्रतिज्ञा करो, तब मैं आप के अधीन हूं ॥ २४ ॥ कीचक

बोला—ऐसे ही करूंगा, जैसे तुम हे सुन्दर कमर वाली कहती हो ॥ २५ ॥ द्रौपदी बोली—यह जो विराटराज ने नाचघर बनवाया है, इस में दिन को कन्याएं नाचती हैं, रात को अपने २ घर चली जाती हैं ॥ २६ ॥ रात के अन्धेरे वहां आओ, गन्धर्व उस (स्थान) को नहीं जानते हैं ॥ २७ ॥

अ० ७ (व० २२-) कीचक वध

मूल—कीचकोऽथ गृहं गत्वा भृशं हर्षपरिप्लुतः । सैरन्ध्री रूपिणं मूढो मृत्युं तन्नावबुद्धवान् ॥ १ ॥ गन्धाभरण माल्येषु व्यासक्तः स विशेषतः । अलं चक्रे तदात्मानं सत्वरः काम मोहितः ॥ २ ॥ तस्य तत्कुर्वतः कर्म कालो दीर्घ इवाभवत् । अनुचिन्तयतश्चापि तामेवायत लोचनाम् ॥ ३ ॥ आसीदभ्यधिका चापि श्रीः श्रियं प्रमुमुक्षतः । निर्वाणकाले दीपस्य वर्तीं मिव दिधक्षतः ॥ ४ ॥ ततस्तु द्रौपदी गत्वा तदा भीमं महानसे । तमुवाच सुकेशान्ता आगमिष्यति कीचकः ॥ ५ ॥ यथा न संत्यजेथास्त्वं सत्यं वै मत्कृते विभो । निगूढस्त्वं तथा पार्थ कीचकं तं निषूदय ॥ ६ ॥

अर्थ—अतीव हर्ष से भरा कीचक घर गया, उस मूढ ने सैरन्ध्री रूपी उस मौत को न जाना ॥ १ ॥ विशेषता से गन्ध भूषण और मालाओं में लग गया, काम से मोहित होकर अपने आप को उसने सजाया ॥ २ ॥ उस को उस काम में लगे, और उसी विशाल नेत्रों वाली का चिन्तन करते बहुत समय बीत गया ॥ ३ ॥ शोभा को छोड़ना चाहते हुए (मरने लगे) की शोभा अधिक बढ़ गई, जैसे बुझने के समय बत्ती को जलाना चाहते हुए दीपक की होती है ॥ ४ ॥ उधर द्रौपदी रसोई में

भीम के पास गई और कहा कीचक आएगा ॥ ५ ॥ हे विभो! जैसे तुम मेरे लिये अपने संकेत (छिपे रहने के संकेत) को न त्यागो, वैसे छिपे २ हे पार्थ उस कीचक को मारना ॥ ६ ॥

मूल—भीमोऽथ प्रथमं गत्वा रात्रौ छन्न उपाविशत्। मृगं हरिरिवाहश्यः प्रत्याकांक्षत कीचकम् ॥ ७ ॥ कीचकश्चाप्यलं कृत्य यथा काम मुपागमत्। तां वेलां नर्तनागारं पांचाली संगमाशया ॥ ८ ॥ प्रविश्य च स तद्वेश्म तमसा संवृतं महत्। पूर्वा गतं ततस्तत्र भीममप्रतिमौजसम् ॥ ९ ॥ एकान्तावस्थितं चैन माससाद स दुर्मतिः। शयानं शयने तत्र सूतपुत्रः परामृशत् ॥ १० ॥ हर्षोन्मथित चित्तात्मा स्मयमाणोऽभ्य भाषत। प्रापितं ते मया वित्तं बहुरूप मनन्तकम् ॥ ११ ॥ अकस्मान्मां प्रशमान्ति सदा गृह गताः स्त्रियः। सुवासा दर्शनीयश्च नान्योऽस्ति त्वादृशः पुमान् ॥ १२ ॥

अर्थ—तब भीमसेन रात को पहले जा कर छिप कर बैठ गए, और कीचक की प्रतीक्षा करने लगे, जैसे कोई छिपा हुआ शेर हरिण की प्रतीक्षा करे ॥ ७ ॥ कीचक भी अपने शरीर को यथेष्ट सजा कर द्रौपदी के साथ संगम की आशा से उस समय नाचघर में आया ॥ ८ ॥ और अन्धेरे से ढके हुए इस बड़े मन्दिर में प्रवेश करके वह दुर्मति वहां पहले आए हुए एकान्त (संकेत स्थान) में स्थित भीमके पास आया और शय्या पर सोए हुए को हाथ से स्पर्श किया। ॥ ९—१० ॥ और प्रसन्नता से भरे हुए चित्त वाला हंसता हुआ बोला, मैं तेरे लिये अनेक प्रकार का धन लाया हूं ॥ ११ ॥ घर की स्त्रियें सदा बिन पूछे प्रशंसा किया करती हैं, कि सुन्दर वस्त्रों

वाला दर्शनीय तुम्हारे तुल्य कोई और पुरुष नहीं है ॥ १२ ॥

मूल—भीमसेन उवाच-दिष्ट्या त्वं दर्शनीयोऽथ दिष्ट्याऽऽत्मानं प्रशंससि । ईदृशस्तु त्वया स्पर्शः स्पृष्टपूर्वो न कर्हिचित ॥ १३ ॥ इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्भीमो भीम पराक्रमः । सहसोत्पत्य कौन्तेयः प्रहस्येद मुवाच ह ॥ १४ ॥ निराबाधा त्वयि हते सैरन्ध्री विचरिष्यति । ततो जग्राह केशेषु माल्यवत्सु महाबलः॥१५॥ स केशेषु परामृष्टो बलेन बलिनां वरः । आक्षिप्य केशान् वेगेन बाह्वोर्जग्राह पाण्डवम् ॥ १६ ॥ बाहुयुद्धं तयोरासीत क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः॥ १७ ॥ स्पर्धया च बलोन्मत्तौ तावुभौ सूत पाण्डवौ । निशीथे पर्यकर्षेतां बलिनौ निर्जने स्थले ॥ १८ ॥ ततस्तद्भवनं श्रेष्ठं प्राकम्पत मुहुर्मुहुः । बलवच्चापि संक्रुद्धा वन्योऽन्यं प्रतिगर्जतः ॥ १९ ॥

अर्थ—भीमसेन बोले-भाग्य से तुम सुन्दर हो, भाग्य से तुम अपनी प्रशंसा करते हो,पर ऐसा स्पर्श तुमने भी पहले कभी अनुभव नहीं किया होगा ॥ १३ ॥ यह कह कर भीम पराक्रम वाला महाबाहु भीम झटपट उठ खड़ा हुआ और हंस कर कहने लगा ॥ १४ ॥ तेरे मरने पर सैरन्ध्री विना रोक विचरेगी, यह कह कर महाबली भीमने उस के माला वाले बाल पकड़ लिये ॥ १५ ॥ बालों में बल से पकड़े हुए उस बलिवर ने वेग से बालों को खींच कर भीम को दोनों भुजाओं से जा पकड़ा ॥ १६ ॥ तब क्रुद्ध हुए उन दोनों शेर नरों का बाहु युद्ध हुआ ॥ १७ ॥ बल से उन्मत्त दोनों बली सूत और पाण्डव उस निर्जन स्थल में आधी रात के समय स्पर्धा से एक दूसरे को खींचने लगे॥१८॥ इस(संघर्ष)से वह

श्रेष्ठ भवन बार २ कांप उठा, बलवत् क्रुद्ध हुए वह एक दूसरे के प्रति गर्जने लगे ॥ १९ ॥

मूल—तत एनं परिश्रान्त मुपलभ्य वृकोदरः । योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ॥ २० ॥ प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः । अपीडयत कृष्णायास्तदा कोपोप शान्तये ॥ २१ ॥ अथ तं भग्नसर्वांगं व्याविद्धनयनाम्बरम् । आक्रम्य च कटीदेशे जानुना कीचकाधमम् ॥ २२ ॥ अपीडयत बाहुभ्यां पशुमार ममारयत । भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेद मुवाच ह ॥ २३ ॥ अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुर्भार्यापहारिणम् । शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा सैरन्ध्रि कंटकम् ॥ २४ ॥ तस्य पादौ च पाणी च शिरो ग्रीवां च सर्वशः । काये प्रवेशयामास पशोरिव पिनाक धृक्॥२५॥ ततोऽग्निं तत्र प्रज्वाल्य दर्शयित्वा तु कीचकम् । पाञ्चालीं स तदा वीर इदं वचन मब्रवीत् ॥ २६ ॥ प्रार्थयन्ति सुकेशान्ते ये त्वां शील गुणान्विताम् । एवं ते भीरु वध्यन्ते कीचकः शोभते यथा॥२७॥ तत् कृत्वा दुष्करं कर्म कृष्णायाः प्रिय मुत्तमम् । आमन्त्र्य द्रौपदीं कृष्णां क्षिप्रमायान्महानसम् ॥ २८ ॥

अर्थ—तब उसे थका हुआ जान कर भीमसेन ने दोनों भुजाओं से उस को ऐसा जकड़ लिया,जैसे पशु को रस्से से जकड़ते हैं ॥ २० ॥ फिर वेग के साथ भीम ने दोनों भुजाओं से उस के कण्ठ को पकड़ द्रौपदी का कोप शान्त करने के लिये अच्छी तरह निपीड़ा ॥ २१ ॥ उस के सारे अंग टूट गए, आंखें बाहर निकल आईं, और उस नीच कीचक की पीठ पर चढ़ कर दोनों भुजाओं के साथ अच्छी तरह निपीड़ा और पशु की मारनी मार डाला । और भूमि पर घुमा कर यह वाक्य बोला ॥ २२-२३ ॥ आज

में भाई की स्त्री के हरने वाले सैरन्ध्री के कंटक को मार कर भाई का अनृण हो कर परम शान्ति को पाऊंगा ॥ २४ ॥ उस के दोनों पाओं, दोनों हाथ, सिर और ग्रीवा को शरीर में धसा दिया ॥ २५ ॥ तब अग्नि जला कर द्रौपदी को कीचक का रूप दिखला कर वह वीर यह वचन बोला ॥ २६ ॥ हे सुन्दरि शील गुण से युक्त तुझ को जो कामना करते हैं, इस प्रकार हे भीरु वह मारे जाते हैं, जैसे यह कीचक शोभा पा रहा है ॥ २७ ॥ कृष्णा को प्यारा यह दुष्कर कर्म करके और उस से पूछ कर वह झट महानस में चला आया ॥ २८ ॥

मूल—कीचकं घातयित्वा तु द्रौपदी योषितां वरा । प्रहृष्टा गत संतापा सभापालानुवाच ह ॥ २९ ॥ कीचकोऽयं हतः शेते गन्धर्वैः पतिभिर्मम । परस्त्री काम संमत्तस्तत्रा गच्छत पश्यत ॥ ३० ॥ तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्या नर्तनागार रक्षिणः । सहसैव समा जग्मु-रादायोल्काः सहस्रशः ॥ ३१ ॥ निरीक्षन्ति ततः सर्वे परं विस्मय मागताः । अमानुषं कृतं कर्म तं दृष्ट्वा विनिपातितम् ॥ ३२ ॥ क्वास्य ग्रीवा क्व चरणौ क्व च पाणी शिरस्तथा । इति स्म तं परीक्षन्ते गन्धर्वेण हतं तदा ॥ ३३ ॥

अर्थ—कीचक को मरवा कर स्त्रियों में उत्तम द्रौपदी प्रसन्न हुई दूर हुए संताप वाली सभा के रक्षकों से आकर बोली ॥ २९ ॥ कीचक को मेरे गन्धर्व पतियों ने मार डाला है, और वह यह मरा पड़ा है, जो पराई स्त्री की कामना में मत्त हो रहा था, वहां आओ, और उसे देखो ॥ ३० ॥ उस की इस बात को सुन कर नाच घर के रक्षक बहुतसी उल्का ले कर झट आए ॥ ३१ ॥

सब उसे देख कर बड़े विस्मित हुए उस को इस तरह गिरा हुआ देख कर कहने लगे, यह अमानुष कर्म किया गया है ॥ ३२ ॥ कहां इस की ग्रीवा, कहां पाओं कहां हाथ कहां सिर, इस प्रकार उन्हों ने यह परखा, कि यह गन्धर्व से मारा गया है ॥ ३३ ॥

---

* यहां कीचक वध में इतिवृत्त हमें संभवतः इतना ही प्रतीत होता है, कि कीचक द्रौपदी पर आसक्त हुआ, और उस ने द्रौपदी को तंग किया, द्रौपदी भीम के आगे रोई, तब भीम के कथनानुसार द्रौपदी ने नर्तनागार में अकेले मिलने का उस से संकेत किया, उस के वैसा करने पर भीम ने उसे मार डाला, दिन को लोगों ने मरा हुआ देखा, वास्तविक भेद किसी को कुछ पता नहीं लगा। इतना ही इतिवृत्त है, इस से अतिरिक्त यह कि कीचक ने अपनी बहिन से कहा, कि तू इस से मेरा संगम करा दे, अतीव अनुचित है, जब यह इतिवृत्त न हुआ, तो इस से सम्बन्ध रखने वाली घटना सुरा लेने के लिये जाना, और सभा में कीचक का द्रौपदी को लात मारना भी, बनावटी ठहरती है, और इस में प्रमाण यह है, कि जब द्रौपदी भीम के पास गई है, तो वह भीम उस से आने का कारण इस प्रकार पूछता है, जैसे उसे कुछ भी ज्ञात नहीं, और द्रौपदी भी इसी तरह बतलाती है, जैसे भीम को कुछ भी ज्ञात नहीं। पहले उस ने कीचक का वृत्तान्त कहा है, फिर उन पाचों भाइयों की और अपनी हीन अवस्था पर शोक प्रकट किया है, पीछे फिर कीचक का प्रकरण चला कर यह कहा है, कि उस ने तुम्हारे सामने मुझे लात मारी। हालांकि बात यहीं से आरम्भ होनी चाहिये, पर यहां एक सर्वथा भूली हुई बात बहुत देर पीछे स्मरण आई की

भांति लिखी गई है। फिर द्रौपदी का सभा में कहना, कि मेरे रक्षक पांच गन्धर्व हैं, और नाचघर के रखवालों को आप उठा कर दिखलाना, कि मेरे गन्धर्व पतियों ने इस को मारा है, व्यर्थ अपने आप को विपत्ति में डालना है, और अपने छिप कर रहने के भी प्रतिकूल है। इस लिये इतिवृत्त इतना ही है, कि कीचक से तंग आकर द्रौपदी ने भीम से कहा, और भीम ने उसे मार डाला। और चुपचाप घर में आ सोया, द्रौपदी वहां गई ही नहीं। तथापि हमने सारी की सारी कथा रखदी है, क्योंकि असम्भव इस को भी नहीं कह सकते। लोगों के सामने होते हुए भी दृष्टि से छिप रहने आदि शक्तियों वाले गन्धर्वों पर विश्वास का होना भी सम्भव होसकता है। पर इस से आगे यह भी लिखा है, कि जब कीचक के भाई बन्धु उसे जलाने के लिये ले जाने लगे, तो उन्हों ने द्रौपदी को देखा, उस को पकड़ लिया, और साथ जलाने के लिये ले गए, राजा ने भी आज्ञा दे दी, द्रौपदी ने पुकार की, भीम ने सुना, भीम ने भेस बदला, कोट फांद कर निकला, और श्मशान के निकट जाकर एक बहुत बड़े वृक्ष को उखाड़ कर भयानक रूप में कीचक के भाई बन्धुओं की ओर दौड़ा, वह डर कर भागे, कि गन्धर्व आ गया, भीम ने भागते हुओं में से १०५ मार डाले, द्रौपदी को घर भेज दिया, और आप दूसरे मार्ग से रसोई में आगया। लोगों ने राजा से वृत्तान्त कहा। और यह डर भी दिखलाया, कि गन्धर्व सारे नगर को न नष्ट कर दें, इस लिये सैरन्ध्री को निकाल देना चाहिये। राजा ने यह बात रानी से कही, रानी ने सैरन्ध्री से कही। सैरन्ध्री ने कहा, कि १३ दिन शेष हैं, फिर मेरे पति गन्धर्व कृतार्थ होजाएंगे, और मुझे

ले जाएंगे, राजा को भी कृतार्थ करेंगे। यो यह दिन के समय भेष बदलना, कोट फांद कर जाना, कोट फांद कर आना, और दिन दहाड़े १०५ को मार डालना, आदि होजाए, पर बल्लव रसोइयें को इन सारी बातों में न कोई देखे, न पहचाने, असंभावित है. इस लिये हम अंश को छोड ही दिया है।

अ० ८ (व० २५-३०) विराट पर कौरवों की चढ़ाई

मूल–अथवै धार्तराष्ट्रेण प्रयुक्ता ये बहिश्चराः। मृगयित्वा बहून् ग्रामान् राष्ट्राणि नगराणि च ॥ १ ॥ दुर्योधनं सभामध्य आसीन मिदमब्रुवन् ॥ २ ॥ निर्जने द्रुमसंकीर्णे नानाद्रुमलता कुले। लताप्रतानबहुले नानागुल्मसमावृते ॥ ३ ॥ गिरि कूटेषु तुंगेषु नानाजनपदेषु च। जनाकीर्णेषु देशेषु खर्वटेषु पुरेषु च ॥ ४ ॥ नरेन्द्र बहुशोऽन्विष्टा नैव विद्मश्च पाण्डवान्। अत्यन्तं वा विनष्टास्ते भद्रं तुभ्यं नरर्षभ ॥ ५ ॥ इमां च नः प्रियां वीर वाचं भद्रवतीं श्रृणु। येन त्रिगर्ता निहता बलेन महता नृप ॥ ६ ॥ सूतेन राज्ञो मत्स्यस्य कीचकेन बलीयसा। स हतः पतितः शेते गन्धर्वै र्निशि भारत ॥ ७ ॥ प्रियमेतदुपश्रुत्य शत्रूणां च पराभवम्। कृत कृत्यश्च कौरव्य विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ८ ॥

अर्थ–अब दुर्योधन ने जो गुप्तचर बाहर भेजे हुए थे, वह बहुत से ग्राम, देश और नगरों को ढूंढ कर, सभा के मध्य में बैठे दुर्योधन से आकर यह बोले ॥ १-२ ॥ हे नरेन्द्र ! हमने पाण्डवों को वृक्षों से भरे नाना वृक्ष और लताओं से घने, बेल और बल्लों से भरे, नाना झाड़ियों से युक्त निर्जन वनों में, पर्वतों की ऊंची चोटियों पर, नाना जनपदों में, मनुष्यों से भरे देशों में,

नगर खेड़ों में बहुत ढूंढा है, पर उन का पता नहीं लगा, अथवा सर्वथा नष्ट ही होगए हैं, हे नरश्रेष्ठ तेरे लिये कल्याण हो ॥३-५॥ और हे वीर यह हमारी कल्याण वाली और बात सुनो, जिसने बड़े बल से त्रिगर्तों को नष्ट किया था, वह विराटराज का बली सूत कीचक रात के समय गन्धर्वों से मारा गया है ॥ ६–७ ॥ यह प्रिय सुन कर और शत्रुओं (पाण्डवों) की हानि सुन कर कृत कृत्य होकर हे कौरव्य जो आगे करना चाहिये, वह करो ॥८॥

मूल—अथ राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा रथयूथपः। प्राप्तकाल मिदं वाक्य मुवाच त्वरितो बली ॥ ९ ॥ असकृन्मत्स्यराज्ञा मे राष्ट्रं बाधितमोजसा। प्रणेता कीचकस्तस्य बलवानभवत् पुरा ॥ १० ॥ तस्मिन् विनिहते राजा हतदर्पो निराश्रयः। भविष्यति निरुत्साहो विराट इति मे मतिः ॥ ११ ॥ तत्र यात्रा मम मता यदि ते रोचतेऽनघ। आददामोऽस्य रत्नानि विविधानि वसूनि च ॥ १२ ॥ तं वशे न्यायतः कृत्वा सुखं वत्स्यामहे वयम्। भवतां बल वृद्धिश्च भविष्यति न संशयः ॥ १३ ॥ तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कर्णो राजान मब्रवीत्। सूक्तं सुशर्मणा वाक्यं प्राप्त कालं हितं च नः ॥ १४ ॥ किं च नः पाण्डवैः कार्यं हीनार्थबलपौरुषैः। अत्यन्तं वा मनष्टास्ते प्राप्ता वापि यमक्षयम्। यामो राजन् निरुद्विग्ना विराटनगरं वयम् ॥ आदास्यामो हि गास्तस्य विविधानि वसूनि च ॥ १६ ॥

अर्थ—उसी समय त्रिगर्तों का राजा रथ सेना का पति सुशर्मा झट पट समयोचित यह वाक्य बोला ॥ ९ ॥ विराटराज ने अनेक बार मेरे देश को पीड़ित किया, पहले उस का सेना पति कीचक बड़ा बलवान् था ॥ १० ॥ उस के मरने पर राजा

विराट का सारा दर्प नष्ट होगया, वह आश्रय हीन और उत्साह हीन होगया है, यह मेरा निश्चय है ॥ ११ ॥ उस पर चढ़ाई करना मुझे पसन्द है, हे निष्पाप ! यदि आप को पसन्द हो, उस से हम भांति २ के रत्न और धन लेंगे ॥ १२ ॥ उस को न्याय से वश में कर के आप सुख से रहेंगे, और आप के बल की भी निश्चित वृद्धि होगी ॥ १३ ॥ उस के इस वचन को सुन कर कर्ण राजा से बोला, सुशर्मा ने बहुत अच्छा कहा है, यह समयोचित है, और इस में हमारा हित है ॥ १४ ॥ पाण्डवों से अब हमें क्या काम ! जिन का धन बल पौरुष सब जाता रहा, वा अत्यन्त गुम होगए, वा यम के घर चले गए ॥ १५ ॥ हे राजन् ! हम उत्साह से विराट नगर को चलें, उस की गौएं और अनेकप्रकार के धन लाएंगे ॥ १६ ॥

मूल—दुर्योधन उवाच—सुशर्माऽयं यथोदिष्टं देशं यातु महारथः। त्रिगर्तैः सहितो राजा समग्रबलवाहनः ॥ १७ ॥ जघन्यतो वयं तत्र यास्यामो दिवसान्तरे । ते यान्तु सहितास्तत्र विराटनगरं प्रति ॥ १८ ॥ शीघ्रं गोधन मासाद्य गृह्णन्तु विपुलं धनम् । गवां शतसहस्राणि श्रीमन्ति गुणवन्ति च ॥ १९ ॥ वयमप्यनुगृह्णीमो द्विधा कृत्वा वरूथिनीम् । आदत्त गाः सुशर्माथ कृष्णपक्षस्य सप्तमीम् ॥ २० ॥ अपरे दिवसे सर्वे राजन् संभूय कौरवाः । अष्टम्यां ते न्यगृह्णन्त गोकुलानि सहस्रशः ॥ २१ ॥

अर्थ—दुर्योधन बोले—महारथ राजा सुशर्मा त्रिगर्तों को संग ले, समग्र सेना और वाहनों से युक्त हो, बतलाए स्थान पर जाए ॥ १७ ॥ दूसरे दिन उस के पीछे हम जाएंगे । वह सब मिल करे विराट-नगर की ओर जाएं ॥ १८ ॥ जल्दी गोकुलों

में पहुंच कर बड़े धन अर्थात् सैंकड़ों सहस्रों शोभा वाली गुणों वाली गौएं ग्रहण करें ॥ १९ ॥ हम भी सेना के दो भाग करके उन की सहायता करेंगे । सो सुशर्मा ने कृष्णपक्ष की सप्तमी को गौएं जा ग्रहण कीं ॥ २० ॥ अगले दिन अष्टमी को हे राजन् ! सारे कौरवों ने मिल कर विराट के सहस्रों गोकुलों को जा दबाया ॥ २१ ॥

अ० ९ (व० ३१-३२) मत्स्य और त्रिगर्तों का युद्ध

मूल—छद्मलिंगप्रविष्टानां पाण्डवानां महात्मनाम् । व्यतीतः समयः सम्यग् वसतां वै पुरोत्तमे ॥ १ ॥ कीचकेतु हते राजा विराटः परवीरहा । परां संभावनां चक्रे कुन्तीपुत्रे युधिष्ठिरे ॥ २ ॥ ततस्त्रयोदशस्यान्ते तस्य वर्षस्य भारत । सुशर्मणा गृहीतं तद् गोधनं तरसा बहु ॥ ३ ॥ ततो जवेन महता गोपः पुर मथा व्रजत् । सोऽब्रवीदुप संगम्य विराटं प्रणतस्तदा ॥ ४ ॥ अस्मान् युधि विनिर्जित्य परिभूय सबान्धवान् । गवां शत सहस्राणि त्रिगर्ताः कालयन्ति ते ॥ ५ ॥ तच्छ्रुत्वा नृपतिः सेनां मत्स्यानां समयोजयत् । महानुभावो मत्स्यस्य ध्वज उच्छ्रिये तदा ॥ ६ ॥ अथान्यान् विविधाकारान् ध्वजान् हेमपरिष्कृतान् । यथास्वं क्षत्रियाः शूरा रथेषु समयोजयन् ॥ ७ ॥ अथ मत्स्योऽब्रवीद् राजा शतानीकं जघन्यजम् ॥ ८ ॥ कंकबल्लव गोपाला दामग्रन्थिश्च वीर्यवान् । युध्येयुरिति मे बुद्धिर्वर्तते नात्र संशयः ॥ ९ ॥ एतच्छ्रुत्वा तु नृपतेर्वाक्यं त्वरितमानसः । शतानीकस्तु पार्थेभ्यो रथान् राजन् समादिशत् ॥ १० ॥ विराट मन्वयुः पार्थाः सहिताः कुरु पुंगवाः । चत्वारो भ्रातरः शूराः पाण्डवाः सत्यविक्रमाः ॥ ११ ॥

अर्थ—वनावटी भेष से प्रविष्ट हुए महात्मा पाण्डवों को उस उत्तम पुर में रहते हुए वर्ष पूरा बीत गया ॥ १ ॥ कीचक के मारा जाने पर शत्रुवीरों के मारने वाला राजा विराट कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर पर बड़ा भरोसा रखता था (कि यह भी कीचक वत मेरा जय कर्ता होगा) ॥ २ ॥ तब उस तेरहवें वर्ष के अन्त में सुशर्मा ने बल से वह गोधन ग्रहण किया ॥ ३ ॥ तब बड़ी जल्दी गोप (गौओं का अधिष्ठाता) पुर में आया, और वह विराट के पास जा प्रणाम कर कहने लगा ॥ ४ ॥ हमें बान्धवों सहित युद्ध में जीत कर और हमारा तिरस्कार कर के त्रिगर्त आप की सैंकड़ों सहस्रों गौओं को लिये जा रहे हैं ॥ ५ ॥ यह सुन राजा ने मत्स्यों की सेना इकट्ठी की, उस समय मत्स्य का प्रतापी झंडा ऊंचा किया गया ॥ ६ ॥ तब दूसरे शूर क्षत्रियों ने भी सोने से सजे हुए अनेक प्रकार के अपने २ झंडे रथों पर खड़े किये ॥ ७ ॥ अब राजा मत्स्य ने अपने छोटे भाई शतानीक से कहा ॥ ८ ॥ कि कंक (=युधिष्ठिर) बल्लव (=भीम) गोपाल गौओं का अधिष्ठाता तन्तिपाल (सहदेव) और दाम ग्रन्थि (=नकुल) यह भी युद्ध करने के समर्थ होंगे, यह मेरा निश्चय है, इस में संशय नहीं ॥ ९ ॥ राजा के इस वचन को सुन कर-शतानीक ने पाण्डवों के लिये रथों की आज्ञा दी ॥ १० ॥ कुरु वर सच्चे पराक्रम वाले शूर वीर चारों भाई पाण्डव मिल कर विराट के पीछे चले ॥ ११ ॥

मूल—निर्याय नगराच्छूरा व्यूढानीकाः प्रहारिणः । त्रिगर्तान स्पृशन् मत्स्याः सूर्ये परिणते सति ॥ १२ ॥ अन्योन्यमभ्या

पततां निघ्नतां चेतरेतरम् । उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्राज्ञायत किञ्चन ॥ १३ ॥ पक्षिणश्चापतन् भूमौ सैन्येन रजसावृताः । इषुभिर्व्यतिसर्पद्भिरादित्योऽन्तरधीयत ॥ १४ ॥ रथा रथैः समाजग्मुः पादातैश्च पदातयः । सादिनः सादिभिश्चैव गजैश्चापि महागजाः ॥ १५ ॥ अहऽयंस्तत्र गात्राणि शरैश्छिन्नानि भागशः । आस्तीर्णा वसुधा भाति शिरोभिश्च स कुण्डलैः ॥ १६ ॥ उपशाम्यद् रजो भौमं रुधिरेण प्रसर्पता । कश्मलं चाविशद्घोरं निर्मर्याद्‌ प्रवर्तत ॥ १७ ॥ ते घ्नन्तः समरेऽन्योऽन्यं शूराः परिघ बाहवः । न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान् कर्तुं पराङ्मुखान् ॥ १८ ॥

अर्थ—नगर से निकल कर शूर वीर मत्स्य सिपाही व्यूह बना कर थोड़ा दिन शेष रहते त्रिगर्तों से जा भिड़े ॥ १२ ॥ उन के एक दूसरे पर झपटने और एक दूसरे को मारते समय भूमि से इतनी धूल उड़ी कि कुछ दिखलाई नहीं देता था ॥ १३ ॥ सेना की धूल मे अन्धे होकर पक्षी भूमि पर गिरने लगे, और एक दूसरे की ओर जाते हुए बाणों से सूर्य छिप गया ॥ १४ ॥ रथी रथियों के साथ, प्यादे प्यादों के साथ सवार सवारों के साथ और हाथी सवार हाथी सवारों के साथ जुटे ॥ १५ ॥ वहां बाणों से टुकड़े किये हुए अलग २ अंग दीखने लगे, और भूमि पर कुण्डलों वाले सिर बिछगए ॥ १६ ॥ तब बहते हुए रुधिर से भूमि की धूल बंद हुई, भयंकर व्यामोह होने लगा, और बेमर्याद फैल गई ॥ १७ ॥ संग्राम में एक दूसरे को मारते हुए अरल जैसी भुजाओं वाले शूर वीर बड़े जोश से युद्ध करते हुए भी दूसरे शूर वीरों को पराङ्मुख न कर सके ॥ १८ ॥

अ० १० (व० ३३-३४) विराट का विजय

मूल—तमसाऽभिप्लुते लोके रजसा चैव भारत । अतिष्ठन् वै मुहूर्तं तु व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥ १ ॥ ततोऽन्धकारं प्रणुदन्नुदतिष्ठत चन्द्रमाः । कुर्वाणो विमलां रात्रिं नन्दयन् क्षत्रियान् युधि ॥ २ ॥ ततः प्रकाशमासाद्य पुनर्युद्ध मवर्तत । घोररूपं ततस्ते स्म नावैक्षन्त परस्परम् ॥ ३ ॥ ततः सुशर्मा त्रैगर्तः सह भ्राता यवीयसा । अभ्यद्रवन्मत्स्यराजं रथ व्रातेन सर्वशः ॥ ४ ॥ तौ निहत्य पृथक् धुर्यावुभौ तौ पार्ष्णिसारथी । विरथं मत्स्य राजानं जीवग्राहम गृह्णताम् ॥ ५ ॥ तस्मिन् गृहीते विरथे विराटे बलवत्तरे । प्राद्रवन्त भयान् मत्स्यास्त्रिगर्तैरर्दिता भृशम् ॥ ६ ॥ तेषु संत्रस्यमानेषु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । प्रत्यभाषन्महाबाहुं भीमसेन मरिन्दमम् ॥ ७ ॥ मत्स्यराजः परामृष्टस्त्रिगर्तेन सुशर्मणा । तं मोचय महाबाहो न गच्छेद् द्विषतां वशम् ॥ ८ ॥ उषिताः स्म सुखं सर्वे सर्वकामैः सुपूजिताः । भीमसेन त्वया कार्या तस्य वासस्य निष्कृतिः ॥ ९ ॥ यदव मानुषं भीम भवेदन्यै रलक्षितम् । तदेवायुध मादाय मोक्षयाशु महीपतिम् ॥१०॥ यमौ च चक्ररक्षौ ते भवितारौ महाबलौ । सहिताः समरे तत्र मत्स्यराजं परीप्सत ॥ ११ ॥

अर्थ—हे भारत ! जब अन्धेरे और धूल ने लोक को ढांप दिया, तब कुछ देर के लिये योधे व्यूह रच कर खड़े रहे॥ १ ॥ तब अन्धेरे को हटाता हुआ, रात को निर्मल बनाता हुआ, और क्षत्रियों को युद्ध के लिये हर्षित करता हुआ चन्द्रमा उदय हुआ ॥ २ ॥ तब चांदना होजाने से फिर भयंकर युद्ध प्रवृत्त

हुआ, वह एक दूसरे को नहीं देखते थे ॥ ३ ॥ अनन्तर त्रिगर्त-राज सुशर्मा ने अपने छोटे भाई के संग रथ समूहों को साथ ले मत्स्यराज पर आक्रमण किया ॥ ४ ॥ उन दोनों ने विराट के दोनों घोड़ों और पार्ष्णि (पीठ रक्षक) और सारथि को मार कर रथ हीन मत्स्यराज को जीता पकड़ लिया ॥ ५ ॥ जब बली विराट रथहीन होकर पकड़ा गया, तो त्रिगर्तों ने मत्स्यों को बलवत पीड़ित किया, और वह डर कर भागने लगे ॥ ६ ॥ उन को भयभीत देख कर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर शत्रुओं के दबाने वाले महाबाहु भीमसेन से बोले ॥ ७ ॥ त्रिगर्त सुशर्मा ने मत्स्यराज को पकड़ लिया है, उस को छुड़ाओ, हे महाबाहो ! वह शत्रुओं के वश में न पड़े ॥ ८ ॥ हम सब सारे भोगों से आदर पाते हुए सुख से रहे हैं. हे भीमसेन अब उस वास की निष्कृति करनी चाहिये ॥ ९ ॥ हे भीम ! जो सर्व साधारण शस्त्र हों, उसी को ले कर राजा को छुड़ाओ, ताकि हमें भी कोई लख न ले ॥ १० ॥ महाबली नकुल सहदेव तेरे रथ की रक्षा करेंगे, सो सब मिल कर संग्राम में मत्स्यराज के पास पहुंचने की इच्छा करो ॥ ११ ॥

मूल—एवमुक्तस्तु वेगेन भीमसेनो महाबलः । व्यमुञ्चच्छर वर्षाणि सुशर्माण मथाद्रवत् ॥ १२ ॥ परावृत्तो धनुर्गृह्य सुशर्मा भ्रातृभिः सह । सुशर्मा सायकांस्तीक्ष्णान् क्षिपते च पुनः पुनः ॥ १३ ॥ ततः समस्तास्ते सर्वे तुरगानभ्यचोदयन् । दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणास्त्रिगर्तान् प्रत्यमर्षणाः ॥ १४ ॥ ततो राजन्नाशुकारी कुन्तीपुत्रो वृकोदरः । समासाद्य सुशर्माण मश्वानस्य व्यपोथयत् ॥ १५ ॥ पृष्ठ गोपांश्च तस्याथ हत्वा परमसायकैः । अथास्य सारथिं क्रुद्धो रथोपस्था दपातयत् ॥ १६ ॥ चक्ररक्षश्च शूरो वै

मदिराक्षोऽति विश्रुतः । समायाद् विरथं दृष्ट्वा त्रिगर्तं माहरत् तदा ॥१७॥ततो विराटः प्रस्कन्द्य रथादथ सुशर्मणः।गदां तस्य परामृश्य तमेवाभ्य द्रवद्बली।१८।। चचार गदा पाणिर्वृद्धोपि तरुणो यथा।१९। भीमस्तु भीम संकाशो रथात् प्रस्कन्द्य पाण्डवः । प्राद्रवत् तूर्ण मव्यग्रो जीवितेप्सुः सुशर्मणः ॥ २० ॥ तं भीमसेनो धावन्त मभ्य धावत वीर्यवान् । त्रिगर्तराज मादातुं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा॥२१॥ अभिद्रुत्य सुशर्माणं केशपक्षे परामृशत् । रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुंठितम् ॥ २२ ॥ अभ्येत्य रण मध्यस्थ मभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् । दर्शयामास भीमस्तु सुशर्माणं नराधिपम् ॥ २३ ॥ तं राजा प्राहसत् दृष्ट्वा मुच्यतां वै नराधमः । दास भावं गतो ह्येष विराटस्य महीपतेः ॥ २४ ॥ स मुक्तोऽभ्येत्य राजान मभिवाद्य प्रतस्थिवान ॥ २५ ॥

अर्थ—ऐसे कहा हुआ महाबली भीमसेन वेग से बाण वर्षा करता हुआ सुशर्मा की ओर धाया ॥ १२ ॥ सुशर्मा भी धनुष पकड़ कर भाइयों समेत फिर लौटा, और लगातार तीक्ष्ण बाण फैंकने लगा ॥ १३ ॥ उसी समय उन सब (भाइयों) ने घोड़े हांके और त्रिगर्तों के प्रति दिव्य अस्त्रों की झड़ी बांध दी ॥१४॥ उसी समय तेज़ी से युद्ध करने वाला भीमसेन सुशर्मा के पास जा पहुंचा और उस के घोड़ों को मार डाला ॥ १५ ॥ और बड़े बाणों से उस के पीठ रक्षकों को मार कर उस के सारथि को रथ की गोद से नीचे गिराया ॥ १६ ॥ उसी समय रथ रक्षक जगद्विख्यात शूर वीर मदिराक्ष (विराट का एक भाई) आ पहुंचा, और रथ हीन त्रिगर्तराज पर प्रहार करने लगा ॥ १७॥ उधर विराट सुशर्मा के रथ से कूद कर सुशर्मा की गदा छीन

कर उसी के सम्मुख हुआ ॥ १८ ॥ वह हाथ में गदा ले कर वृद्ध भी युवा के सदृश युद्ध करने लगा ॥१९॥ भीम तुल्य भीमसेन रथ से कूद कर सावधान हो सुशर्मा को जीता पकड़ने लिये दौड़ा॥ २० ॥ भीमसेन दौड़ते हुए त्रिगर्त राज को पकड़ने के लिये इस तरह दौड़े, जैसे शेर क्षुद्रमृग के पीछे दौड़ता है ॥२१॥ दौड़ कर सुशर्मा को बालों से जा पकड़ा, और धूल में लिपटे हुए घबराए सुशर्मा को रथ पर डाल लिया ॥ २२ ॥ लौट कर रण के मध्य में स्थित युधिष्ठिर के पास आया, और नराधिपति सुशर्मा की भेंट कराई ॥२३ ॥ राजा (युधिष्ठिर) उसे देख कर हँसे और कहा, कि इस नराधम को अब छोड़ दो, यह भूपति विराट का अब दास हो चुका ॥ २४ ॥ वह छोड़ा हुआ राजा के पास जा प्रणाम कर चला गया ॥ २५ ॥

मूल–ततो विराटः कौन्तेयानतिमानुषविक्रमान् । अर्चयामास वित्तेन मानेन च महारथान् ॥ २६ ॥ विराट उवाच–युष्माकं विक्रमादद्य मुक्तोऽहं स्वस्तिमानिह । तस्माद् भवन्तो मत्स्यानामीश्वराः सर्व एव हि ॥ २७ ॥ तथेति वादिनं मत्स्यं कौरवेयाः पृथक् पृथक् । ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ २८ ॥ प्रतिनन्दाम ते वाक्यं सर्वं चैव विशांपते । एतेनैव प्रतीताः स्म यत्त्वं मुक्तोऽद्य शत्रुभिः ॥ २९ ॥ गच्छन्तु दूतास्त्वरितं नगरं तव पार्थिव । सुहृदां प्रिय माख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम् ॥ ३० ॥ ततस्तद्वचनान्मत्स्यो दूतान् राजा समादिशत्॥३१॥ ते गत्वा तत्र तां रात्रि मथ सूर्योदयं प्रति । विराटस्य पुराभ्याशे दूता जय मघोषयन् ॥ ३२ ॥

अर्थ–तब विराट ने मनुष्यों से बढ़े हुए पराक्रम वाले पा-

ण्डव महारथियों की धन मान से पूजा की॥ २६ ॥ विराट बोले-तुम्हारे पराक्रम से आज मैं छूटा हुआ यहां कल्याण वाला हूं, इस हेतु से आप सब मत्स्यों के स्वामी हैं॥ २७ ॥ ऐसे कहते हुए मत्स्यराज से युधिष्ठिर प्रभृति पाण्डव हाथ जोड़ अलग २ कहने लगे ॥ २८ ॥ हे प्रजा के मालिक ! आप के सम्पूर्ण वाक्य का हम हर्ष से आदर करते हैं, हम इसी में बड़े प्रसन्न हैं, जो आज आप शत्रुओं से छूटे हैं॥ २९ ॥ हे महाराज ! सुहृदों को प्रिय समाचार देने के लिये, और आप का जय घोषण करने के लिये अब दूत शीघ्र नगर को जाएं॥ ३० ॥ तब युधिष्ठिर के कहने से मत्स्यराज ने दूतों को आज्ञा दी ॥ ३१ ॥ दूत रात भर चले, सूर्योदय होने पर वह विराट नगर के पास पहुंचे और जय घोषणा की ॥ ३२ ॥

अ०११(व० ३५-३६) कौरवों से युद्ध के लिये उत्तर की तय्यारी

मूल—याते त्रिगर्तान् मत्स्ये तु पशूंस्तान् वै परीप्सति । दुर्योधनः सहामात्यो विराट मुपयादथ ॥ १ ॥ भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च कृपश्च परमास्त्रवित । द्रौणिश्च सौबलश्चैव तथा दुःशासनः प्रभो ॥ २ ॥ एते मत्स्यानुपागम्य विराटस्य महीपतेः । घोषान् विद्राव्य तरसा गोधनं जहुरोजसा ॥ ३ ॥ गोपाध्यक्षो भयत्रस्तो रथमास्थाय सत्वरः । जगाम नगरायैव परिक्रोशंस्तदार्तवत् ॥४॥ दृष्ट्वा भूमिञ्जयं नाम पुत्रं मत्स्यस्य मानिनम् । तस्मै तत्सर्वं माचष्ट राष्ट्रस्य पशु कर्षणम् ॥ ५ ॥ राजपुत्र हितप्रेप्सुः क्षिप्रं निर्याहि च स्वयम् । त्वां हि मत्स्यो महीपालः शून्यपाल मिहाकरोत ॥६॥ त्वया परिषदो मध्ये श्लाघते स नराधिपः । पुत्रो ममानुरूपश्च

शूरश्चेति कुलोद्वहः ॥ ७ ॥ आवर्तय कुरून् जित्वा पशून् पशुमतां वर । यशो महदवाप्य त्वं प्रविशेदं पुरं पुनः ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस समय मत्स्यराज पशुओं को छुड़ाने के लिये त्रिगर्तों की ओर गए, उसी समय मन्त्रियों सहित दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, शकुनि और दुःशासन विराट पर चढ़ आए॥ १-२ ॥ यह मत्स्य देशों में पहुंच कर राजा विराट के गोपों को भगा कर बल से गौओं को छीन ले गए ॥ ३ ॥ गोपों का अध्यक्ष भयभीत हो जल्दी से रथ पर चढ़ कर, आर्त की भांति दुहाई मचाता हुआ नगर की ओर गया ॥ ४ ॥ वहां मत्स्य के मानी पुत्र भूमिंजय उपनाम वाले को मिला, और उस को राष्ट्र के पशुओं का छीना जाना बतलाया ॥ ५ ॥ और कहा हे राजपुत्र अपने हित के लिये आप स्वयं जल्दी निकलें, आप को मत्स्यराज शून्यपाल (अपनी स्थिति में देश का रक्षक) बना गए हैं ॥ ६ ॥ सभा के मध्य में महाराज आप की श्लाघा किया करते हैं, कि मेरा पुत्र मेरे सदृश है, शूर वीर है, कुल को ऊंचा करने वाला है ॥ ७ ॥ हे पशुवालों में श्रेष्ठ ! कुरुओं को जीत कर अपने पशुओं को लौटाओ, और बड़े यश को प्राप्त हो कर फिर नगर में प्रवेश करो ॥ ८ ॥

मूल—स्त्रीमध्य उक्तस्तेनासौ तद्वाक्यमभयंकरम् । अन्तःपुरे श्लाघमान इदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥ अद्याहमनुगच्छेयं दृढधन्वा गवां पदम् । यदि मे सारथिः कश्चिद् भवेदश्वेषु कोविदः ॥ १० ॥ तं त्वहं नाव गच्छामि यो मे यन्ता भवेन्नरः । यत्तदासीद् महद् युद्धं तत्र मे सारथिर्हतः॥ ११ ॥ स लभेयं यदा त्वन्यं हययानविदं नरम् । अनेनैव मुहूर्तेन पुनः प्रत्यानये पशून्॥१२॥

पश्येयुरद्यमे वीर्यं कुरवस्ते समागताः । किं नु पार्थोऽर्जुनः साक्षाद् यमस्मान् प्रबाधते ॥ १३ ॥ श्रुत्वा तदर्जुनो वाक्यं राज्ञः पुत्रस्य भाषतः । उवाच रहसि प्रीतः कृष्णां सर्वार्थकोविदः ॥ १४ ॥ उत्तरं ब्रूहि कल्याणि क्षिप्रं मद्वचनादिदम् । अयं वै पाण्डवस्यासीत् सारथिः संमतो दृढः ॥ १५ ॥ अथैन मुपसंगम्य स्त्रीमध्यात् सा तपस्विनी । व्रीडमानेव शनकैरिदं वचन मब्रवीत् ॥ १६ ॥ योऽसौ बृहद्वारणाभो युवा सुप्रियदर्शनः । बृहन्नलेति विख्यातः पार्थस्यासीत् सारथिः॥ १७ ॥ तेन सारथिना पार्थः सर्व भूतानि सर्वशः । अजयत् खाण्डवप्रस्थे नहि यन्तास्ति तादृशः ॥ १८ ॥ येयं कुमारी सुश्रोणी भगिनी ते यवीयसी । अस्याः स वीर वचनं करिष्यति न संशयः ॥ १९ ॥ यदि वै सारथिः स स्यात् कुरून् सर्वान् न संशयः । जित्वा गाश्च समादाय ध्रुवमागमनं भवेत्॥२०॥

अर्थ—स्त्रियों के मध्य में जब गोप ने उत्तर को यह कहा, तो वह इस निडर करने वाले वाक्य की श्लाघा करता हुआ यह वचन बोला ॥ ९ ॥ मैं इसी समय दृढ धनुष धार कर गौओं की खोज पर जाने को तय्यार हूं, यदि घोड़ों के चलाने में चतुर मेरा कोई सारथि हो ॥ १० ॥ वह पुरुष मुझे नहीं जान पड़ता, जो मेरा सारथि बने, वह जो बड़ा भारी युद्ध हो चुका है, उस में मेरा सारथि मारा गया ॥ ११ ॥ सो यदि घोड़ों की चाल को जानने वाला कोई पुरुष मिल जाए, तो अभी जाकर फिर पशुओं को वापिस लाऊं ॥ १२ ॥ कौरव जो इकट्ठे हो कर आए हैं, वह आज मेरे बल को देखें, कि क्या साक्षात् अर्जुन हमें मार रहा है ॥ १३ ॥ राजपुत्र उत्तर के इस वचन को सब व्यवहारों में निपुण अर्जुन सुन कर प्रसन्न हो अकेले में द्रौपदी

से बोले ॥ १४ ॥ हे कल्याणि उत्तर को जल्दी मेरे कहने से यह कहो, कि यह अर्जुन का माना हुआ पक्का सारथि रहा है ॥ १५ ॥ तब तपस्विनी द्रौपदी स्त्रियों के मध्य से उठ कर, पास आ, लज्जा सहित धीरे २ यह वचन बोली ॥ १६ ॥ यह जो बड़े हाथी के समान डील डौल वाला, युवा, प्रिय दर्शन, बृहन्नला नाम नपुंसक है, यह अर्जुन का सारथि रहा है, इस सारथि के साथ अर्जुन ने खाण्डवप्रस्थ में सब लोगों को जीता था, इस के तुल्य कोई सारथि नहीं है॥१७-१८॥ यह कुमारी जो तुम्हारी छोटी बहिन है, हे वीर इस का कहना वह मान लेगा कोई संशय नहीं ॥ १९ ॥ यदि वह सारथि होजाए, तो निःसंदेह सारे कौरवों को जीत कर, गौओं को ले कर यहां आना हो ॥ २० ॥

मूल—एवमुक्तः स सैरन्ध्रया भगिनीं प्रत्यभाषत । गच्छ त्वमनवद्यांगि तामानय बृहन्नलाम् ॥ २१ ॥ तमब्रवीद् राजपुत्री समुपेत्य नरर्षभम् । प्रणयं भावयन्ती सा सखी मध्य इदं वचः॥२२॥ गावो राष्ट्रस्य कुरुभिः काल्यन्ते नो बृहन्नले। ता विजेतु मम भ्राता प्रयास्यति धनुर्धरः ॥ २३ ॥ नाचिरं निहतस्तस्य संग्रामे रथसारथिः । तेन नास्ति समः सूतो योऽस्य सारथ्य माचरेत् ॥ २४ ॥ तस्मै प्रयतमानाय सारथ्यर्थं बृहन्नले । आचचक्षे हयज्ञाने सैरन्ध्री कौशलं तव ॥ २५ ॥ अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा। त्वयाऽजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ॥ २६ ॥ सा सारथ्यं मम भ्रातुः कुरु साधु बृहन्नले । पुरा दूरतरं गावो ह्रियन्ते कुरुभिर्हिनः ॥ २७ ॥ एवमुक्तस्तु सुश्रोण्या तया सख्या परंतपः। जगाम राजपुत्रस्य सकाशममितौजसः ॥ २८ ॥ तमाव्रजन्तं त्वरितं राजं

पुत्रोऽभ्य भाषत । त्वया सारथिना पार्थः खाण्डवेऽग्निम तर्पयत् ॥ २९ ॥ संयच्छ मामकानश्वांस्तथैव त्वं बृहन्नले । कुरुभिर्योत्स्य मानस्य गोधनानि परीप्सतः ॥ ३० ॥ उत्तरायाः प्रमुखतः स्वय मेवोत्तरस्ततः । कवचेन महार्हेण समनह्यद् बृहन्नलाम् ॥ ३१ ॥ सविभ्रत कवचं चाग्र्यं स्वय मप्यंशुमत्प्रभम् । ध्वजं च सिंहमुच्छ्रित्य सारथ्ये समकल्पयत् ॥ ३२ ॥ अथोत्तरा च कन्याश्च सख्यस्ता मब्रुवंस्तदा । बृहन्नले आनयेथा वासांसि रुचिराणि च ॥ ३३ ॥ विजित्य संग्रामगतान् भीष्मद्रोण मुखान् कुरून् । प्रत्युवाच हसन् पार्थो मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ॥ ३४ ॥ यद्युत्तरोऽयं संग्रामे विजेष्यति महारथान् । अथाहरिष्ये वासांसि दिव्यानि रुचिराणि च ॥ ३५ ॥ एवमुक्त्वा तु बीभत्सुस्ततः प्राचोदयद्धयान् । कुरूनाभिमुखः शूरो नानाध्वजपताकिनः ॥ ३६ ॥ तमुत्तरं वीक्ष्य रथोत्तमेस्थितं बृहन्नलाया सहितं महा भुजम् । स्त्रियश्च कन्याश्च द्विजाश्च सुव्रताः प्रदक्षिणं चक्रु रथो पुरांगनाः॥ ३७ ॥ यदर्जुनस्यर्षभ तुल्य गामिनः पुराऽभवत् खाण्डवदाहमंगलम् । कुरून् समासाद्य रणे बृहन्नले सहोत्तरेणाद्य तदस्तु मंगलम् ॥३८॥

अर्थ—सैरन्ध्री से ऐसे कहा हुआ राजपुत्र बहिन से बोला, तुम जा कर बृहन्नला को ले आओ ॥ २१ ॥ तब वह राजपुत्री उस नरश्रेष्ठ के पास जा कर प्रेम प्रकट करती हुई सखियों के मध्य में यह वचन बोली ॥ २२ ॥ हे बृहन्नले हमारी गौओं को कुरु निकाल ले जा रहे हैं. उन को जीतने के लिये मेरा भाई धनुष धार कर जाएगा ॥ २३ ॥ अभी थोड़ा समय हुआ है, कि संग्राम में उस का सारथि मारा गया है, उस जैसा कोई और सूत है नहीं, जो उस का सारथि बने ॥ २४ ॥ सारथि के लिये

उस के यत्न को देख, हे बृहन्नले सैरन्ध्री ने घोड़ों की विद्या में तुम्हारे चातुर्य की प्रशंसा की है ॥ २५ ॥ कि तुम पहले अर्जुन के प्यारे सारथि थे, उस पाण्डव वर ने तुम्हारी सहायता से पृथिवी को जीता था ॥ २६ ॥ सो हे बृहन्नले अब मेरे भाई के सारथि बनो, ताकि कौरव गौओं को दूर न ले जाएं ॥२७॥ सखी से ऐसे कहा हुआ वह शत्रुनाशक बड़े पराक्रमी राजपुत्र के पास गया ॥ २८ ॥ उसे झट आया देख राजपुत्र बोला, तुझ सारथि की सहायता से अर्जुन ने खाण्डव में अग्नि को तृप्त किया था ॥२९॥ हे बृहन्नले वैसे ही अब मेरे घोड़ों को संभालो, मैं कौरवों के साथ युद्ध करके अपनी गौएं लौटाना चाहता हूं ॥ ३० ॥ तब उत्तरा (और उस की सखियों) के सामने स्वयमेव उत्तर ने बृहन्नला को बहु मूल्य कवच पहनाया ॥ ३१ ॥ और आप सूर्यवत् चमकता हुआ उत्तम कवच धारण किया, और शेर की ध्वजा को ऊंचा करके बृहन्नला को सारथि के काम पर लगाया ॥ ३२ ॥ उस समय उत्तरा और दूसरी कन्याएं उस से कहने लगीं, हे बृहन्नले संग्राम में भीष्म द्रोण आदि कौरवों को जीत कर हमारे लिये सुन्दर वस्त्र लाने, मेघ और दुन्दुभि की ध्वनि वाले अर्जुन ने हंसते हुए उत्तर दिया॥३३-३४॥ यदि यह उत्तर संग्राम में उन महारथों को जीतेगा, तो मैं अवश्य दिव्य सुन्दर वस्त्र लाऊंगी ॥ ३५ ॥ यह कह कर शूर अर्जुन ने घोड़ों को नाना झंडे झंडियों वाले कौरवों की ओर हांका ॥३६॥ महाबाहु उत्तर को उत्तम रथ पर बृहन्नला के साथ स्थित देखकर स्त्रियें कन्याएं और उत्तम व्रतों वाले ब्राह्मण रथ के चारों ओर घूमे, और स्त्रियों ने आशीर्वाद दिया कि ॥३७॥ पहले पाण्डवहाद

के समय वृषभ की सी चाल वाले अर्जुन का जो मंगल हुआ था, रण में कौरवों को पाकर हे बृहन्नले वही मंगल आज तुझे उत्तर के साथ प्राप्त हो ॥ ३८ ॥

अ० १२ (व० ३८) उत्तर का आश्वासन

मूल—स राजधान्या निर्याय वैराटिरकुतोभयः । प्रयाहीत्य ब्रवीत् सूतं यत्र ते कुरवो गताः॥१॥ नातिदूरमथो गत्वा मत्स्यपुत्र धनञ्जयौ।अवैक्षेतामामित्रघ्नौ कुरूणां बलिनां बलम् ॥ २ ॥ श्मशान मभितो गत्वा आससाद कुरूनथ।तां शमी मन्ववीक्षेतां व्यूढानीकांश्च सर्वशः ॥ ३ ॥ तदनीकं महत् तेषां विबभौ सागरोपमम् । सर्पमाण मिवाकाशे वनं बहुलपादपम् ॥ ४ ॥ ददृशे पार्थिवो रेणुर्जनितस्तेन सर्पता । दृष्टि प्रणाशो भूतानां दिविस्पृक् कुरुसत्तम ॥ ५ ॥ तद-नीकं महद् दृष्ट्वा गजाश्वरथ संकुलम् । कर्णदुर्योधनकृपैर्गुप्तं शान्त-नवेन च ॥ ६ ॥ द्रोणेन च सपुत्रेण महेष्वासेन धीमता । हृष्टरोमा भयोद्विग्नः पार्थं वैराटिरब्रवीत् ॥ ७ ॥

अर्थ—अब उत्तर राजधानी से बाहर निकल निडर हो सारथि से बोले, कि जल्दी पहुंचो जहां कौरव हैं ॥ १ ॥ तब कुछ दूर जाकर शत्रुओं के मारने वाले उत्तर और अर्जुन ने बली कौरवों की सेना को देखा ॥ २ ॥ श्मशान के एक ओर से निकल कर वह कौरवों के समीप पहुंच गए, उन्होंने उस शमी को देखा और सामने सेना के व्यूह रचे हुए देखे ॥ ३ ॥ कौरवों की वह बड़ी सेना सागर की भांति, और ऊपर आकाश में (चलते झंडों से) चलते हुए बहुत वृक्षों वाले वन की भांति सोहती थी ॥ ४ ॥ उस चलती हुई सेनाने हे कुरुवर पृथिवी से आकाश को

छूने वाली इतनी धूल उड़ी, कि किसी को कुछ नहीं दीखता था ॥ ५ ॥ हाथी घोड़े रथों से पूर्ण, और महा धनुर्धारी बुद्धिमान् कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, भीष्म, द्रोण और अश्वत्थामा से सुरक्षित उस बड़ी सेना को देख कर उत्तर के रोंगटे खड़े होगए, और वह भयभीत हो अर्जुन से बोला ॥ ७ ॥

मूल—नोत्सहे कुरुभिर्योद्धुं रोमहर्षं हि पश्य मे ॥ ८ ॥ बहुप्रवीरमत्युग्रं देवैरपि दुरासदम् । प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि कुरुसैन्यमनन्तकम् ॥ ९ ॥ नाशंसे भारतीं सेनां प्रवेष्टुं भीमकार्मुकम् । यत्र द्रोणश्च भीष्मश्च कृपः कर्णो विविंशतिः ॥ १० ॥ दृष्ट्वैव हि कुरूनेतान् व्यूढानीकान् प्रहारिणः । हृषितानि च रोमाणि कश्मलं चागतं मम ॥ ११ ॥ त्रिगर्तान् मे पिता यातः शून्ये सम्प्रणिधाय माम् । सर्वां सेनामुपादाय न मे सन्तीह सैनिकाः ॥ १२ ॥ सोऽहमेको बहून् बालः कृतास्त्रानकृतश्रमः । प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि निवर्तस्व बृहन्नले ॥ १३ ॥

अर्थ—मैं कौरवों से लड़ने को तय्यार नहीं, देखो मेरे रोंगटे खड़े होगए हैं ॥ ८ ॥ यह प्रवरवीरों वाली सेना बड़ी भयंकर रूप है, देवता भी इसे नहीं जीतसकते, इस अनगिनी कुरुसेना के साथ लड़ने की मैं शक्ति नहीं रखता हूं ॥ ९ ॥ भयंकर धनुषों वाली इस भारती सेना में मैं प्रविष्ट होना नहीं चाहता, जिस में द्रोणाचार्य, भीष्म, कृपाचार्य, कर्ण और विविंशति (प्रभृति) हैं ॥ १० ॥ दल बांध कर खड़े हुए इन लड़ाके कौरवों को देखते ही मेरे रोंगटे खड़े होगए हैं, और घबराहट आगई है ॥ ११ ॥ पिता सारी सेना ले कर त्रिगर्तों से युद्ध करने को गए हैं, और मुझे शून्य में छोड़ गए हैं, यहां मेरे पास पर्याप्त सैनिक नहीं हैं ॥ १२ ॥

सो मैं अकेला इन बहुतों से, अनभ्यासी बालक, इन अभ्यासियों से लड़ नहीं सकूंगा, हे बृहन्नले लौट चलो ॥ १३ ॥

मूल—भयेन दीनरूपोऽसि द्विषतां हर्षवर्धनः । न च ता-वत्कृतं कर्म परैः किञ्चिद्रणाजिरे ॥ १४ ॥ तथास्त्रीषु प्रतिश्रुत्य पौरुषं पुरुषेषु च । कत्थमानोऽभि निर्याय किमर्थं न युयुत्ससे ॥ १५ ॥ नचेद्विजित्य गास्तास्त्वं गृहान्‌ वै प्रतियास्यसि । प्रह-सिष्यन्ति वीरास्त्वां नरा नार्यश्च संगताः ॥ १६ ॥ अहमप्यत्र सैरन्ध्रयाख्याता सारथ्यकर्मणि । नाहि शक्ष्याम्यनिर्जित्यगाः प्रयातुं पुरं प्रति ॥ १७ ॥ उत्तर उवाच—कामं हरन्तु मत्स्यानां भूयांसः कुरवो धनम्‌ । प्रहसन्तु च मां नार्यो नरा वापि बृहन्नले ॥ १८ ॥ संग्रामे न च कार्यं मे गावो गच्छन्तु चापि मे । शून्यं मे नगरं चापि पितुश्चैव बिभेम्यहम्‌ ॥ १९ ॥ इत्युक्त्वा प्राद्रवद्‌ भीतो रथात्‌ प्रस्कन्द्य कुण्डली । त्यक्त्वा मानं च दर्पं विसृज्य सशरं धनुः ॥ २० ॥

अर्थ—बृहन्नला बोली—भय से तुम क्यों दीन हो कर शत्रु-ओं का हर्ष बढ़ाने वाले बनते हो, शत्रुओं ने अभी तक तो रणक्षेत्र में कोई कर्म भी नहीं किया है ॥ १४ ॥ स्त्री पुरुषों में अपने पौरुष की श्लाघा कर के बाहर निकल कर अब कैसे लड़ने को तय्यार नहीं होते हो ॥ १५ ॥ यदि आप गौओं को जीते बिना घर को लौट जाएंगे, तो सब नर नारी इकट्ठे हो २ कर तुम्हारी हंसी उड़ाएंगे ॥ १६ ॥ सैरन्ध्री ने मुझे भी सारथि के काम में प्रसिद्ध किया, सो मैं तो गौओं को जीते बिना अब पुर को नहीं लौट सकती ॥ १७ ॥ उत्तर बोले—कौरव भले ही मत्स्यों का बहुतसा धन (गौएं) ले जाएं, और चाहे सभी स्त्री

पुरुष हैं वृहन्नले मुझ पर हँसें ॥ १८ ॥ पर संग्राम में मेरा कोई काम नहीं, गौएं भले ही जाती रहें, जब मेरा नगर खाली पड़ा है (न हो, कि शत्रु नगर में घुस जाएं) मैं पिता से डरता हूं ॥ १९ ॥ यह कह कर वह डर कर रथ से उतर कर, मान, दर्प और बाणों समेत धनुष को वहीं छोड़ कर भागा ॥ २० ॥

मूल—दीर्घां वेणीं विधुन्वानः साधु रक्ते च वाससी । उत्तरं तु प्रधावन्त मभिद्रुत्य धनञ्जयः ॥ २१ ॥ गत्वा पदशतं तूर्णं केशपक्षे परामृशत् । अथैन मब्रवीत् पार्थो भयार्तं नष्टचेतसम् ॥ २२ ॥ यदि नोत्सहसे योद्धुं शत्रुभिः शत्रुकर्षण । एहि मे त्वं हयान्यच्छ युध्यमानस्य शत्रुभिः ॥ २३ ॥ मा भैस्त्वं राजपुत्र क्षत्रियोऽसि परंतप । कथं पुरुषशार्दूल शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ २४ ॥ अहं वै कुरुभिर्योत्स्ये निर्जेष्यामि च ते पशून् । प्रविश्यैतद्रथानीकमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥ २५ ॥ एवं ब्रुवाणो बीभत्सुरुत्तरं भय पीडितम् । रथ मारोपयामास पार्थः प्रहरतां वरः ॥२६॥

अर्थ–दौड़ते हुए उत्तर के पीछे अर्जुन दौड़े, (दौड़ने में उसकी) लंबी वेणी डोलने लगी, और लाल वस्त्र उड़ने लगे ॥ २१ ॥ सौ पाद दौड़ कर अर्जुन ने झट उसे बालों से जा पकड़ा । और भयभीत हुए घबराए हुए से अर्जुन कहने लगा ॥ २२ ॥ हे शत्रुनाशन ! यदि तुम शत्रुओं के साथ युद्ध करने की शक्ति नहीं रखते, तो आओ, मेरे घोड़ों को थामो, मैं शत्रुओं के साथ युद्ध करता हूं ॥ २३ ॥ हे राजपुत्र ! मत डर, हे शत्रुतापन ! तू क्षत्रिय है, कैसे हे पुरुषशार्दूल ! क्षत्रियों के मध्य में तू फिसलता है ॥ २४ ॥ मैं इस न दबने वाली दुर्जय सेना

के अन्दर घुस कर कौरवों के साथ युद्ध करूंगा, और तेरे पशुओं को जीत ल उंगा ॥ २७ ॥ यह कहते हुए योधाओं में श्रेष्ठ अर्जुन ने न चाहते हुए और भय से पीडित हुए उत्तर को रथ पर चढ़ा लिया ॥ २८ ॥

अ० १३ (व० ४०-४५) अर्जुन का परिचय

मूल—तां शमी मुपसंगम्य पार्थो वैराटि मब्रवीत् । समादिष्टो मया क्षिप्रं धनूंष्यवहरोत्तर ॥ १ ॥ नेमानि हि त्वदीयानि सोढुं शक्ष्यन्ति मे बलम् । अस्यांहि पाण्डुपुत्राणां धनूंषि निहितान्युत ॥ २ ॥ युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा । ध्वजाः शराश्च शूराणां दिव्यानि कवचानि च ॥ ३ ॥ अत्र चैतन्महावीर्यं धनुः पार्थस्य गांडिवम् । एकं शतसहस्रेण संमितं राष्ट्र वर्धनम् ॥ ४ ॥ व्यायामसह मत्यर्थं तृणराजसमं महत् । सर्वायुध महामात्रं शत्रुसंबाधकारकम् ॥ ५ ॥ एवमुक्तः स पार्थेन रथाद्व मवरुन्ह्य कुण्डली । आरुरोह शमीवृक्षं वैराटिरवशस्तदा ॥ ६ ॥ सोऽपहृत्य महार्हाणि धनूंषि पृथुवक्षसाम् । परिवेष्टनपत्राणि विमुच्य समुपानयत् ॥ ७ ॥ तथा संनहनान्येषां परिमुच्य समन्ततः । अपश्यद् गांडिवं तत्र चतुर्भिर परैः सह ॥ ८ ॥ तेषां विमुच्यमानानां धनुषा मर्कवर्चसाम् । विनिश्चेरुः प्रभा दिव्या ग्रहाणां मुदयेष्विव ॥ ९ ॥

अर्थ—उस शमी के पास आकर अर्जुन उत्तर से बोले, हे उत्तर इस के ऊपर से शीघ्र धनुष उतार लाओ ॥ १ ॥ ये तुम्हारे धनुष तो मेरे बल को नहीं सह सकते हैं ॥ २ ॥ हां इस शमी के ऊपर पाण्डु के पुत्र शूर वीर युधिष्ठिर भीम अर्जुन नकुल सहदेव

के धनुष रखे हुए हैं, झंडे, बाण और दिव्य कवच भी रखे हुए हैं ॥ ३ ॥ इन्हीं में अर्जुन का बड़ा दृढ़ गांडीव धनुष है, जो अकेला लख के बराबर है, राज्य का बढ़ाने वाला है ॥ ४ ॥ व्यायाम का पूरा २ सहने वाला, ताड़ जितना बड़ा, सारे शस्त्रों से बड़ा, शत्रुओं का नाशक है ॥ ५ ॥ अर्जुन से ऐसे कहा हुआ उत्तर रथ से उतर कर वेवम जंडी पर चढ़ा ॥ ६ ॥ उस ने उन विशाल छाती वालों के धनुष उतारे, उन के लपेटने के पत्ते उतार कर ले आया ॥ ७ ॥ फिर उन के बन्धन (वस्त्र) उतार कर गांडीव को चार दूसरे धनुषों के साथ देखा ॥ ८ ॥ सूर्य तुल्य चमक वाले उन धनुषों के खुलने पर उन के दिव्य प्रकाश फैले, जैसे ग्रहों के उदय में फैलते हैं ॥ ९ ॥

मूल—सुवर्णविकृतानीमान्यायुधानि महात्मनाम् । रुचिराणि प्रकाशन्ते पार्थानामाशु कारिणाम् ॥ १० ॥ क्व नु स्विदर्जुनः पार्थः कौरव्यो वा युधिष्ठिरः । नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ ११ ॥ द्रौपदी क्व च पाञ्चाली स्त्रीरत्नमिति विश्रुता । जितानक्षैस्तदा कृष्णा तानेवान्व गमद् वनम् ॥ १२ ॥ पाण्डवान् यदि जानीषे सत्यं ब्रूहि बृहन्नले । कथं ज्ञातानि भवता शस्त्रास्त्राणि महात्मनाम् ॥ १३ ॥ अर्जुन उवाच—अहमस्म्यर्जुनः पार्थः सभास्तारो युधिष्ठिरः । बल्लवो भीमसेनस्तु पितुस्ते रसपाचकः ॥ १४ ॥ अश्वबन्धोऽथ नकुलः सहदेवस्तु गोकुले । सैरन्ध्रीं द्रौपदीं विद्धि यदर्थे कीचको हतः ॥ १५ ॥ ततः स पार्थवैराटिरभ्यवादयदन्तिकात् । अहंभूमिंजयो नाम नाम्ना हमपि चोत्तरः ॥ १६ ॥ दिष्ट्या त्वां पार्थ पश्यामि स्वागतं ते धनञ्जय । लोहिताक्ष महाबाहो नागराजकरोपम ॥ १७ ॥ यद

ज्ञानादथोच त्वां क्षन्तुमर्हसि तन्मम ॥ १८ ॥ यतस्त्वया कृतं पूर्व चित्रं कर्म सुदुष्करम् । अतो भयं व्यतीतं मे प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ १९ ॥ आस्थाय रुचिरं वीर रथं सारथिना मया । कतमं यास्यसेऽनीकं मुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ २० ॥ अर्जुन उवाच—प्रीतोऽस्मि पुरुष व्याघ्र न भयं विद्यते तव । सर्वान् नुदामि ते शत्रून् रणे रणविशारद ॥ २१ ॥ अहं वै कुरुभिर्योत्स्याम्यवजेष्यामि ते पशून ॥ २२ ॥ नास्मि क्लीबो महाबाहो परवान् धर्म संयुतः । समाप्तव्रत मुत्तीर्णं विद्धि मां त्वं नृपात्मज ॥ २३ ॥ उत्तर उवाच-परमोऽनुग्रहो मेऽद्य यस्तर्को न मे वृथा । नहीदृशाः क्लीबरूपा भवन्ति तु नरोत्तम ॥ २४ ॥ सहायवानस्मि रणे युध्येयममरैरपि । साध्वसंहि प्रनष्टं मे किं करोमि ब्रवीहि मे ॥ २५ ॥ अहं ते संग्रहीष्यामि हयान् शत्रुरथारुजान् । शिक्षितो ह्यस्मि सारथ्ये तीर्थतः पुरुषर्षभ ॥ २६ ॥ ततो विमुच्य बाहुभ्यां वलयानि स वीर्यवान् । चित्रे कांचन सन्नाहे प्रत्यमुञ्चत् तदा तले ॥ २७ ॥ कृष्णान् भंगिमतः केशान् श्वेतनोद्ग्रथ्य वाससा । आविद्ध्यौ महाबाहुः सर्वास्त्राणि रथोत्तमे ॥ २८ ॥

अर्थ—उत्तर बोले-फुर्तीले और विशालहृदय पाण्डवों के यह सुवर्ण रञ्जित सुन्दर शस्त्रास्त्र शोभायमान हैं ॥ १० ॥ वह अर्जुन कहां है ? युधिष्ठिर कहां है, नकुल, सहदेव और भीम कहां है ॥ ११ ॥ वह जगत्प्रसिद्ध स्त्री रत्न द्रौपदी कहां है, जो पांसों से जीते गए पाण्डवों के साथ ही वन को गई ॥ १२ ॥ हे बृहन्नले तुम पाण्डवों को यदि जानती हो, तो सत्य कहो, कैसे आपने उन महात्माओं के शस्त्र अस्त्र जाने ॥ १३ ॥ अर्जुन बोले—मैं ही

पार्थ अर्जुन हूं, सभासद् (कंक) युधिष्ठिर है, आप के पिता का रसोइया वल्लव भीमसेन है, साईस नकुल है, गोपाध्यक्ष सहदेव है, सैरन्ध्री को द्रौपदी जानिये, जिस के अर्थ कीचक मारा गया है ॥ १४–१५ ॥ उसी समय विराट पुत्र ने अर्जुन के निकट हो मैं भूमिजय उपनाम वाला उत्तर हूं, यह कहते हुए अभिवादन किया और कहा ॥ १६ ॥ भाग्य से हे अर्जुन आप के दर्शन मिले, हे धनञ्जय आप का 'स्वागत' हो। हे बड़े हाथी के सूंड तुल्य भुजा वाले हे महाबाहो हे लाल नेत्रों वाले, जो कुछ अज्ञान से मैंने आप को कहा है, वह क्षमा करने योग्य है ॥ १७–१८ ॥ आपने पूर्व बड़े दुष्कर काम किये हैं, मेरा भय जाता रहा है और मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १९ ॥ हे वीर मुझ सारथि सहित सुन्दर रथ पर चढ़ कर कौन से दल की ओर चलोगे, आप के कहने पर उधर को चलूंगा ॥ २० ॥ अर्जुन बोले–हे पुरुषवर आप पर प्रसन्न हूं, आप के लिये कोई भय नहीं। हे रण विशारद! रण में तेरे सारे शत्रुओं को हटाता हूं ॥ २१ ॥ मैं कौरवों के साथ युद्ध करूंगा, और तेरे पशुओं को जीतूंगा ॥ २२ ॥ हे महाबाहो ! मैं नपुंसक नहीं हूं, आज्ञाकारी, धर्म पर चलने वाला हूं, हे राजपुत्र ! तुम्हें विदित हो, मेरा व्रत पूर्ण हुआ, मैं अब (इस व्रत में) उत्तीर्ण होगया हूं ॥ २३ ॥ उत्तर बोले—आज मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह हुआ, मेरा तर्क व्यर्थ नहीं गया, हे नरोत्तम ऐसे पुरुष नपुंसक नहीं हुआ करते॥२४॥ अब मैं रथ में साथी वाला हूं, देवताओं के साथ भी युद्ध करने को तय्यार हूं, मेरा डर दूर होगया, क्या करूं, कहिये ॥ २५ ॥ मैं शत्रु के रथों को तोड़ने वाले तेरे घोड़ों को थामूंगा, हे पुरुषवर

सारथि के काम में मैंने गुरु से शिक्षा पाई है ॥ २६ ॥ उसी समय अर्जुन ने अपने हाथों से चूड़ियां उतार दीं, और सुनहरी कवच और दोनों दस्ताने पहन लिये ॥ २७ ॥ बालों वाले काले बालों को वस्त्र से बांध लिया, और उत्तर रथ पर बैठ कर हृदय में सारे अस्त्रों का स्मरण किया ॥ २८ ॥

अ० १४ (व० ४६-५२) अर्जुन का सेना के अभिमुख जाना

मूल–उत्तरं सारथिं कृत्वा शमीं कृत्वा प्रदक्षिणम् । आयुधं सर्व मादाय प्रययौ पाण्डवर्षभः ॥ १ ॥ स्वनवन्तं महाशंखं बल-वानरिमर्दनः । प्राधमद् बल मास्थाय द्विषतां लोमहर्षणम् ॥ २ ॥ उत्तरश्चापि संलीनो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ३ ॥ द्रोण उवाच–यथा रथस्य निर्घोषो यथा मेघ उदीर्यते । कम्पते च यथा भूमिर्नै-षोऽन्यः सव्यसाचिनः ॥ ४ ॥ अथ दुर्योधनो राजा समरे भीष्म मब्रवीत् । पराजितैर्हि वस्तव्यं तैश्च द्वादश वत्सरान् ॥ ५ ॥ वने जनपदेऽज्ञातै रेष एव पणोहि नः । तेषां न तावन्निर्वृत्तो वत्सरः स त्रयोदशः ॥ ६ ॥ अनिवृत्ते तु निर्वासे यदि बीभत्सुरागतः । पुन-र्द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ ७ ॥लोभाद्वा ते न जानी-युरस्मान् वा मोह आविशत् । हीनातिरिक्तमेतेषां भीष्मो वेदि-तु मर्हति ॥ ८ ॥ अर्थानां पुनर्द्वैधे नित्यं भवति संशयः । अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति चान्यथा ॥ ९ ॥

अर्थ–अर्जुन उत्तर को सारथि बना कर, शमी को दाएं हाथ छोड़ कर, सब शस्त्रों को साथ ले कर चल दिया ॥ १ ॥ कुछ दूर जा कर शत्रुओं के मारने वाले बलवान् अर्जुन ने बड़ी ध्वनि वाला अपना महाशंख बल से बजाया, जिस से शत्रुओं के रौंगटे खड़े होगए ॥ २ ॥ उत्तर भी कांप कर रथ के अन्दर

होगया ॥ ३ ॥ द्रोण बोले—जैसे यह रथ की ध्वनि है, मानों मेघ गर्ज रहा है, और जैसे कि भूमि कांप रही है, इस से निश्चित है, कि यह अर्जुन के सिवाय और कोई नहीं ॥ ४ ॥ तब राजा दुर्योधन रण में भीष्म से बोले, हमारी शर्त यह है, कि हार कर वह १२ वर्ष वन में रहेंगे, और एक वर्ष बस्तियों में अज्ञात रहें, उन का यह तेरहवां वर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है ॥ ६ ॥ निर्वास (निकाला) पूरा हुए विना यदि अर्जुन आगया है, तो पाण्डव फिर १२ वर्ष वन में रहेंगे ॥ ७ ॥ क्या लोभ से पाण्डव यह नहीं जान सके, अथवा हमें भूल होरही है, सो इन (वर्षों) की न्यूनाधिकता को भीष्म जानने योग्य हैं ॥ ८ ॥ विषय के दो पक्ष होने में सदा संशय होजाता है,कोई विषय दूसरे प्रकार से सोचा जाता है, और वह दूसरे ही प्रकार से होता है ॥ ९ ॥

मूल—भीष्म उवाच—कलाः काष्ठाश्च युज्यन्ते मुहूर्ताश्च दिनानि च । अर्धमासाश्च मासाश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा॥१०॥ ऋतवश्चापि युज्यन्ते तथा संवत्सरा अपि । एवं कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्तते ॥ ११ ॥ तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात् । पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासा वुपजायतः ॥ १२ ॥ एषा मभ्यधिका मासा पञ्च च द्वादश क्षपाः । त्रयोदशानां वर्षाणा मिति मे वर्तते मतिः ॥ १३ ॥ सर्वं यथावच्चरितं यद् यदेभिः प्रतिश्रुतम् । एव मेतद् ध्रुवं ज्ञात्वा ततो बीभत्सुरागतः ॥ १४ ॥ अलुब्धाश्चन कौन्तेयाः कृतवन्तश्च दुष्करम् । न चापि केवलं राज्य मिच्छेयुस्तेऽनुपायतः ॥ १५ ॥ प्राप्ते काले तु प्राप्तव्यं नोत्सृजेयुर्नरर्षभाः । अपि वज्रभृता गुप्तं तथावीर्या हि पाण्डवाः ॥ १६ ॥

प्रति युध्येम समरे सर्वशस्त्रभृतांवरम् । तद् मंविधीयतां शीघ्रं मा-
र्थो ह्यर्थोऽभ्यगाद् परम् ॥ १७ ॥

अर्थ—भीष्म बोले—कला, काष्ठा, मुहूर्त, पक्ष, महीने, नक्षत्र, ग्रह, और ऋतु गिनती में काम आते हैं, इस प्रकार काल के विभाग से कालचक्र चलता है ॥ १०—११ ॥ नक्षत्रों के उलट पलट (ठीक स्थान पर न रहने) के कारण उन में समय बढ़ा कर पांचवें २ वर्ष दो महीने और बढ़ा दिये जाते हैं ॥ १२ ॥ सो पाण्डवों के तेरह वर्ष में ५ महीने और १२ दिन अधिक होगए हैं, यह मेरा निश्चय है* ॥ १३ ॥ इन्हों ने ठीक आचरण किया है, जैसी कि प्रतिज्ञा की थी, यही असंदिग्ध जान कर अर्जुन प्रकट हुआ है ॥ १४ ॥ कुन्तीपुत्र लोभ युक्त नहीं, बड़ा कठिन व्रत उन्हों ने पूरा किया है, वह बिना सच्चे उपाय के राज्य को कभी नहीं चाहेंगे ॥ १५ ॥ किन्तु समय पर अपने स्वत्व को कभी नहीं छोड़ेंगे । चाहे इन्द्र से भी रक्षित हो, पाण्डवों का बल ऐसा ही है ॥ १६ ॥ सो जिस प्रकार इस संग्राम में हम सर्व शस्त्रधारियों में उत्तम (अर्जुन) का मुकाबिला कर सकें, वैसा जल्दी उपाय कीजिये, हमारा पाया हुआ धन शत्रु के पास न जाने पाए ॥ १७ ॥

---

* चान्द्र वर्ष ३५४ दिन का होता है, सावन ३६० का, और सौर वर्ष ३६५ दिन ४ घड़ी ३२ पल का होता है । चान्द्रमास के १३ वर्ष ५ मास और १२ दिन बिता कर अर्जुन प्रकट हुआ है । यदि १३ वर्ष सौरवर्ष ही लें, तो भी चान्द्र १३ वर्ष के पीछे १४६ दिन ८ घड़ी ५६ पल उन को और बिताने थे, पर वह इस के स्थान १५९ दिन बिता कर प्रकट हुए हैं, इस लिये कोई भी संदेह झगड़ा शेष नहीं रहता ।

अ० १५ (व० ५३-६३) अर्जुन का युद्ध

मूल—तथा व्यूढेष्वनीकेषु कौरवेयेषु भारत । उपायादर्जुनस्तूर्णं रथघोषेण नादयन् ॥ १ ॥ ददृशुश्च ध्वजाग्रं वै शुश्रुवुश्च महास्वनम् । ततस्तु सर्व मालोक्य द्रोणो वचन मब्रवीत्॥२॥ एतद् ध्वजाग्रं पार्थस्य दूरतः संप्रकाशते ॥ ३ ॥ इमौ च बाणौ सहितौ पादयोर्मे व्यवस्थितौ । अपरौ चाप्यतिक्रान्तौ कर्णौ संस्पृश्य मे शरौ॥ ४ ॥निरुष्य हि वने वासं कृत्वा कर्मातिमानुषम्। अभिवादयते पार्थः श्रोत्रे च परिपृच्छति ॥ ५ ॥ अर्जुन उवाच—इषुपाते च सेनाया हयान् संयच्छ सारथे । यावत् समीक्षे सैन्येऽस्मिन् क्वासौ कुरुकुलाधमः ॥ ६ ॥ सर्वानेताननादृत्य दृष्ट्वा तमति मानिनम् । तस्य मूर्ध्नि पतिष्यामि तत एते पराजिताः ॥ ७ ॥ एष व्यवस्थितो द्रोणो द्रौणिश्च तदनन्तरम् । भीष्मः कृपश्च कर्णश्च महेष्वासाः समागताः ॥ ८ ॥ राजानं नात्र पश्यामि गाः समादाय गच्छति । दक्षिणं मार्ग मास्थाय शंके जीवपरायणः ॥ ९ ॥ उत्सृजै तद्रथानीकं गच्छ यत्र सुयोधनः । तत्रैव योत्स्ये वैराटे नास्ति युद्धं निरामिषम् ॥ १० ॥

अर्थ—हे भारत इधर कौरवों ने अपनी सेना का व्यूह रच लिया, उधर अर्जुन अपने रथ की ध्वनि से चारों दिशाओं को गुंजाता झट निकट आ गया ॥ १ ॥ कौरवों ने उस के झंडे की चोटी देखी और (रथ की) गम्भीर ध्वनि सुनी, यह सब देख द्रोणाचार्य वचन बोले ॥ २ ॥ अर्जुन का झंडा दूर ही से दीखने लगा है ॥३ ॥ यह देखो, यह दो बाण एक साथ मेरे दोनों पाओं के आगे आ गिरे हैं, और दूसरे दो बाण मेरे कानों के साथ से

निकल गए हैं ॥ ४ ॥ वन में निकला रह कर, मनुष्यों से बढ़ कर कर्म करके, अर्जुन इस प्रकार अभिवादन करता है, और कानों से (कुशल और युद्ध करने की आज्ञा) पूछता है॥ ५ ॥ इधर अर्जुन बोले—हे सारथे सेना बाणों की मार के सामने आ-गई है, घोड़ों को थामो, ता कि मैं देखूं, कि इस सेना में वह कुरु कुल का नीच कहां है ॥ ६ ॥ इन सब की परवाह न करके मैं उस अतिमानी के सिर पर पहूंगा, उस से यह सब पराजित हो जाएंगे ॥ ७ ॥ यह द्रोणाचार्य खड़े हैं, इधर उन के पुत्र अश्वत्थामा हैं, और यह महा धनुर्धारी भीष्म, कृपाचार्य और कर्ण खड़े हैं ॥ ८ ॥ यहां राजा (दुर्योधन) को नहीं देखता हूं, ओह वह जीना चाहता हुआ दक्षिण मार्ग से गौओं को ले कर चला जा रहा है ॥ ९ ॥ इस रथ को दौड़ाओ, वहां चलो, जहां सुयोधन है, वहीं युद्ध करूंगा, युद्ध निष्प्रयोजन नहीं होता है॥ १०॥

मूल—उत्सृज्य रथवंशं तु प्रयाते श्वेतवाहने । अभिप्रायं विदित्वा च कृपो वचन मब्रवीत ॥ ११ ॥ नैषोऽन्तरेण राजानं बीभत्सुः स्थातुमिच्छति । तस्य पार्ष्णिं ग्रहीष्यामो जवेनाभिप्रयास्यतः ॥ १२ ॥ किं नो गावः करिष्यन्ति धनं वा विपुलं तथा । दुर्योधनः पार्थजले पुरा नौरिव मज्जति ॥ १३ ॥ तथैव गत्वा बीभत्सुर्नाम विश्राव्यचात्मनः । शलभैरिव तां सेनां शरैः शीघ्र मवाकिरत् ॥ १४ ॥ कीर्यमाणाः शरौघैस्तुयोधास्ते पार्थचोदितैः । नापश्यन्नावृतां भूमिं नान्तरिक्षं च पत्रिभिः ॥ १५ ॥ अथ संगम्य ते सर्वे कौरवाणां महारथाः । अर्जुनं सहिता यत्ताः प्रत्ययुध्यन्त भारत ॥ १६ ॥ स सायकमयैर्जालैः सर्वतस्तान् महा रथान् । प्राच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव पर्वतान् ॥ १७ ॥

नदद्भिश्च महानागै र्हेषमाणैश्च वाजिभिः । भेरीशंखनिनादैश्च स शब्दस्तुमलोऽभवत् ॥ १८ ॥ नगाश्वकायान्निर्भिद्य लौहानि कवचानि च । पार्थस्य शरजालानि विनिष्पेतुः सहस्रशः॥ १९ ॥

अर्थ—रथसेना को छोड़ कर अर्जुन जब दूसरी ओर चले गए, तो उन के अभिप्राय को जान कर कृपाचार्य बोले ११। यह निश्चय है, कि अर्जुन राजा के विना खड़ा होना नहीं चाहता, सो वह वेग से राजा की ओर गया है, उस का पीछा करें ॥ १२ ॥ गौएं और विपुल धन हमारा क्या करेंगे, जब कि अर्जुन रूपी समुद्र मे दुर्योधन रूपी नौका डूब जाएगी ॥ १३ ॥ अर्जुन ने झटपट पहुंच कर अपना नाम सुनाया, और दुर्योधन की सेना को टिड्डीदल की भांति बाणों मे छा लिया ॥ १४ ॥ अर्जुन से चलाए बाणों से छाए हुए सब योधे, नीचे भूमि को और ऊपर आकाश को अर्जुन के बाणों से भरा हुआ देखने लगे ॥ १५ ॥ अनन्तर हे भारत कौरवों के सभी महारथ इकट्ठे हो कर सावधान हो अर्जुन का मुकाबिला करने को आए ॥ १६ ॥ उस समय उस वीर ने अपने बाणजालों से उन सारे महारथियों को इस तरह ढक लिया, जैसे कुहर से पर्वत ढक जाते हैं ॥ १७ ॥ बड़े २ हाथियों की चिंघाड़ों, घोड़ों की हिनहिनाहटों, भेरी और शंखों की ध्वनियों से वह शब्द तुमल होगया ॥ १८ ॥ अर्जुन के बाण समूह हाथी घोड़ों के शरीरों और लोहे के कवचों को फोड़ २ कर बाहर निकलने लगे ॥ १९ ॥

मूल—छन्नमायोधनं सर्वं शरीरैर्गत चेतसाम् । गजाश्व सादिनां तत्र शितबाणात्त जीवितैः ॥ २० ॥ रथोपस्थाभिपतितै रास्तृता मानवैर्मही । प्रनृत्यतीव संग्रामे चापहस्तो धनञ्जयः

॥ २१ ॥ वित्रासयित्वा तत्सैन्यं द्रावयित्वा महारथान् । अर्जुनो जयतां श्रेष्ठः पर्यावर्तत भारत ॥ २२ ॥ पुनर्ययुश्च संरब्धा धनञ्जय जिघांसवः । विस्फारयन्तश्चापानि बलवन्ति दृढानि च ॥ २३ ॥ शरौघान् सम्यगस्यन्तो जीमूता इव वार्षिकाः । ववृषुः शरवर्षाणि पातयन्तो धनञ्जयम् ॥ २४ ॥ ततः प्रहस्य बीभत्सु-र्दिव्यमैन्द्रं महारथः । अस्त्रमादित्यसंकाशं गांडीवे समयोजयत् ॥ २५ ॥ यथा बलाहके विद्युत पावको वा शिलोच्चये । तथा गांडीवमभवादिन्द्रायुध मिवाततम् ॥ २६ ॥ यथा वर्षति पर्जन्ये विद्युद्विभ्राजते दिवि । द्योतयन्ती दिशः सर्वाः पृथिवीं च समन्ततः ॥ २७ ॥ तथा दश दिशः सर्वाः पतद्गांडीवमावृणोत् । नागाश्च रथिनः सर्वे मुमुहुस्तत्र भारत ॥ २८ ॥ सर्वे शान्ति परा योधा स्वचित्तानि न लेभिरे । संग्रामे विमुखाः सर्वे योधास्ते हतचेतसः ॥ २९ ॥ एवं सर्वाणि सैन्यानि भग्नानि भरतर्षभ । व्यद्रवन्त दिशः सर्वा निराशानि स्वजीविते ॥ ३० ॥

अर्थ—अर्जुन के तीक्ष्ण बाण हाथी सवारों और घुड़सवारों के शरीरों से जीवन पीने लगे, और उन मरे हुओं के शरीरों से युद्ध भूमि सारी ढक गई ॥ २० ॥ रथ की बैठकों से गिरते मनुष्यों से भूमि बिछ गई, हाथ में धनुष लिये अर्जुन मानों संग्राम में चारों ओर नाच रहा था ॥ २१ ॥ सेना को भयभीत कर और महारथियों को भगा कर विजयिवर अर्जुन लौटा ॥ २२ ॥ उसी समय योधे फिर जोश खा कर अर्जुन को मारने के लिये अपने बल वाले दृढ़ धनुषों को खींचते हुए, बाण समूहों को फैंकते हुए, बरसात के मेघों की भांति अर्जुन पर बाणों की वर्षा करने लगे ॥ २४ ॥ तब महारथ

अर्जुन ने हंस कर सूर्य सदृश चमकता हुआ दिव्य अस्त्र ऐन्द्र-गांडीव में जोड़ा ॥ २५ ॥ जैसे मेघ में बिजली, वा पर्वत पर अग्नि चमके, इस प्रकार खींचा हुआ गांडीव इन्द्र धनुष की भांति कई रंगों से चमका ॥ २६ ॥ जैसे मेघ के बरसते समय बिजली आकाश में चमकती है, सारी दिशाओं को और पृथिवी को चारों ओर से प्रकाशित कर देती है ॥ २७ ॥ इसी प्रकार गांडीव से उड़ते समय उस बाण ने दसों दिशाओं को चमका दिया, जिस से हाथी और रथी सब मूर्छित होगए ॥ २८ ॥ सब योधे शान्ति परायण होगए, मानों अपने चित्त खो बैठे हैं, घबराए हुए सब संग्राम में से विमुख होगए ॥ २९ ॥ इस प्रकार हे भारत सारी सेनाएं अपने जीवन में निराश हो कर इधर उधर भाग निकलीं ॥ ३० ॥

अ० १६ (व० ६४-६७) अर्जुन का विजय

मूल—अथ दुर्योधनो दृष्ट्वा भग्नं स्वं बलमाहवे। अमृष्यमाणः क्रोधेन प्रतिमार्गं धनञ्जयम् ॥ १ ॥ न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठ स्वेनानीकेन संवृतः। अर्जुन उवाच–एषोऽतिमानी धृतराष्ट्र पुत्रः सेनामुखे सर्वसमृद्धतेजाः । पराजयं नित्य ममृष्यमाणो निवर्तते युद्धमनाः पुरस्तात्॥ ३ ॥ तमेव याहि प्रसमीक्ष्य युक्तः सुयोधनं तत्र सहानुजं च । तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य सर्वे कुरुप्रवीराः सहसाभ्यगच्छन्॥४॥ दुर्योधनश्चापि तमुग्रतेजाः पार्थश्च दुर्योधनमेकवीरः। अन्योऽन्यमाजौ पुरुषप्रवीरौ समं समाजग्मतु राजमीढौ॥५॥ ततः प्रभिन्नेन महागजेन महीधराभेन पुनर्विकर्णः। रथैश्चतुर्भिर्गजपादरक्षैः कुन्तीसुतं पाण्डव मभ्यधावत् ॥ ६ ॥ तमापतन्तं

त्वरितं गजेन्द्रं धनञ्जयः कुम्भललाटमध्ये । आकर्णपूर्णेन दृढा-
यसेन बाणेन विव्याध भृशं तु वीरः ॥ ७ ॥ शरप्रतप्तः स तु
नागराजः प्रवेपिताङ्गो व्यथितान्तरात्मा । संसीदमानो निपपात
भूमौ वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥ ८ ॥ निपातिते दन्तिवरे
पृथिव्यां त्रासाद् विकर्णः सहसाऽवतीर्य । तूर्णं पदान्यष्टशतानि
गत्वा विविंशतेः स्यन्दन मारुरोह ॥ ९ ॥

अर्थ—अब दुर्योधन युद्ध में अपनी सेना को भागते देख,
न सहता हुआ क्रोध से अर्जुन का सामना करने के लिये अपनी
सेना समेत लौटा ॥ १–२ ॥ अर्जुन बोले—यह बड़ा मानी दुर्यो-
धन सेना के आगे पूरे तेज के साथ चमकता हुआ पराजय को
न सहता हुआ युद्ध चाहता हुआ सामने आ रहा है ॥ ३ ॥ सो
सावधान हो कर उसी की ओर चलो और उस के छोटे भाई
(दुःशासन) की ओर चलो, यह कह कर आते हुए अर्जुन को
देख कर सब कुरुवीर झट पट आगे बढ़े ॥ ४ ॥ उग्रतेजस्वी दुर्यो-
धन अर्जुन को और एक वीर अर्जुन दुर्योधन को दोनों अजमीढ
वंशी पुरुषप्रवीर संग्राम में एक दूसरे को मारने लगे ॥ ५ ॥
उसी समय विकर्ण पर्वत तुल्य डील वाले मदमत्त हाथी पर चढ़
कर, और हाथी के रक्षक चार रथों को साथ ले कर अर्जुन
की ओर धाया॥६॥उस दौड़ते आते हाथी के कुम्भ के मध्य में वीर
अर्जुन ने दृढ लोहे का बाण ज़ोर से खींच कर ऐसा मारा, कि
उस के अन्दर धस गया ॥ ७ ॥ बाण से विद्ध हो कर वह नाग-
राज कांपते हुए शरीर से दुःखित हो वज्र से हतपर्वत की चोटी
की भांति भूमि पर आ गिरा ॥ ८ ॥ उस उत्तम हाथी के भूमि
पर गिर पड़ने से डर से विकर्ण झट उतर कर झटपट आठसौ

पाद दौड़ कर विविंशति के रथ पर जा चढ़ा ॥ ९ ॥

मूल—तं प्रेक्ष्यकर्णः परिवर्तमानं निवृत्य संस्ताम्भित सर्व गात्रम्। दुर्योधनं दक्षिणतोऽन्वरक्षत पार्थान्महाबाहुरधिज्यधन्वा ॥ १० ॥ गान्धारराजः शकुनिर्निवृत्य द्रौणिश्च सर्वास्त्रविदां वरिष्ठः। ररक्षतुः कौरवमभ्युपेत्य पार्थान्नृवीरौ युधि सव्यतश्च॥११॥ भीष्मस्ततः शान्तनवो निवृत्य हिरण्यकक्ष्यांस्त्वरया तुरंगान्। दुर्योधनं पश्चिमतो ररक्ष पार्थान्महाबाहुरधिज्यधन्वा ॥ १२ ॥ द्रोणः कृपश्चैव विविंशतिश्च दुःशासनश्चैव निवृत्य शीघ्रम् । सर्वे पुरस्तात् प्रणिधाय बाणान् दुर्योधनार्थं त्वरिताऽभ्यपेयुः ॥ १३॥ सर्वाण्यनीकानि निवर्तितानि संप्रेक्ष्य पूर्णौघनिभानि पार्थः । हंसो महामेघ मिवापतन्तं धनञ्जयः प्रत्यपतत् तरस्वी ॥ १४ ॥ ते सर्वतः संपरिवार्य पार्थ मस्त्राणि दिव्यानि समाददानाः। ववर्षुरभ्येत्य शरैः समग्रैर्मेघा यथा भूधर मम्बु वेगैः ॥ १५ ॥ ततोऽस्त्रमस्त्रेण निवार्य तेषां गांडीवधन्वा कुरुपुंगवानाम् । संमोहनं शत्रुसहोऽन्यदस्त्रं प्रादुश्चकारैन्द्रिर वारणीयम् ॥ १६ ॥ संमोहनास्त्र प्रभवैः शरौघैर्विनष्टं देहाश्च निपत्य योधाः। निःसत्ववेगाः कुरुराज सैन्याः कुड्योपमास्तस्थुरनीहमानाः ॥ १७ ॥ तथा विसंज्ञेषु च तेषु पार्थः स्मृत्वा च वाक्यानि तथोत्तरायाः । निर्याहि मध्या दिति मत्स्यपुत्र मुवाच यावत् कुरवो विसंज्ञाः ॥ १८ ॥ रश्मीन् समुत्सृज्य ततो महात्मा रथादवप्लुत्य विराटपुत्रः । वस्त्राण्युपादाय महारथानां तूर्णं पुनः स्वं रथमारुरोह ॥ १९ ॥ पितामहं शान्तनवं महात्मा द्वाभ्यां शराभ्यामभिवाद्य वीरः । द्रोणं कृपं चैव कुरूंश्च मान्याञ्शरैश्च सर्वानभिवाद्य संख्ये ॥ २० ॥ दृष्ट्वा प्रयातांस्तु कुरून् किरीटी हृष्टोऽब्रवीत् तत्र स मत्स्यपुत्रम् ।

आवर्तयाश्वान् पशवो जितास्ते याताः परे याहि पुरं प्रहृष्टः॥२१॥
स शत्रुसेना मवजित्य जिष्णु राच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः।
श्मशान मागत्य पुनः शमीं ता मभ्येत्य तस्थौ शरविक्षतांगः॥२२॥
निधाय तत्रायुधमाजिवर्धनं कुरूत्तमानामिषुधीः शरांस्तथा। प्रा-
याद स मत्स्यो नगरं प्रहृष्टः करीटिना सारथिना महात्मना॥२३॥
पार्थस्तु कृत्वा परमार्यकर्म निहत्य शत्रून् द्विषतां निहन्ता।चकार
वेणीं च तथैव भूयो जग्राह रश्मीन् पुनरुत्तरस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—दुर्योधन को लौट कर पूरे यत्न के साथ खड़ा देख महाबाहु कर्ण धनुष खींच कर उस के दहनी ओर खड़े हो अर्जुन से उस की रक्षा करने लगे ॥ १० ॥ गान्धारराज शकुनि और सारे अस्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ अश्वत्थामा यह दोनों बाईं ओर खड़े होकर अर्जुन से दुर्योधन की रक्षा करने लगे ॥ ११ ॥ भीष्म भी सोने की तंग वाले घोड़ों को जल्दी लौटा कर धनुष खींच कर पीछे से दुर्योधन की रक्षा करने लगे ॥ १२ ॥ द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विविंशति और दुःशासन यह सब दुर्योधन की रक्षा के लिये जल्दी से आ बाण खींच कर दुर्योधन के आगे आगए ॥ १३ ॥ भरे हुए प्रवाह की भांति उन सारी सेनाओं को लौट कर आती देख कर अर्जुन इस प्रकार उड़ कर उन की ओर गया, जैसे हंस महामेघ की ओर जाए ॥ १४ ॥ कौरवों ने चारों ओर से अर्जुन को घेर लिया, और दिव्य अस्त्र छोड़ने लगे, उस के निकट आ कर इस प्रकार बाण बरसाने लगे, जैसे मेघ पर्वत पर पानी की धाराएं छोड़ते हैं ॥ १५ ॥ तब अर्जुन ने कौरवों के अस्त्रों को अस्त्रों से रोक कर के, शत्रुओं

को जीतने वाला, न रुकने वाला संमोहन अस्त्र प्रकट किया॥१६॥ संमोहन अस्त्र से निकले बाण समूहों से बांधे अचेत होकर गिर पड़े, कर्म और समझ दोनों से हीन हुए कुरुराज के सैनिक निश्चेष्ट हो कर दीवार की भांति खड़े रह गए ॥ १७ ॥ उन के इस प्रकार अचेत होने पर अर्जुन उत्तरा की बात को स्मरण करके उत्तर से बोले, इन के मध्य से हो कर निकल आओ, जब तक कौरव बेसुध पड़े हैं ॥ १८ ॥ तब उत्तर वागों को छोड़, रथ से उतर कर, महारथियों के वस्त्र ले कर झट पट फिर रथ पर आ चढ़ा ॥ १९ ॥ तब वीर अर्जुन दो बाणों द्वारा भीष्म को प्रणाम कर, बाणों द्वारा ही द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और माननीय कौरवों को प्रणाम कर, कौरवों को लौटते देख कर, उत्तर से बोले, घोड़ों को लौटाओ, आपने पशु जीत लिये, शत्रु चले गए, अब आप भी प्रसन्न हो कर पुर में प्रवेश करें ॥२०-२१॥ अर्जुन शत्रु की सेना को जीत कर, और कौरवों से गोधन को छीन कर, श्मशान के निकट फिर उसी शमी के नीचे आ कर, बाणों से छिदे अंगों वाला खड़ा हो गया ॥ २२ ॥ तब उत्तर युद्ध जिताने वाले पाण्डवों के शस्त्र,भत्थे और बाण रख कर प्रसन्न हुआ सारथि अर्जुन के साथ नगर को गया ॥ २३ ॥ शत्रुओं के मारने वाले अर्जुन ने सच्चा आर्य कर्म (प्रत्युपकार) कर, शत्रुओं को मार कर, फिर वैसे ही अपनी वेणी बना ली । और फिर उत्तर (के रथ) की वागें पकड लीं ॥ २४ ॥

अ० १७ (व० ६८) उत्तर का नगर प्रवेश और आदर

मूल—धनं चापि विजित्याशु विराटो वाहिनी पतिः । विवेश

नगरं हृष्टश्चतुर्भिः पाण्डवैः सह ॥ १ ॥ जित्वा त्रिगर्तान् संग्रामे गाश्चैवादाय सर्वशः। अशोभत महाराजः सह पार्थैः श्रिया वृतः ॥ २ ॥ उत्तरं परिपप्रच्छ क्व यात इति चाब्रवीत्। आचख्युस्तस्य तत्सर्वं स्त्रियः कन्याश्च वेश्मनि ॥ ३ ॥ विराट उवाच— सर्वथा कुरवस्ते हि ये चान्ये वसुधाधिपाः। त्रिगर्तान् निर्जितान् श्रुत्वा न स्थास्यन्ति कदाचन ॥ ४ ॥ तस्माद् गच्छन्तु मे योधा बलेन महता वृताः। उत्तरस्य परीप्सार्थं ये त्रिगर्तै रविक्षताः ॥५॥ कुमारमाशु जानीत यदि जीवति वा नवा। यस्य यन्ता गतः षंढो मन्येऽहं स न जीवति ॥ ६ ॥ तमब्रवीद् धर्मराजो विहस्य विराट राजं तु भृशाभितप्तं। बृहन्नला सारथिश्चेन्नरेन्द्र परे न नेष्यन्ति तवाद्यगास्ताः ॥ ७ ॥ अथोत्तरेण प्रहिता दूतास्ते शीघ्र गामिनः। विराटनगरं प्राप्य विजयं समवेदयन् ॥ ८ ॥ युधिष्ठिर उवाच— दिष्ट्या विनिर्जिता गावः कुरवश्च पलायिताः ॥ ९ ॥ नाद्भुतं त्वेव मन्येऽहं यत्ते पुत्रोऽजयत् कुरून्। ध्रुव एव जयस्तस्य यस्य यन्ता बृहन्नला ॥ १० ॥

अर्थ—सेना के मालिक विराट अपने गोधन को जीत कर प्रसन्न हुए चारों पाण्डवों के साथ शीघ्र नगर में प्रविष्ट हुए ॥ १ ॥ संग्राम में त्रिगर्तों को जीत कर और सारी गौओं को ले कर, पाण्डवों से युक्त महाराज आसन पर विराजमान हुए ॥ २ ॥ उत्तर के विषय में पूछा, कि कहां गया है, मन्दिर में रहने वाली स्त्रियों और कन्याओं ने उस को वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ३ ॥ तब विराट बोले—सर्वथा कौरव और जो दूसरे राजे हैं, वह त्रिगर्तों को हारा हुआ सुन कर कभी नहीं खड़े होंगे ॥ ४॥ इस लिये हमारे योधे उन सैनिकों को ले कर उत्तर की सहायता

के लिये जावें, जो त्रिगर्तों से विक्षत नहीं हुए हैं ॥ ५ ॥ कुमार का जा कर जल्दी पता लो, जीता है, वा नहीं, जिस का सारथि नपुंसक साथ गया है, मैं समझता हूं, वह नहीं जीता है ॥ ६ ॥ अतीव संतप्त हुए विराटराज से धर्मराज बोले, हे नरेन्द्र यदि बृहन्नला सारथि है, तब शत्रु आप की गौओं को कभी नहीं ले जा सकेंगे ॥ ७ ॥ उसी समय उत्तर से भेजे शीघ्रगामी दूतों ने (विराटनगर में आ) उत्तर का विजय बतलाया ॥ ८ ॥ तब युधिष्ठिर बोले-गौओं के जीतने और कौरवों के भागने की आप को बधाई हो ॥ ९ ॥ मैं यह कोई आश्चर्य नहीं मानता, जो आप के पुत्र ने कौरवों को जीता है, उस का विजय अटल है, जिस का सारथि बृहन्नला हो ॥ १० ॥

मूल-ततो विराटो नृपतिः संप्रहृष्टतनूरुहः । श्रुत्वा स विजयं तस्य कुमारस्यामितौजसः ॥ ११ ॥ आच्छादयित्वा दूतांस्तान् मन्त्रिणः सोऽभ्यचोदयत् । राजमार्गाः क्रियन्तां मे पताकाभि रलंकृताः ॥ १२ ॥ कुमारा योधमुख्याश्च गणिकाश्च स्वलंकृताः । वादित्राणि च सर्वाणि प्रत्युद्यान्तु सुतं मम॥ १३ ॥ घण्टावान् मानवः शीघ्रं मत्तमारुह्य वारणम् । शृंगाटकेषु सर्वेषु आख्यातु विजयं मम ॥ १४ ॥ उत्तरा च कुमारीभिर्बहुभिः परिवारिता । शृंगारवेषाभरणा प्रत्युद्यातु सुतं मम॥ १५ ॥ प्रस्थाप्य सेनां कन्याश्च गणिकाश्च स्वलंकृताः ।मत्स्यराजो महाप्राज्ञः प्रहृष्ट इदमब्रवीत् ॥ १६ ॥ अक्षानाहर सैरन्ध्रि कंक द्यूतं प्रवर्तताम् ॥ १७ ॥

अर्थ-अमित पराक्रम वाले कुमार का विजय सुन राजा विराट के रोम खिल गए ॥ ११ ॥ दूतों को वस्त्र और भूषण

दे कर दूतों को आज्ञा दी, कि राजमार्गों को झंडियों से सजा-ओ ॥ १२ ॥ राजकुमार, सेनापति और वेश्याएं सज धज कर, और सब प्रकार के बाजे मेरे पुत्र की अगुआई के लिये जावें ॥ १३ ॥ एक पुरुष जल्दी हाथी पर चढ़ कर घंटा बजाता हुआ सब चौराहों में हमारे विजय का समाचार कहे ॥ १४ ॥ उत्तरा भी बहुतसी कन्याओं के साथ भूषण वस्त्र पहन कर मेरे पुत्र को आगे लेने जाएं ॥ १५ ॥ सेना को, कन्याओं को, और अलंकृत हुई वेश्याओं को भेज कर महाप्राज्ञ मत्स्यराज प्रसन्न हो कर यह बोले ॥ १६ ॥ हे सैरन्ध्रि पासे ले आ, हे कंक आओ जुआ खेलें ॥ १७ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—न देवितव्यं हृष्टेन कितवेनेति नः श्रुतम् । तं त्वामद्य मुदा युक्तं नाहं देवितु मुत्सहे ॥ १८ ॥ प्रियं तु ते चिकीर्षामि वर्ततां यदि मन्यसे ॥ १९ ॥ प्रवर्तमाने द्यूतेतु मत्स्यः पाण्डव मब्रवीत् । पश्य पुत्रेण मे युद्धे तादृशाः कुरवो जिताः ॥ २० ॥ ततोऽब्रवीन्महात्मा स एनं राजा युधिष्ठिरः । बृहन्नला यस्य यन्ता कथं न स जयेद्युधि ॥ २१ ॥ इत्युक्तः कुपितो राजा मत्स्यो पाण्डव मब्रवीत् । समं पुत्रेण मे षंढं ब्रह्म-बन्धो प्रशंससि ॥ २२ ॥ वाच्यावाच्यं न जानीषे नूनं मामत्र मन्यसे । भीष्मद्रोण मुखान् सर्वान् कस्मान्न स विजेष्यति॥२३॥ वयस्यत्वात्तु ते ब्रह्मन्नपराधमिमं क्षमे । नेदृशं तु पुनर्वाच्यं यदि जीवितु मिच्छसि ॥ २४ ॥ युधिष्ठिर उवाच—यत्र द्रोणस्तथा भीष्मो द्रौणिर्वैकर्तनः कृपः । दुर्योधनश्च राजेन्द्रस्तथाऽन्येच महा-रथाः ॥ २५ ॥ कोऽन्यो बृहन्नलायास्तान् प्रतियुध्येत संगतान् ॥ २६ ॥ यस्य बाहुबले तुल्यो न भूतो न भविष्यति । अतीव

समरं दृष्ट्वा हर्षोयस्योपजायते ॥ २७ ॥ योऽजयद् संगतान् सर्वान् ससुरासुरमानवान् । तादृशेन सहायेन कस्माद् स न विजेष्यते ॥ २८ ॥ विराट उवाच—बहुशः प्रतिषिद्धोसि न च वाचं नियच्छसि । नियन्ता चेन्नविद्येत न कश्चिद्धर्म माचरेत् ॥ २९ ॥ ततः प्रकुपितो राजा तमक्षेणाहनद्भृशम् । मुखे युधिष्ठिरं कोपान्मैव मित्येव भर्त्सयन् ॥ ३० ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—महाराज! हमने सुना हुआ है, कि हर्ष में आए हुए जुआरिये के साथ जुआ नहीं खेलना चाहिये। और आप आज हर्ष युक्त हैं, इस लिये आज मैं आप से खेलने का उत्साह नहीं करता ॥ १८ ॥ किन्तु जो आप को प्रिय हो, मैं करना चाहता हूं, सो यदि ऐसा ही मानते हो, तो हो ॥ १९ ॥ जुए के प्रवृत्त होने पर विराटराज युधिष्ठिर से बोले, देखो मेरे पुत्र ने कैसा वीर कौरवों को जीता है ॥ २० ॥ तब राजा युधिष्ठिर इस से बोले—बृहन्नला जिसका सारथि हो, वह युद्ध में कैसे न जीते ॥ २१ ॥ ऐसा कहने पर राजा विराट क्रुद्ध हो कर पाण्डव से बोला, हे ब्रह्मबन्धो ! मेरे पुत्र के बराबर नपुंसक की प्रशंसा करता है ॥ २२ ॥ तू वाच्य अवाच्य को नहीं जानता है, निःसंदेह तू मेरा अपमान करता है, भीष्म द्रोण आदि सब को उत्तर क्यों नहीं जीत सकेगा ॥ २३ ॥ मित्र है, इस लिये हे ब्रह्मन् तेरा अपराध क्षमा करता हूं, यदि जीना चाहता है, तो फिर कभी ऐसे न कहना ॥ २४ ॥ युधिष्ठिर बोले—जहां द्रोणाचार्य भीष्म, अश्वत्थामा, कर्ण, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन आदि महारथी हों ॥ २५ ॥ इन सब मिले हुओं का बृहन्नला के सिवाय कौन मुकाबिला कर सकता है ॥ २६ ॥ भुजबल में

जिस के बराबर न कोई हुआ है, न होगा। संग्राम को देखकर जिस को बड़ा भारी हर्ष होता है ॥ २७ ॥ जिसने इकट्ठे हुए देव दैत्य और मनुष्यों को जीता है, ऐसे साथी के मिल जाने से उत्तर क्यों नहीं विजय पाएगा ॥ २८ ॥ विराट बोले—कई बार तुझे रोका है, फिर भी तू अपनी वाणी को नहीं रोकता है, यदि कोई दण्ड देने वाला न हो, तो कोई धर्म पर चले ही नहीं ॥ २९ ॥ यह कह कर कुपित हुए राजा ने 'मत ऐसे कहो' इस प्रकार झिड़क कर युधिष्ठिर के मुख पर बल से नर्द दे मारी ॥ ३० ॥

मूल—बलवत् प्रतिविद्धस्य नस्तः शोणित मावहत्। तदप्राप्तं महीं पार्थः पाणिभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ ३१ ॥ अवैक्षत स धर्मात्मा द्रौपदीं पार्श्वतः स्थिताम्। सा ज्ञात्वा तमभिप्रायं भर्तुश्चित्तवशानुगा ॥ ३२ ॥ पात्रं गृहीत्वा सौवर्णं जलपूर्णं मनिन्दिता। तच्छोणितं प्रत्यगृह्णाद् यत् प्रसुस्राव नस्ततः ॥ ३३ ॥ अथोत्तरः शुभैर्गन्धैर्माल्यैश्च विविधैस्तथा। अवकीर्यमाणः संहृष्टो नगरं स्वैरमागतः ॥ ३४ ॥ सभाज्यमानः पौरैश्च स्त्रीभिर्जानपदैस्तथा। आसाद्य भवनद्वारं पित्रे संयुत्य वेदयत् ॥ ३५ ॥ ततो द्वाःस्थो मत्स्यराजः क्षत्तार मिदमब्रवीत्। प्रवेश्यतामुभौ तूर्णं दर्शनेप्सुरहं तयोः ॥ ३६ ॥ क्षत्तारं धर्मराजस्तु शनैः कर्णमुपाजपत्। उत्तरः प्रविशत्वेको न प्रवेश्या बृहन्नला ॥ ३७ ॥ एतस्य हि महाबाहो व्रत मेतत् समाहितम्। यो ममाग्रे व्रणं कुर्यान्न स जीवेत् कथञ्चन ॥ ३८ ॥ ततो राज्ञः सुतो ज्येष्ठः प्राविशत् पृथिवींजयः। सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कंकं चाप्युप तिष्ठत ॥ ३९ ॥ ततो रुधिर संयुक्त मनेकाग्र मनागसम्। भूमावासीन मेकान्ते

सैरन्ध्रया प्रत्युपस्थितम् ॥ ४० ॥ ततः पप्रच्छ पितरं त्वरमाण इवोत्तरः। केनायं ताडितो राजन् केन पाप मिदं कृतम् ॥४१॥ विराट उवाच—मयायं ताडितो जिह्मो न चाप्येतावदर्हति। प्रशस्यमाने यच्छूरे त्वयि षंढं प्रशंसति॥ ४२ ॥

अर्थ—चल से बींधे हुए की नाक मे रुधिर बहने लगा। पर युधिष्ठिर ने उसे पृथिवी पर न गिरने दिया, अपने हाथों पर ले लिया॥ ३१ ॥ और उस धर्मात्मा ने पास खड़ी द्रौपदी की ओर देखा, राजा के अभिप्राय के अनुकूल चलने वाली द्रौपदी ने उस अभिप्राय को लख लिया ॥ ३२ ॥ और तत्क्षण जल से भरा सोने का पात्र ले कर उस में वह रुधिर ले लिया, जो नाक से बहा था ॥ ३३ ॥ उसी समय उत्तर शुभ गन्धों और मालाओं को ग्रहण करता हुआ प्रसन्न हुआ नगर में आया। पुर के लोगों स्त्री जनों और देश के लोगों ने उस का आदर किया, सभा द्वार पर पिता के पास आने का समाचार कहला भेजा ॥ ३४–३५ ॥ तब प्रसन्न हुए विराट राज ने सूत से कहा, दोनों को शीघ्र लेआओ, दोनों को देखना चाहता हूं ॥ ३६ ॥ पर धर्मराज ने धीरे से सूत के कान में कह दिया कि अकेले उत्तर को लाना, बृहन्नला आने न पावे ॥ ३७ ॥ क्योंकि हे महाबाहो! उस का यह व्रत है, कि जो मेरे अंग पर घाव करे, उस को वह कभी जीता नहीं छोड़ेगा ॥ ३८ ॥ तब राजा का ज्येष्ठ पुत्र भूमिंजय (उत्तर) अन्दर आया, और पिता के चरणों को प्रणाम कर कंक के पास गया ॥ ३९ ॥ तब कंक को रुधिर से युक्त व्याकुल, द्रौपदी से सेवित, एक ओर भूमि पर बैठा देख कर, उत्तर जल्दी से पिता के पास आकर बोला, किसने इन

को ताड़ना किया है, हे राजन् किसने यह पाप किया ॥ ४०-४१ ॥ विराट बोले, मैंने इस कुटिल को ताड़ना किया है, यह मान के योग्य नहीं, जो कि मैं जब तुझ शूर वीर की प्रशंसा करता था, तो यह बृहन्नला की प्रशंसा करने लगता ॥ ४२ ॥

मूल-उत्तर उवाच-अकार्यं ते कृतं राजन् क्षिप्रमेव प्रसाद्यताम् । मा त्वां ब्रह्मविषं घोरं समूलमिहानिर्दहेत् ॥ ४३ ॥ स पुत्रस्य वचः श्रुत्वा विराटो राष्ट्रवर्धनः । क्षमयामास कौन्तेयं भस्म छन्न मिवानलं ॥ ४४ ॥ क्षमयन्तं तु राजानं पाण्डवः प्रत्यभाषत । चिरं क्षान्त मिदं राजन् न मन्युर्विद्यते मम ॥ ४५ ॥ शोणिते तु व्यतिक्रान्ते प्रविवेश बृहन्नला । अभिवाद्य विराटं तु कंकं चाप्युप तिष्ठत ॥ ४६ ॥

अर्थ-उत्तर बोले-हे राजन्! आपने बहुत बुरा काम किया, शीघ्र ही इन को प्रसन्न करें, न हो, कि भयंकर ब्रह्मविष आप को पुत्रों सहित दग्ध करे ॥ ४३ ॥ पुत्र के वचन को सुनकर देश के बढ़ाने वाले विराट ने भस्म से ढके अग्नि की भांति युधिष्ठिर को प्रसन्न किया ॥ ४४ ॥ क्षमा कराते हुए राजा से युधिष्ठिर बोले—मैंने पहले ही क्षमा कर दिया हुआ, मुझे अब कुछ क्रोध शेष नहीं है ॥ ४५ ॥ जब रुधिर बन्द होगया, तब बृहन्नला का प्रवेश कराया गया । उस ने विराट को प्रणाम कर पीछे कंक को प्रणाम किया ॥ ४६ ॥

अ० १८(व० ६८-६९) विराट उत्तर संवाद

मूल—क्षामयित्वा तु कौरव्यं रणादुत्तरमागतम् । प्रशशंस ततो मत्स्यः शृण्वतः सव्यसाचिनः ॥ १ ॥ त्वया दायादवान-

स्मि कैकेयीनन्दिवर्धन । त्वया मे सदृशः पुत्रो न भूतो न भवि-ष्यति ॥ २ ॥ पदं पदसहस्रेण यश्चरन्नापराध्नुयात् । तेन कर्णेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ३ ॥ मनुष्यलोके सकले यस्य तुल्यो न विद्यते । तेन भीष्मेण ते तात कथमासीत् समागमः॥४॥ आचार्यो वृष्णिवीराणां कौरवाणां च यो द्विजः । तेन द्रोणेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ५ ॥ आचार्यपुत्रो यः शूरः सर्व शस्त्र भृतामपि । अश्वत्थामेति विख्यातस्तेनासीत् संगरः कथम् ॥ ६ ॥ रणे यं प्रेक्ष्य सीदन्ति हृतस्वा वणिजो यथा । कृपेण तेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७ ॥ पर्वतं योऽभि विध्येत राजपुत्रो महेषुभिः । दुर्योधनेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥८॥ अवगाढा द्विषन्तो मे सुखो वातोऽभिवाति माम् । यस्त्वं धन मथा जैषीः कुरुभिर्ग्रस्त माहवे ॥ ९ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर को क्षमा करा कर विराटराज रण से आए उत्तर की अर्जुन के सामने प्रशंसा करने लगे ॥ १ ॥ हे कैकेयी के आनन्द बढ़ाने वाले ! सच तुम मेरे वारिस हो, तुम्हारे सदृश मेरा पुत्र न हुआ है, न होगा ॥ २ ॥ जो एक साथ सहस्र लक्ष्य बींधता हुआ चूक नहीं करता है, उस कर्ण के साथ हे तात ! तुम्हारा कैसा संग्राम हुआ ॥ ३ ॥ सारे लोक में जिस की बराबरी का कोई और नहीं है, उस भीष्म के साथ हे तात ! तुम्हारा कैसा संग्राम हुआ ॥ ४ ॥ जो ब्राह्मण वीर यादवों और कौरवों का आचार्य है, उस द्रोण के साथ हे तात ! तुम्हारा कैसा संग्राम हुआ ॥ ५ ॥ आचार्य पुत्र जो सब शस्त्र धारियों से बढ़ा चढ़ा शूरवीर है, उस अश्वत्थामा के साथ हे तात तुम्हारा कैसा संग्राम हुआ ॥ ६ ॥ जिसको रण में देख शूर वीर भी

धन लुटे बनियों की भांति घबरा जाते हैं, उस कृपाचार्य के साथ हे तात तुम्हारा कैसा संग्राम हुआ ॥ ७ ॥ जो राजपुत्र अपने बाणों से पर्वत को भी फोड़ सकता है, उस दुर्योधन के साथ हे तात आप का कैसा संग्राम हुआ ॥ ८ ॥ तुमने मेरे द्वेषियों को गाह लिया, इसी से मेरी ओर सुख का वायु बह रहा है, जब तुमने कौरवों से ग्रसे धन को युद्ध में जीत लिया ॥ ९ ॥

मूल—उत्तर उवाच—न मया निर्जिता गावो न मया निर्जिताः परे। कृतं तव सकलं तेन देवपुत्रेण केनचित् ॥ १० ॥ स हि भीतं द्रवन्तं मां देवपुत्रो न्यवर्तयत। तेन ता निर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः ॥ ११ ॥ एकेन तेन वीरेण षड्रथाः परिनिर्जिताः। शार्दूलेनेहमत्तेन यथा वनचरा मृगाः ॥ १२ ॥ विराट उवाच—क्व स वीरो महाबाहुर्देवपुत्रो महायशाः। यो मे धनमथाजैषीद् कुरुभिर्ग्रस्त माहवे ॥ १३ ॥ उत्तर उवाच—अन्तर्धानं गतस्तत्र देवपुत्रो महाबलः। स तु श्वो वा परश्वो वा मन्ये प्रादुर्भविष्यति ॥ १४ ॥ ततः पार्थोऽभ्यनुज्ञातो विराटेन महात्मना। प्रददौ तानि वासांसि विराट दुहितुः स्वयम् ॥ १५ ॥ मन्त्रयित्वा तु कौन्तेय उत्तरेण महात्मना। इति कर्तव्यतां सर्वां राजन् पार्थे युधिष्ठिरे ॥ १६ ॥ ततस्तथा तद् व्यदधाद् यथावत् पुरुषर्षभ॥१७॥

अर्थ—उत्तर बोले—न मैंने गौएं जीती हैं, न मैंने शत्रु जीते हैं, यह सब काम किसी देवपुत्र ने किया है॥१०॥ उसी देवपुत्र ने डर कर भागते हुए मुझे लौटाया, उसीने गौएं जीतीं, उसीने कौरवों को हटाया ॥ ११ ॥ उस अकेले वीर ने छः रथी जीते, जैसे मत्त शेर वनमृगों को जीते ॥ १२ ॥ विराट बोले—वह

महाबाहु महायशस्वी वीर देव पुत्र कहां है, जिसने कौरवों से ग्रसे मेरे धन को युद्ध में फिर जीता ॥ १३ ॥ उत्तर बोले—वह महाबली देवपुत्र छिप गया है, आज कल वा परसों प्रकट होगा ॥ १४ ॥ तब विराट महात्मा से आज्ञा दिये अर्जुन ने वह वस्त्र स्वयं विराट सुता को जा कर दिये ॥ १५ ॥ अब राजा युधिष्ठिर के विषय में जो कर्तव्य है,इस बात की अर्जुन ने उत्तर के साथ सलाह की, और ठीक उसी के अनुसार किया॥ १७ ॥

मूल—ततस्तृतीये दिवसे भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य सर्वाभरण भूषिताः ॥ १८ ॥ विराटस्य सभां गत्वा भूमिपालासनेष्वथ । निषेदुःपावकप्रख्याः सर्वे धिष्ण्येष्विवाग्नयः ॥ १९ ॥ तेषु तत्रोपविष्टेषु विराटः पृथिवीपतिः । आजगाम सभां कर्तुं राजकार्याणि सर्वशः ॥ २० ॥ श्रीमतः पाण्डवान् दृष्ट्वा सरोषः पृथिवीपतिः । अथ मत्स्योऽब्रवीत् कंकं देवरूप मिवास्थितम् ॥ २१ ॥ सकिलाक्षातिवापस्त्वं सभास्तारो मया वृतः । अथ राजासने कस्मा दुपविष्टस्त्वलंकृतः ॥ २२ ॥ स्मय-मानोऽर्जुनो राजन्निदं वचन मब्रवीत् । इन्द्रस्यार्द्धासनं राजन्नय मारोढुमर्हति॥ २३ ॥ ब्रह्मण्यः श्रुतवांस्त्यागी यज्ञशीलो दृढव्रतः। एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये स चराचरे ॥ २४ ॥ यथा मनु-र्महातेजा लोकानां परिरक्षिता । एवमेष महातेजाः प्रजानुग्रह कारकः ॥ २५ ॥ अयं कुरूणा मृषभो धर्मराजो युधिष्ठिरः । एष सर्वान् महीपालान् करदान् समकारयत् ॥ २६ ॥ एष वृद्धाननाथांश्च पंगूनन्धांश्च मानवान् । पुत्रवत् पालयामास प्रजा-धर्मेण वै विभुः ॥ २७ ॥

अर्थ-तब तीसरे दिन पांचों भाई पाण्डव सारे भूषणों से

भूषित होकर युधिष्ठिर को आगे करके, अग्निकुण्डों में अग्नियों की भांति वह अग्नि तुल्य तेजस्वी विराट की सभा में जाकर राजासनों के ऊपर बैठ गए ॥ १८–१९ ॥ उन के वहां बैठ जाने के पीछे राजा विराट राजकार्य करने के लिये सभा में आए ॥ २० ॥ श्रीमान् पाण्डवों को देख कर राजा के मन में क्रोध उपजा, और उस ने देवतुल्य स्थित कंक से पूछा ॥ २१ ॥ मैंने तुझे पांसे खेलने के लिये सभासद् चुना हुआ है, कैसे तुम सजधज कर राजासन पर बैठ गए ॥ २२ ॥ तिस पर मुसकराता हुआ अर्जुन यह बोला । हे राजन् ! यह इन्द्र के आधे आसन पर बैठने के योग्य हैं ॥ २३ ॥ यह ब्रह्मण्य, शास्त्रज्ञ, त्यागी यज्ञशील दृढव्रती है, यह इस चराचर लोक में विविध अस्त्रों का जानने वाला है ॥ २४ ॥ जैसे महातेजस्वी मनु प्रजा के रक्षक हुए हैं, इसी प्रकार यह महातेजस्वी प्रजा की भलाई करने वाला है ॥ २५ ॥ यह कुरुवर महाराज युधिष्ठिर हैं, इस ने सारे राजाओं को अपना कर देने वाला बनाया है ॥ २६ ॥ यह वृद्ध, अनाथ, पंगु और अन्धों को पुत्र की भांति पालता है ॥ २७ ॥

अ० १९ (व-७०-७१) पाण्डवों की पहचान और सम्बन्ध का निश्चय

मूल–विराट उवाच–यद्येष राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । कतमोऽस्यार्जुनो भ्राता भीमश्च कतमो बली ॥ १ ॥ अर्जुन उवाच–य एष बल्लवो ब्रूते सूदस्तव नराधिप । एष भीमो महाराज भीमवेग पराक्रमः ॥ ३ ॥ यश्चासीदश्वबन्धस्ते नकुलोऽयं परंतपः । गोसंख्यः सहदेवश्च माद्री पुत्रौ महारथौ ॥ ४ ॥ सैरन्ध्री द्रौपदी राजन् यस्यार्थे कीचको हतः । अर्जुनोऽहं महा-

राज न्पर्क ते श्रोत्र मागताः ॥ ५ ॥ उपिताः स्मो महाराज सुखं तव निवेशने । अज्ञातवास मुपिता गर्भवास इव प्रजाः ॥ ६ ॥ यदाऽर्जुनेन ते वीराः कथिताः पञ्च पाण्डवाः । तदाऽर्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥ ७ ॥ अयं स द्विपतां हन्ता मृगाणामिव केसरी । अचरद् रथवृन्देषु निघ्नस्तांस्तान् वरान् रथान् ॥ ८ ॥ अनेन विद्धो मातंगो महानेकेपुणा हतः । सुवर्णकक्षः संग्रामे दन्ताभ्यामगमन्महीम् ॥ ९ ॥ अनेन विजिता गावो जिताश्च कुरवो युधि । अस्य शंखप्रणादेन कर्णौ मे वधिरौ कृतौ ॥ १० ॥

अर्थ–विराट बोले–यदि यह राजा युधिष्ठिर है, तो इस का भाई अर्जुन कौनसा है, और वली भीम कौनसा है ॥ १ ॥ नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रौपदी कौन है ॥ २ ॥ अर्जुन बोले–हे राजन् ! यह जो वल्लव आप का रसोइया है, हे महाराज यही भीम है, जिस का वेग और पराक्रम भयंकर है ॥ ३ ॥ जो आप का साईस है, वह यह शत्रुतापी नकुल है, गौओं का अध्यक्ष सहदेव है, यह दोनों महारथी माद्रीपुत्र हैं ॥ ४ ॥ हे राजन् सैरन्ध्री द्रौपदी है, जिस के निमित्त कीचक मारा गया है। और अर्जुन नाम से जो आप के कानों में पहुंचा है, हे महाराज वह मैं हूं ॥ ५ ॥ हे महाराज ! हम आप के घर सुख से रहे हैं। प्रजा जैसे गर्भवास में गुप्त रहती हैं, इस प्रकार हम अज्ञातवास रहे हैं ॥६॥ जब अर्जुन पांचों वीर पाण्डवों को बतला चुके, तब उत्तर ने अर्जुन का पराक्रम बतलाया ॥ ७ ॥ यह मृगों का बब्बर शेर की भांति शत्रुओं का मारने वाला है, जो उन २ रथों को ताड़ता हुआ रथ समूहों में घूमता फिरा ॥ ८ ॥ इसने बड़े हाथी को बींधा और एक ही बाण से मार डाला, वह

सुवर्ण की तंग वाला संग्राम में दांतों के भार पृथिवी पर आ गिरा ॥ ९ ॥ इसने गौएं जीती हैं, और कौरवों को जीता है, इस के शंख की ध्वनि से मेरे कान बहरे होगए थे ॥ १० ॥

मूल—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मत्स्यराजः प्रतापवान् । उत्तरं प्रत्युवाचेद मभिपन्नो युधिष्ठिरे ॥ ११ ॥ प्रसादनं पाण्डवस्य प्राप्तकालं हि रोचये । उत्तरां च प्रयच्छामि पार्थाय यदि मन्यसे ॥ १२ ॥ उत्तर उवाच—आर्याः पूज्याश्च मान्याश्च प्राप्तकालं च मे मतम् । पूज्यन्तां पूजनार्हाश्च महाभागाश्च पाण्डवाः ॥ १३ ॥ विराट उवाच—अहं खल्वपि संग्रामे शत्रूणां वशमागतः । मोक्षितो भीमसेनेन गावश्चापि जितास्तथा ॥ १४ ॥ एतेषां बाहुवीर्येण अस्माकं विजयो मृधे । प्रसादयामो भद्रं ते सानुजं पाण्डवर्षभम् ॥ १५ ॥ पाण्डवांश्च ततः सर्वान् मत्स्यराजः प्रतापवान् । धनञ्जयं पुरस्कृत्य दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत् ॥ १६ ॥ समुपाघ्राय मूर्धानं संश्लिष्य च पुनः पुनः । युधिष्ठिरं च भीमं च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १७ ॥ नातृप्यद् दर्शने तेषां विराटो वाहिनीपतिः। स प्रीयमाणो राजानं युधिष्ठिर मथाब्रवित् ॥ १८ ॥ दिष्ट्या भवन्तः संप्राप्ताः सर्वे कुशलिनो वनात् । दिष्ट्या संपालितं कृच्छ्र मज्ञातं वै दुरात्मभिः ॥ १९ ॥ उत्तरां प्रतिगृह्णातु सव्यसाची धनञ्जयः । अयं ह्यौपयिको भर्ता तस्याः पुरुषसत्तमः॥ २० ॥ एवमुक्तो धर्मराजः पार्थमैक्षद् धनञ्जयम् । ईक्षितश्चार्जुनो भ्रात्रा मत्स्यं वचन मब्रवीत् ॥ २१ ॥ प्रतिगृह्णाम्यहं राजन् स्नुषां दुहितरं तव । युक्तश्चावां हि सम्बन्धो मत्स्यभारतयोरपि ॥ २२ ॥

अर्थ—उत्तर के इस वचन को सुन कर युधिष्ठिर की ओर झुके प्रतापी विराटराज उत्तर से कहने लगे ॥ ११ ॥ यही समय

पाण्डवों को प्रसन्न करने का है, यदि तुम इस बात में सहमत होवो, तो मैं पसंद करता हूं, कि उत्तरा अर्जुन को दीजाए ॥ १२ ॥ उत्तर बोले—पाण्डव आर्य, पूज्य, मान्य हैं, जो आप समयोचित समझते हैं, मुझे अभिमत है, पाण्डव महाभाग पूजा के योग्य हैं पूजिये ॥ १३ ॥ विराट बोले—मैं भी युद्ध में शत्रुओं के वश पड़ गया था, तब भीमसेन ने मुझे बचाया और गौएं जीतीं ॥ १४ ॥ इन के बाहुबल से संग्राम में हमारा विजय हुआ है, सो हम भाइयों सहित युधिष्ठिर को प्रसन्न करें ॥१५॥ अनन्तर प्रतापी मत्स्यराज ने सब पाण्डवों को बड़ी २ बधाई दी। और अर्जुन युधिष्ठिर भीम नकुल सहदेव के सिर को चूमा और बार २ गले लगाया ॥ १६-१७ ॥ उन को देख २ कर महाराज विराट का मन तृप्त नहीं होता था, वह प्रसन्न हो कर राजा युधिष्ठिर से बोले ॥ १८ ॥ आप को बधाई हो, कि आप सब वन से यहां कुशल पूर्वक आए, और बधाई हो, कि दुर्जनों से आप ने कष्ट काल बिता लिया ॥ १९ ॥ अर्जुन उत्तरा को स्वीकार करने की कृपा करें, यह पुरुष वर उस का योग्य पति है ॥ २० ॥ ऐसा कहने पर धर्मराज ने अर्जुन की ओर देखा, भाई से देखे गए अर्जुन विराटराज से यह वचन बोले ॥२१॥ हे राजन् मैं आप की सुता को स्नुषा ग्रहण करता हूं, यह सम्बन्ध मत्स्यों और भरतों का योग्य ही है ॥ २२ ॥

अ० २० (व० ७२) अभिमन्यु और उत्तरा का विवाह

मूल—विराट उवाच—किमर्थं पाण्डवश्रेष्ठ भार्यां दुहितरं मम। प्रतिग्रहीतुं नेमां त्वं मयादत्तामिहेच्छसि ॥ १ ॥ अर्जुन उवाच—अन्तःपुरेऽहं मुषितः सदा पश्यन् सुतां तव । रहस्यं च प्रकाशं च विश्वस्ता पितृवन्मयि ॥ २ ॥ मियो बहुमतश्चासं नर्त-

को गीतकोविदः। आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव ॥३॥ वयस्थया तया राजन् सहसंवत्सरोषितः। अतिशंका भवेत् स्थाने तव लोकस्य वा विभो ॥ ४ ॥ तस्मादामन्त्रये त्वाद्य पुत्रार्थे मे विशांपते। शुद्धं जितेन्द्रियं मन्ये तस्याः शुद्धिः कृता मया ॥ ५ ॥ अत्र शंकां न पश्यामि तेन शुद्धिर्भविष्यति॥ ६ ॥ स्वस्रीयो वासुदेवस्य साक्षाद् देवशिशुर्यथा । दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः ॥ ७ ॥ अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशांपते। जामाता तव युक्तो वै भर्ता च दुहितुस्तव ॥ ८ ॥

अर्थ—विराट बोले-हे पाण्डव वर ! मुझ से दी मेरी कन्या को आप भार्यारूप से क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ॥ १ ॥ अर्जुन बोले-(इस में यह हेतु हैं हे राजन् !) मैं अन्तःपुर में रहा हूं, आप की कन्या को सामने भी और अलग भी मैंने देखा है, वह मेरे ऊपर पिता के समान विश्वास करती रही है ॥ २ ॥ मैं आप के घर में प्यारा और आदरणीय नर्तक और गवैया था, आप की कन्या मुझे सदा गुरु की भांति समझती रही है ॥ ३ ॥ अवस्था को पहुंची हुई के साथ हे राजन् मैं एक वर्ष रहा हूं, (यदि मैं उसे विवाहूं, तो) आप को और लोगों को शंका का पूरा अवसर मिलेगा ॥ ४ ॥ इस लिये हे राजन् ! अपने पुत्र के लिये आप से आज्ञा चाहता हूं, मैं अपने को शुद्ध जितेन्द्रिय समझता हूं, उत्तरा की शुद्धि मैंने कह ही दी है (कि-पितृवत् विश्वस्त है, और गुरु मानती है) ॥ ५ ॥ इस में कोई शंका नहीं देखता हूं, इस से पूरी शुद्धि होगी ॥ ६ ॥ कृष्ण का भानजा मानों साक्षात् देवपुत्र है, कृष्ण का बड़ा प्यारा है, और सारे अस्त्रों में निपुण है॥७॥ वह मेरा पुत्र महाबाहु अभिमन्यु हे राजन् आप का जामाता और आप की कन्या का भर्ता होने योग्य है।८।

मूल–विराट उवाच–उपपन्नं कुरुश्रेष्ठे कुन्तीपुत्र धनञ्जये। य एव धर्मे नित्यश्च जातज्ञानश्च पाण्डवः॥ ९ ॥ यत् कृत्यं मन्यसे पार्थ क्रियतां तदनन्तरम्। सर्वे कामा समृद्धा मे सम्बन्धी यस्य मेऽर्जुनः॥ १० ॥ एवं ब्रुवति राजेन्द्रे कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः। अन्वजानात् स संयोगं समयं मत्स्य पार्थयोः॥ ११ ॥ ततो मित्रेषु सर्वेषु वासुदेवे च भारत। प्रेषयामास कौन्तेयो विराटश्च महीपतिः॥ १२ ॥ ततस्त्रयोदशे वर्षे निवृत्ते पञ्च पाण्डवाः। उपप्लव्यं विराटस्य समपद्यन्त सर्वशः॥ १३ ॥ अभिमन्युं च बीभत्सुरानिनाय जनार्दनम्। आनर्तेभ्योपि दाशार्हानानयामास पाण्डवः॥ १४ ॥ परिवर्ह ददौ कृष्णः पाण्डवानां महात्मनाम्। ततो विवाहो विधिवद् ववृधे मत्स्यपार्थयोः॥ १५ ॥ सुदेष्णां च पुरस्कृत्य मत्स्यानां च वरस्त्रियः। आजग्मुश्चारु सर्वाङ्ग्यः रूपवत्यः स्वलंकृताः॥ १६ ॥ सर्वाश्चाभ्यभवत् कृष्णा रूपेण यशसा-श्रिया॥ १७ ॥ परिवार्योत्तरां तांस्तु राजपुत्री मलंकृताम्। सुतामिव महेन्द्रस्य पुरस्कृत्योपतस्थिरे॥ १८ ॥

अर्थ—विराट बोले–यह बात पाण्डुपुत्र अर्जुन के योग्य ही है, जो धर्म प्रधान है और हरएक बात के जानने वाला है ॥ ९ ॥ अब इस के अनन्तर जो कार्य करना है, वह कीजिये, मेरे सारे मनोरथ पूरे हैं, जिसका सम्बन्धी अर्जुन है॥ १०॥ राजा के ऐसा कहते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने मत्स्य और पाण्डवों के इस सम्बन्ध को स्वीकार किया॥ ११ ॥ तब हे राजन्! अर्जुन ने और राजा विराट ने श्रीकृष्ण के और अपने मित्रों के पास दूत भेजे॥ १२ ॥ सो तेरह वर्ष बीतने पर पाण्डव विराट के उपप्लव्य नगर में आरहे॥ १३ ॥ अर्जुन ने आनर्त

देश से अभिमन्यु को कृष्ण को और यादवों को बुलवा लिया ॥ १४ ॥ कृष्ण ने महात्मा पाण्डवों को भेंट दी, अनन्तर मत्स्यों और पार्थों का यथाविधि विवाह आरम्भ हुआ ॥ १५ ॥ सुदेष्णा को आगे करके मत्स्यों की सुन्दरी रूपवती स्त्रियें सजधज कर आईं ॥ १६ ॥ द्रौपदी रूप यश और शोभा में उन सब को मात करती थी ॥ १७ ॥ वह सब स्त्रियें इन्द्रसुता के तुल्य राजपुत्री उत्तरा का आदर करके चारों ओर उस के बैठगईं ॥१८॥

मूल—तां प्रत्यगृह्णात् कौन्तेयः सुतस्यार्थे धनञ्जयः। सौभद्रस्यानवद्यांगीं विराटतनयां तदा ॥ १९ ॥ प्रतिगृह्य च तां पार्थः पुरस्कृत्य जनार्दनम्। विवाहं कारयामास सौभद्रस्य महात्मनः॥२०॥ तस्मै सप्त सहस्राणि हयानां वातरंहसाम् । द्वे च नागशते मुख्ये प्रादाद् बहुधनं तदा ॥ २१ ॥ कृते विवाहे तु तदा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः। ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः ॥ २२ ॥ गोसहस्राणि रत्नानि वस्त्राणि विविधानि च । भूषणानि च मुख्यानि यानानि शयनानि च ॥ २३ ॥ तन्महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनायुतम्। नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥ २४ ॥

अर्थ—उस सर्व सुन्दरी विराटसुता को अर्जुन ने अपने पुत्र सुभद्रासुत के अर्थ स्वीकार किया ॥ १९ ॥ उसे स्वीकार कर और कृष्ण को आगे करके अर्जुन ने सुभद्रापुत्र का विवाह करवाया ॥ २० ॥ विराट ने उसे वायु तुल्य वेग वाले सातसौ घोड़े और दोसौ मुख्य हाथी और बहुतसा धन दिया ॥ २१ ॥ विवाह होचुकने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को धन दिया, जो श्रीकृष्ण लाए थे ॥२२॥ सहस्रों गौएं रत्न और भांति२ के वस्त्र, उत्तम भूषण रथ और शय्या॥२३॥हे भरतवर हृष्टपुष्ट जनों से भरे, महोत्सव के तुल्य,मत्स्यराज के उस नगर की शोभा बढ़ी ॥ २४ ॥

विराटपर्व समाप्त हुआ ॥

॥ उद्योगपर्व ॥

अ० १ (व० १-५) पाण्डवों के पक्ष वालों की मन्त्रणा।

मूल—कृत्वा विवाहं तु कुरुप्रवीरास्तदाभिमन्योर्मुदिताः स्वपक्षाः। विश्रम्य रात्रावुषसि प्रतीताः सभां विराटस्य ततोऽभिजग्मुः॥ १॥ ततः कथास्ते समवाययुक्ताः कृत्वा विचित्राः पुरुषप्रवीराः। तस्थुर्मुहूर्तं परिचिन्तयन्तः कृष्णं नृपास्ते समुदीक्षमाणाः॥ २॥ कथान्तमासाद्य च माधवेन संघट्टिताः पाण्डवकार्य हेतोः। ते राजसिंहाः सहिता ह्यश्रृण्वन् वाक्यं महार्थं सुमहोदयं च॥ ३॥ श्रीकृष्ण उवाच—सर्वैर्भवद्भिर्विदितं यथायं युधिष्ठिरः सौबलेनाक्ष वत्याम्। जितो निकृत्याऽपहृतं च राज्यं वनप्रवासे समयः कृतश्च॥ ४॥ पाण्डोः सुतैस्तद् व्रत मुग्र रूपं वर्षाणि षट् सप्त च चीर्ण मग्र्यैः। त्रयोदशश्चैव सुदुस्तरोऽयमज्ञायमानैर्भवतां समीपे॥ ५॥ क्लेशानसह्यान् विविधान् सहद्भिर्महात्मभिश्चापि वने निविष्टम्। एतैः परप्रेष्यनियोगयुक्तै रिच्छाद्भिराप्तं स्वकुलेन राज्यम्॥ ६॥ एवं गते धर्मसुतस्य राज्ञो दुर्योधनस्यापि च यद्धितं स्यात्। तच्चिन्तयध्वं कुरुपुंगवानां धर्म्यं च युक्तं च यशस्करं च॥ ७॥ अधर्मयुक्तं न च कामयेत राज्यं सुराणामपि धर्मराजः। धर्मार्थ युक्तं तु महीपतित्वं ग्रामेपि कस्मिंश्चिदयं बुभूषेत्॥ ८॥ पित्र्यं हि राज्यं विदितं नृपाणां यथाऽपकृष्टं धृतराष्ट्र पुत्रैः। तथापि राजा सहितः सुहृद्भिरभीप्सतेऽनामयमेव तेषाम्॥ ९॥ यत्तु स्वयं पाण्डुसुतैर्विजित्य समाहृतं भूमिपतीन् प्रपीड्य। तत् प्रार्थय-

न्ते पुरुषप्रवीराः कुन्तीसुता माद्रवती सुतौ च ॥ १० ॥ तेषां च लोभं प्रसमीक्ष्य वृद्धं धर्मज्ञतां चापि युधिष्ठिरस्य । सम्बन्धितां चापि समीक्ष्य तेषां मतिं कुरुध्वं सहिताः पृथक् च ॥ ११ ॥ इमे च सत्येऽभिरताः सदैव तं पालयित्वा समयं यथावत् । अतोऽन्यथातैरुपचर्यमाणाः हन्युः समेतान् धृतराष्ट्र पुत्रान् ॥ १२॥ तथापि नेमेऽल्पतया समर्थास्तेषां जयायेति भवेन्मतं वः। समेत्यसर्वे सहिताः सुहृद्भिस्तेषां विनाशाय यतेयुरेव ॥ १३ ॥ दुर्योधनस्यापि मतं यथावन्न ज्ञायते किंनु करिष्यतीति । अज्ञायमाने च मते परस्य किं स्यात् समारम्भतमं मतं वः ॥ १४ ॥ तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः । दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां राज्यार्ध दानाय युधिष्ठिरस्य ॥ १५ ॥

अर्थ—अभिमन्यु का विवाह करके कुरुवीर और अभिमन्युके अपने पक्ष के (यादव आदि) बड़े प्रसन्न हुए, रात को विश्राम करके सवेरे उठ कर विराट की सभा में आए ॥ १ ॥ वह वीर पुरुष आपस में मिल कर भांति २ की बातें करके, फिर चुप हो कर कृष्ण के मुख की ओर देखने लगे ॥ २ ॥ जब आपस की बातें समाप्त हुईं तब वह राजवर, जो कृष्ण ने पाण्डवों के अर्थ सभा में बुलाए थे, उन सब ने गंभीर अर्थ वाला और बड़े फल वाला यह वचन सुना ॥ ३ ॥ श्रीकृष्ण बोले—आप सब को विदित है, कि जिस प्रकार शकुनि ने छल से चौपड़ में युधिष्ठिर को जीता, राज्य छीना, और वन में रहने की प्रतिज्ञा करवायी ॥ ४ ॥ वह तेरह वर्ष का उग्रव्रत भी इन धर्मी पाण्डुपुत्रों ने पूरा किया है, और यह तेरहवां वर्ष आप के पास छिप कर बिताया है ॥ ५ ॥ वंश परम्परा से मिले राज्य को चाहते हुए

इन महात्माओं ने वन में प्रवेश करके, और दूसरे के नौकर बन कर, न सहने योग्य भांति २ के क्लेश सहे हैं ॥ ६ ॥ ऐसी अवस्था में युधिष्ठिर और दुर्योधन का जिस में हित हो, वह सोचो, जो धर्मानुसार हो, लोक में उचित हो और यश देने वाला हो ॥ ७ ॥ धर्मराज धर्म से विरुद्ध तो देवताओं के राज्य की भी कामना नहीं करेगा, हां धर्म अर्थ से युक्त आधिपत्य एक छोटे से ग्राम का भी पसन्द करेगा ॥ ८ ॥ आप को यह भी विदित है, कि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने इन से पैतृक राज्य छीना है, तौ भी युधिष्ठिर अपने सारे हितैषियों समेत उन का कल्याण ही चाहते हैं ॥ ९ ॥ कुन्ती और माद्री के जाए यह वीर पाण्डुपुत्र उतना चाहते हैं, जो कुछ इन्होंने स्वयं दूसरे राजाओं से जीता है ॥ १० ॥ कौरवों के बढ़े हुए लोभ, युधिष्ठिर की धर्मज्ञता, और उन के आपस के सम्बन्ध का ध्यान कर के, अलग २ और मिल कर निश्चय करो ॥ ११ ॥ यह सदा सत्य पर दृढ हैं, उस नियम का इन्हों ने पूरा पालन किया है, अब यदि इन से अन्यथा वर्ताव होगा, तो अवश्य यह धृतराष्ट्र के पुत्रों का हनन करेंगे ॥ १२ ॥ तौ भी यह आप को निश्चय होना चाहिये, कि यह थोड़े होने के कारण उन के जीतने को समर्थ नहीं होंगे, सो आप सुहृदों के साथ मिल कर उन के विनाश के लिये अवश्य यत्न करेंगे ॥ १३ ॥ दुर्योधन का भी निश्चय पूरा ज्ञात नहीं है, कि वह क्या करेगा, और दूसरे का निश्चय जाने विना आप भी क्या उचित आरम्भ कर सकते हैं ॥ १४ ॥ इस लिये यहां से एक धर्मशील, शुचि, कुलीन, सावधान और समर्थ दूत आपस में शान्ति रखने और युधिष्ठिर को आधा राज्य देने का संदेश ले कर जाए ॥ १५ ॥

मूल—बलदेव उवाच—श्रुतं भवद्भिर्गदपूर्वजस्य वाक्यं यथा धर्मवदर्थवच्च। अजातशत्रोश्च हितं हितं च दुर्योधनस्यापि तथैव राज्ञः ॥ १६ ॥ संरम्भमाणो विजितः प्रसह्य तत्रापराधः शकुनेर्न कश्चित्। तस्मात् प्रणम्यैव वचो ब्रवीतु वैचित्रवीर्यं बहुसामयुक्तम् ॥ १७ ॥ अयुद्धमाकाङ्क्षत कौरवाणां साम्नैव दुर्योधनमाह्वयध्वम्। साम्ना जितोऽर्थोऽर्थ करो भवेत् युद्धेऽनयो भवितानेहसोऽर्थः॥१८॥ सात्यकि रुवाच—समाहूयतु राजानं क्षत्रधर्मरतंसदा। निकृत्या जितवन्तस्ते किंतु तेषां परं शुभम् ॥ १९ ॥ कथं प्रणिपतेच्चाप-मिह कृत्वा पणं परम्।वनवासाद्विमुक्तस्तु प्राप्तः पैतामहं पदम्॥२०॥ कथं च धर्मयुक्तास्ते न च राज्यं चिकीर्षवः। निवृत्तवासान् कौन्तेयान् य आहुर्विदिता इति ॥ २१ ॥ अनुनीता हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च। न व्यवस्यन्ति पाण्डूनां प्रदातुं पैतृकं वसु ॥ २२ ॥ अहं तु तान् शितैर्बाणै रनुनीय रणे बलात्। पादयोः पातयिष्यामि कौन्तेयस्य महाबलः ॥ २३ ॥ नाधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून् हत्वाऽऽततायिनः। अधर्ममयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम् ॥ २४ ॥

अर्थ-बलदेव बोले—आपने धर्म और अर्थ से भरा कृष्ण का वचन सुना, जो युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों का हित साधक है॥ १६ ॥ (रोकने पर भी) हठ से जुए में लगे को शकुनि ने जीता है, इस में शकुनि का कोई अपराध नहीं, इस लिये दूत युधिष्ठिर की ओर से झुक कर ही बड़ी नम्रता के साथ धृतराष्ट्र से यह बात कहे॥ १७ ॥ कौरवों के साथ युद्ध की इच्छा न करना, नम्रता से ही दुर्योधन से बात करो, नम्रता से साधा हुआ प्रयोजन फल वाला होगा, युद्ध में अनीति होगी, नम्रता में ऐसा नहीं

होगा ॥ १८ ॥ सात्यकि बोले—सदा क्षत्रधर्म में प्रेम रखने वाले राजा को बुला कर छल से उन्होंने जीता है, यह उन का भला काम कैसे होसकता है ॥ १९ ॥ ऐसी अवस्था में भी धर्मराज पण को पूरा करके क्यों झुके (विनय से राज्य मांगे) वनवास से छूटा हुआ अब पिता के राज्य का अधिकारी है ॥ २० ॥ वह (कौरव) धर्म पर कैसे हैं? राज्य के अभिलाषी क्यों नहीं, जो कि वास पूरा करचुके भी पाण्डवों को कहते हैं, कि जाने गए हैं ॥ २१ ॥ भीष्म, द्रोण और विदुर ने भी बहुतेरा नर्म किया, तौ भी वह पाण्डवों को उन का पैतृक धन नहीं देना चाहते ॥ २२ ॥ मैं तो उन को रण में बल से तीक्ष्ण बाणों से नर्म करके महात्मा युधिष्ठिर के पाओं पर गिराऊंगा ॥ २३ ॥ आततायी शत्रुओं के मारने में कोई पाप नहीं है, शत्रुओं से मांगना अधर्म है और अपयश का कारण है ॥ २४ ॥

मूल—द्रुपद उवाच—एव मेतन्महाबाहो भविष्यति न संशयः। नहि दुर्योधनो राज्यं मधुरेण प्रदास्यति ॥ २५ ॥ अनुवर्त्स्यति तं चापि धृतराष्ट्रः सुतप्रियः। भीष्मद्रोणौ च कार्पण्यान्मौर्ख्याद्राधेय-सौबलौ ॥ २६ ॥ स च दुर्योधनो नूनं प्रेषयिष्यति सर्वशः। पूर्वा-भिपन्नाः सन्तश्च भजन्ते पूर्व चोदनम् ॥ २७ ॥ तद् त्वरध्वं नरे-न्द्राणां पूर्वमेव प्रचोदने। महद्धि कार्यं वोढव्य मिति मे वर्तते मतिः ॥ २८ ॥ अयं च ब्राह्मणो विद्वान् मम राजन् पुरोहितः। प्रेष्यतां धृतराष्ट्राय वाक्य मस्मै प्रदीयताम् ॥ २९ ॥

अर्थ—द्रुपद बोले—हे महाबाहो! यह ऐसे ही होगा, इस में संशय नहीं, क्योंकि दुर्योधन नर्मी से राज्य नहीं देगा ॥२५॥ धृतराष्ट्र भी उस का साथ देगा, उस को पुत्र प्यारा है, भीष्म

और द्रोण (ने उस का अन्न खाया है, इस) दीनता से और कर्ण और शकुनि मुर्खता से साथ देंगे ॥ २६ ॥ दुर्योधन सब ओर अपने दूत अवश्य भेजेगा, और जो भले पुरुष हैं, जब उन से पहले सहायता मांगी जाए, तो पहले प्रेरने वाले का साथ देते हैं ॥ २७ इस लिये मेरा यह विचार है, कि राजाओं के पास पहले ही दूत भेजने में जल्दी करनी चाहिये, क्योंकि बड़ाभारी काम उठाना है ॥ २८ ॥ और हे राजन्! यह विद्वान् ब्राह्मण जो कि मेरे पुरोहित हैं, इन को धृतराष्ट्र के पास भेजिये और संदेश दीजिये ॥ २९ ॥

मूल—वासुदेव उवाच—उपपन्नमिदं वाक्यं सोमकानां धुरन्धरे। अर्थसिद्धिकरं राज्ञः पाण्डवस्यामितौजसः ॥ ३० ॥ एतच्च पूर्वं कार्यं नः सुनीतमभिकांक्षताम्। अन्यथा ह्याचरन् कर्म पुरुषः स्यात् सुबालिशः ॥ ३१ ॥ किन्तु सम्बन्धकं तुल्य मस्माकं कुरुपाण्डुषु ॥ ३२ ॥ ते विवाहार्थ मानीता वयं सर्वे तथा भवान्। कृते विवाहे मुदिता गमिष्यामो गृहान् प्रति ॥ ३३ ॥ भवान् वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च। शिष्यवत् ते वयं सर्वे भवामेह न संशयः ॥ ३४ ॥ स भवान् प्रेषयत्वद्य पाण्डवार्थ करं वचः। सर्वेषां निश्चितं तन्नः प्रेषयिष्यति यद् भवान् ॥ ३५ ॥ यदि तावच्छमं कुर्यान्न्यायेन कुरुपुंगवः। न भवेत् कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान् क्षयः ॥ ३६ ॥ अथ दर्पान्वितो मोहान्नकुर्याद् धृतराष्ट्रजः। अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान् समाह्वयेः ॥ ३७ ॥

अर्थ—श्रीकृष्ण बोले—सोमकों के धुरन्धर का यह वचन युक्ति युक्त है, जो अमित पराक्रम वाले राजा युधिष्ठिर का अर्थसाधक है ॥ ३० ॥ ठीक रस्ते पर चलना चाहते हुए हम लोगों

को पहले यही करना चाहिये, इस से उलटा चलने वाला पुरुष तो अतीव मूर्ख ठहरेगा ॥ ३१ ॥ पर कौरवों और पाण्डवों के साथ हमारा सम्बन्ध तुल्य है* ॥ ३२ ॥ और हम सब और आप भी विवाह के अर्थ बुलाए गए हैं, अब विवाह करके हम प्रसन्न हुए अपने घरों को लौटेंगे॥ ३३ ॥ आप आयु की अपेक्षा से और शास्त्र की अपेक्षा से भी हम सब से वृद्धतम हैं, हम सब आप के शिष्यवत् हैं इस में संशय नहीं ॥ ३४ ॥ सो आप ही पाण्डवों का हितसाधक संदेश भेजें, जो आप भेजेंगे, वह हम सब का निश्चित है ॥ ३५ ॥ यदि दुर्योधन न्याय का पक्ष ले कर सन्धि कर ले, तो कौरव और पाण्डवों का सौभ्रात्र बना रहे और महान् क्षय न हो ॥ ३६ ॥ और यदि अभिमानी दुर्योधन मोह से इस बात को न माने, तो औरों को बुला कर पीछे हमें बुलाइये ॥ ३७ ॥

अ० २ (व०५-७) अर्जुन और दुर्योधन को कृष्ण से सहायता

मूल—ततः सत्कृत्य वार्ष्णेयं विराटः पृथिवीपतिः। गृहान् प्रस्थापयामास सगणं सहबान्धवम् ॥ १ ॥ द्वारकां तु गते कृष्णे युधिष्ठिर पुरोगमाः । चक्रुः सांग्रामिकं सर्वं विराटश्च महीपतिः ॥ २ ॥ ततः संप्रेषयामास विराटः सह बान्धवैः । सर्वेषां भूमिपालानां द्रुपदश्च महीपतिः ॥ ३ ॥ वचनात् कुरुसिंहानां मत्स्य पांचालयोश्च ते । समाजग्मुर्महीपालाः संप्रहृष्टा महाबलाः ॥ ४ ॥ तच्छ्रुत्वा पाण्डुपुत्राणां समागच्छद् महद् बलम् । धृतराष्ट्र सुताश्चापि समानिन्युर्महीपतीन् ॥ ५ ॥ ततः प्रज्ञानयोवृद्धं पांचाल्यः

* दुर्योधन की कन्या कृष्ण पुत्र साम्ब हर लेगया था ।

स्वपुरोहितम् । कुरुभ्यः प्रेषयामास युधिष्ठिरमते स्थितः ॥ ६ ॥ द्रुपद उवाच—धृतराष्ट्रस्य विदितं वञ्चिताः पाण्डवाः परैः । विदुरेणानुनीतापि पुत्रमेवानुवर्तते ॥ ७ ॥ शकुनिर्बुद्धिपूर्वं हि कुन्तीपुत्रं समाह्वयत् । अनक्षज्ञं मताक्षः सन् क्षत्रवृत्तेस्थितं शुचिम् ॥ ८ ॥ ते तथा वञ्चयित्वा तु धर्मराजं युधिष्ठिरम् । न कस्यांचिदवस्थायां राज्यं दास्यन्ति वै स्वयम् ॥ ९ ॥ भवांस्तु धर्मसंयुक्तं धृतराष्ट्रं ब्रुवन्वचः । मनांसि तस्य योधानां ध्रुवमावर्तयिष्यति ॥ १० ॥ विदुरश्चापि तद् वाक्यं साधयिष्यति तावकम् । भीष्मद्रोण कृपादीनां भेदं संजनयिष्यति ॥ ११ ॥ अमात्येषु च भिन्नेषु योधेषु विमुखेषु च । पुनरेकत्र करणं तेषां कर्म भविष्यति ॥ १२ ॥ एतस्मिन्नन्तरे पार्थाः सुखमेकाग्र बुद्धयः । सेनाकर्म करिष्यन्ति द्रव्याणां चैव सञ्चयम् ॥ १३ ॥ एतत् प्रयोजनं चात्र प्राधान्येनोप लभ्यते । संगत्या धृतराष्ट्रश्च कुर्याद् धर्म्यं वचस्तव ॥ १४ ॥

अर्थ—तब राजा विराट ने श्रीकृष्ण का सत्कार करके सेना और बान्धवों समेत घरों को भेजा ॥ १ ॥ श्रीकृष्ण के द्वारका चले जाने पर राजा विराट और युधिष्ठिर आदि ने संग्राम की सारी तय्यारी आरम्भ की ॥ २ ॥ राजा विराट और राजा द्रुपद ने बान्धवों सहित सब राजाओं के पास दूत भेजे ॥ ३ ॥ पाण्डवों, मत्स्यों और पांचालों की आज्ञा से वह महाबली राजे प्रसन्न हो कर वहां आए ॥ ४ ॥ पाण्डवों की बड़ी सेना इकट्ठी होते सुन कर धृतराष्ट्र के पुत्रों ने भी राजाओं को बुलाना आरम्भ किया ॥ ५ ॥ उस समय द्रुपद ने युधिष्ठिर की संमति से आयु और ज्ञान में वृद्ध अपने पुरोहित को कौरवों के पास भेजा ॥ ६ ॥ द्रुपद बोले—धृतराष्ट्र की जान-

कारी में शत्रुओं ने पाण्डवों को जीता है, और विदुर के समझाने पर भी पुत्र के पीछे चलता है ॥ ७ ॥ शकुनि ने भी जान बूझकर जुए में युधिष्ठिर को बुलाया, यह तो पासों के न जानने वाले क्षत्रधर्म में दृढ़ सच्चे पुरुष हैं, और वह पासों में निपुण है ॥८॥ इस प्रकार धर्मराज को ठग कर अब वह अपनी इच्छा से कभी राज्य नहीं देंगे ॥ ९ ॥ किन्तु आप धृतराष्ट्र को धर्मयुक्त वचन कहते हुए उस के योधाओं के मनों को अपनी ओर झुकालेंगे, यह निःसंदेह है ॥ १० ॥ विदुर भी आप के वचन का समर्थन करेंगे, और भीष्म द्रोण कृप आदि का उन से भेद करा देंगे ॥ ११ ॥ जब मन्त्रियों में भेद होगा और योधे विमुख होंगे, तब वह उन को फिर मिलाने की चेष्टा करेंगे ॥ १२ ॥ इस अवसर में एकाग्र बुद्धि पाण्डव सुख से सेना का प्रबन्ध और सामग्री का संचय करलेंगे ॥ १३ ॥ यह प्रयोजन इस में मुख्य प्रतीत होता है, और संभव है, आप की संगति से धृतराष्ट्र आप के धर्मयुक्त वचन को मान ले ॥ १४ ॥

मूल—प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र द्वारकां पुरुषर्षभः । स्वयं जगाम कौरव्यः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥ १५ ॥ सर्वमागमयामास पाण्डवानां विचेष्टितम् । धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः ॥ १६ ॥ स श्रुत्वा माधवं यान्तं द्वारकामभ्ययात् पुरीम् । तमेव दिवसं चापि जगामाशु धनञ्जयः ॥ १७ ॥ तौ यात्वा पुरुषव्याघ्रौ द्वारकां कुरुनन्दनौ । सुप्तं ददृशतुः कृष्णं शयानं चाभिजग्मतुः ॥ १८ ॥ ततः शयाने गोविन्दे प्रविवेश सुयोधनः । उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने ॥ १९ ॥ ततः किरीटी

तस्यानु प्रविवेश महामनाः । पश्चार्धे तु स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठव कृताञ्जलिः ॥ २० ॥ प्रतिबुद्धः स वार्ष्णेयो ददर्शाग्रे किरीटिनम् ॥ २१ ॥ स तयोः स्वागतं कृत्वा यथावत् प्रति पूज्य तौ। तदागमनजं हेतुं पप्रच्छ मधुसूदनः ॥ २२ ॥

अर्थ—अन्यत्र दूतों को भेज कर पुरुषत्र धनञ्जय द्वारका को स्वयं गए ॥ १५ ॥ पाण्डवों की सारी चेष्टा को राजा दुर्योधन ने इस काम पर लगाए गुप्तचरों के द्वारा जान लिया॥१६॥ कृष्ण को चले गए सुन कर वह द्वारकापुरी में गया, उसी दिन अर्जुन भी वहां पहुंचा ॥ १७ ॥ द्वारका में पहुंच कर उनदोनों कुरुनन्दनों ने सोए हुए कृष्ण को देखा, क्योंकि वह सोए हुए के ही पास चले गए थे ॥ १८ ॥ कृष्ण के सोते हुए ही पहले दुर्योधन प्रविष्ट हुआ, और वह कृष्ण के सिर की ओर एक उत्तम आसन पर बैठ गया ॥ १९ ॥ उस के पीछे मनस्वी अर्जुन प्रविष्ट हुआ, और वह पाओं की ओर हाथ जोड़ नम्रता से बैठा ॥ २० ॥ सो श्रीकृष्ण ने जागते ही पहले अर्जुन को देखा ॥ २१ ॥ कृष्ण ने उन का स्वागत किया, और यथायोग्य पूजा करके उन के आने का कारण पूछा ॥ २२ ॥

मूल—ततो दुर्योधनः कृष्णमुवाच प्रहसन्निव । विग्रहेऽस्मिन् भवान् साह्यं मम दातु मिहार्हसि ॥ २३ ॥ समं हि भवतः सख्यं मम चैवार्जुनेपि च । तथा सम्बन्धकं तुल्य मस्माकं त्वयि माधव ॥ २४॥ अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन । पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्व सारिणः ॥ २५ ॥ कृष्ण उवाच—भवानभिगतः पूर्व मत्र मे नास्ति संशयः।दृष्टस्तु प्रथमं राजन् मया पार्थो धनञ्जयः

॥ २६ ॥ तव पूर्वाभिगमनात् पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात्। साहाय्यमु-भयोरेव करिष्यामि सुयोधन ॥ २७ ॥ प्रवारणं तु बालानां पूर्वं कार्यमितिश्रुतिः । तस्मात् प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनञ्जयः॥२८॥ मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत् । नारायणा इतिख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ॥ २९ ॥ ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः । अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ॥ ३० ॥ आभ्यामन्यतरं पार्थ यत्ते हृद्यतरं मतम् । तद् वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः ॥ ३१ ॥ एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः । अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ॥ ३२ ॥ दुर्योधनस्तु तत्सैन्यं सर्वमावरयत् तदा । कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा संप्राप परमां मुदम् ॥ ३३ ॥ ततोऽभ्ययाद् भीमबलो रौहिणेयं महाबलम्। प्रत्युवाच ततः शौरिर्धार्तराष्ट्रमिदं वचः ॥ ३४ ॥ नाहं सहायः पार्थस्य नापि दुर्योधनस्य वै । इति मे निश्चिता बुद्धिर्वासुदेवमवेक्ष्य ह ॥ ३५ ॥ जातोसि भारते वंशे सर्वपार्थिवपूजिते । गच्छ युध्यस्व धर्मेण क्षात्रेण पुरुषर्षभ ॥ ३६ ॥ इत्येवमुक्तस्तु तदा परिष्वज्य हलायुधम् । कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा युद्धान्मेने जितं जयम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—दुर्योधन ने हंस कर कृष्ण से कहा, इस युद्ध में आप हमें सहायता दीजिये ॥ २३ ॥ आप मेरे और अर्जुन के समान ही सखा हैं, और हमारा सम्बन्ध भी आप से एक तुल्य है॥२४॥ और मैं आज आप के पास पहले आया हूं, धर्मात्मा पुरुष पहले आए को स्वीकार करते हैं ॥ २५ ॥ कृष्ण बोले—आप पहले आए हैं, इस में मुझे कोई संदेह नहीं, पर हे राजन् ! देखा मैंने पहले अर्जुन को है ॥ २६ ॥ आप आए पहले हैं, और देखा

इस को पहले है, इस कारण मैं दोनों की ही सहायता करूंगा ॥ २७ ॥ इच्छा पूर्ति पहले छोटों की करनी चाहिये, यह श्रुति है, इस लिये इच्छा पूर्ति का पात्र अर्जुन पहला है ॥ २८ ॥ मेरे तुल्य गठे हुए शरीरों वाले सहस्रों गोप जो नारायण नाम से प्रसिद्ध हैं, सब संग्राम में लड़ने वाले हैं ॥ २९ ॥ वह न दबने वाले युद्ध में एक के सैनिक हों, और एक ओर मैं विना युद्ध और विना शस्त्रों के रहूंगा ॥ ३० ॥ इन दोनों में से हे अर्जुन जो तुम्हें अधिक पसंद हो, वह पहले तुम मांग लो, धर्मानुसार तुम पहले इच्छा पूर्ति के योग्य हो ॥ ३१ ॥ जब कृष्ण ने अर्जुन को ऐसे कहा, तो उस ने संग्राम में विना युद्ध करने के कृष्ण को चुना ॥ ३२ ॥ और दुर्योधन ने वह सारी सेना ले ली, और कृष्ण को खाली जान कर बड़े हर्ष को प्राप्त हुआ ॥ ३३ ॥ तब वह महाबली बलदेव के पास गया। बलदेव ने दुर्योधन को यह उत्तर दिया ॥ ३४ ॥ मैं न अर्जुन का साथी होता हूं, न दुर्योधन का, कृष्ण को देख कर मेरा यही निश्चित विचार है ॥ ३५ ॥ तुम सब राजाओं से पूजित भारतवंश में उत्पन्न हुए हो, जाओ हे पुरुषवर क्षात्रधर्म से युद्ध करो ॥ ३६ ॥ इस बात को सुन कर दुर्योधन बलदेव को गले लगा, कृष्ण को खाली जान समझने लगा, कि अब अर्जुन जीता गया ॥ ३७ ॥

अ०३(व०८-१८) दुर्योधन का शल्य को अपने पक्ष में करना

मूल—शल्यः श्रुत्वा तु दूतानां सैन्येन महतावृतः । अभ्ययात् पाण्डवान् राजन् सह पुत्रैर्महारथैः ॥ १ ॥ कारयामास पूजार्थं तस्य दुर्योधनः सभाः । रमणीयेषु देशेषु रत्नचित्राः स्वलंकृताः ॥ २ ॥ स ताः सभाः समासाद्य पूज्यमानो यथाऽमरः ।

दुर्योधनस्य सचिवैर्देशे देशे समन्ततः॥ ३ ॥ आजगाम सभामन्यां देवावसथवर्चसम् । स तत्र विषयैर्युक्तैः कल्याणैरति मानुषैः॥४॥ मेनेऽभ्यधिक मात्मान मवमेने पुरन्दरम् ॥ ५ ॥ पप्रच्छ स ततः प्रेष्यान् केऽत्र चक्रुः सभा इमाः । प्रसादमेषां दास्यामि कुन्तीपुत्रोऽनु मन्यताम् ॥ ६ ॥ संप्रहृष्टो यदा शल्यो दिदित्सुरपि जीवितम् । गूढो दुर्योधनस्तत्र दर्शयामास मातुलम् ॥ ७ ॥ तं दृष्ट्वा मद्रराजश्च ज्ञात्वा यत्नं च तस्य तम् । परिष्वज्याब्रवीत् प्रीत इष्टोऽर्थो गृह्यतामिति ॥ ८ ॥ दुर्योधन उवाच—सत्यवान् भव कल्याण वरो वै मम दीयताम् । सर्वसेनाप्रणेता वै भवान् भवितु मर्हति ॥ ९ ॥ शल्य उवाच—गच्छ दुर्योधन पुरं स्वकमेव नरर्षभ । दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् क्षिप्रमेष्ये नराधिप ॥ १० ॥ दुर्योधन उवाच—क्षिप्रमा गम्यतां राजन् पाण्डवं वीक्ष्य पार्थिव । त्वय्यधीनाः स्म राजेन्द्र वरदानं स्मरस्व नः॥ ११ ॥स तथा शल्यमामन्त्र्य पुनरायात् स्वकं पुरम् ।शल्यो जगाम कौन्तेयानाख्यातुं कर्म तस्य तत् ॥ १२ ॥ समेत्य च महाबाहुः शल्यः पाण्डुसुतैस्तदा। जगाम सबलः श्रीमान् दुर्योधन मरिन्दम ॥ १३ ॥

अर्थ—हे राजन् ! राजा शल्य दूतों का बचन सुन कर महारथी पुत्रों सहित बड़ी सेना संग लिये पाण्डवों की ओर गया॥१॥ दुर्योधन ने पता लगा कर मार्ग में उस के आदर के लिये रमणीय स्थानों में रत्नों से चित्रित बड़े सजे हुए घर बनवाए ॥ २ ॥ वह उन घरों में पहुंच कर जगह २ दुर्योधन के मन्त्रियों से देवता की भांति पूजे जाते ॥ ३ ॥ चलते २ वह एक देवमन्दिर तुल्य सभा में पहुंचे, जहां उन को सारी वस्तुएं बड़ी उत्तम दिव्य रूप में मिलीं ॥ ४ ॥ उस ने इन्द्र से भी बढ़ कर अपना आदर समझा

॥ ५ ॥ तब उस ने भृत्यों से पूछा, कि वह यहां कौन हैं, जिन्होंने यह सभाएं बनाई हैं, मैं उन को पुरस्कार दूंगा, युधिष्ठिर स्वीकार करेंगे ॥ ६ ॥ इस प्रकार जब प्रसन्न हुआ शल्य इस आदर के पलटे जीवन देने को तय्यार हुआ, तब छिपा हुआ दुर्योधन मामा (शल्य) के संमुख आया ॥ ७ ॥ उस को देख कर मद्रराज ने जाना, कि यह सारा इस का प्रयत्न है, तब उसे गले लगा कर प्रसन्न हो कहा, अभीष्ट वर लो ॥ ८ ॥ दुर्योधन बोला— हे राजन् ! अपने वचन के सच्चे बनो, मुझे वर दो, आप मेरी सेना के नायक बनें ॥ ९ ॥ शल्य बोले—बहुत अच्छा, दुर्योधन तुम अपने नगर को जाओ, हे राजन् ! मैं अब युधिष्ठिर को मिल कर जल्दी आता हूं ॥ १० ॥ दुर्योधन बोला—हे राजन् ! युधिष्ठिर को मिल कर बहुत जल्दी आना, हे राजन् ! हम आप के भरोसे हैं, हमारे वर को स्मरण रखें ॥ ११ ॥ दुर्योधन शल्य से पूछ कर अपने पुर को आया, शल्य उस का यह कर्म कहने के लिये पाण्डवों की ओर गया ॥ १२ ॥ शल्य पाण्डु पुत्रों को मिल कर सेना समेत दुर्योधन की ओर गया ॥ १३ ॥

अ० ४ (व० १९) सेनाओं का इकट्ठा होना

मूल—युयुधानस्ततो वीरः सात्वतानां महारथः । महता चतुरंगेण बलेनायाद् युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥ तस्य योधा महावीर्या नानादेशसमागताः । नानाप्रहरणा वीरा शोभयां चक्रिरे बलम् ॥ २ ॥ तथैवा क्षौहिणीं गृह्य चेदीनामृषभो बली । धृष्टकेतुरुपागच्छत् पाण्डवान मितौजसः ॥ ३ ॥ मागधश्च जयत्सेनो जारासन्धिर्महाबलः । अक्षौहिण्यैव सैन्यस्य धर्मराज मुपागमत् ॥ ४ ॥ तथैव पाण्ड्यो राजेन्द्र सागरानूप वासिभिः । वृतो बहुविधैर्योधै-

युधिष्ठिर मुपागमत् ॥ ५ ॥ द्रुपदस्याप्य भूत् सेना नानादेशसमागतैः । शोभिता पुरुषैः शूरैः पुत्रैश्चास्य महारथैः ॥ ६ ॥ तथैव राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः । पार्वतीयैर्महीपालैः सहितः पाण्डवानियात् ॥ ७ ॥ इतश्चेतश्च पाण्डूनां समाजग्मुर्महात्मनाम् । अक्षौहिण्यस्तु सप्तैता विविध ध्वज संकुलाः ॥ ८ ॥

अर्थ—अनन्तर यादववीर महारथी युयुधान हाथी घोड़े रथ और पैदलों की भारी सेना ले कर युधिष्ठिर के पास आया ॥ १ ॥ भिन्न २ देशों से आए हुए, भांति २ के शस्त्र चलाने वाले उस के महाबली वीर योधों से वह सेना बहुत ही सजी हुई थी ॥ २ ॥ वैसे ही एक अक्षौहिणी सेना ले कर चेदि देश के अधिपति वीर धृष्टकेतु अमित बल वाले पाण्डवों के पास आए ॥ ३ ॥ मगधवासी, जरासन्ध का पुत्र महाबली जयत्सेन भी एक अक्षौहिणी सेना के साथ युधिष्ठिर के पास आया ॥ ४ ॥ इसी प्रकार पाण्ड्य देश का राजा सागर तट पर रहने वाले बहुविध योधों के साथ युधिष्ठिर के पास आया ॥ ५ ॥ द्रुपद की सेना नाना देश से आए शूर वीर पुरुषों से और उस के महारथी पुत्रों से अलग शोभित थी ॥ ६ ॥ वैसे मत्स्यों का राजा विराट पर्वतीय राजाओं के साथ युधिष्ठिर के पास आया ॥ ७ ॥ इस प्रकार इधर उधर से पाण्डवों के पास अनेक प्रकार के झंडे लगाए सात अक्षौहिणियें इकट्ठी हुईं*॥ ८ ॥

मूल—तथैव धार्तराष्ट्रस्य हर्षं समभिवर्धयन् । भगदत्तो महीपालः सेना मक्षौहिणीं ददौ ॥ ९ ॥ तस्य चीनैः किरातैश्च काञ्चनै रिव संवृतम् । बभौ बलमनाधृष्यं कर्णिकारवनं यथा ॥ १० ॥ तथा भूरिश्रवाः शूरः शल्यश्च कुरुनन्दन । दुर्योधन मुपायातौ

* अक्षौहिणी का परिमाण २१८७० हाथी और रथ, ६५६१० घोड़े १०९३५० प्यादे ।

णौहिण्या पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥ कृतवर्मा च हार्दिक्यो भोजान्ध कुकुरैः सह । अक्षौहिण्यैव सेनाया दुर्योधन मुपागमत् ॥ १२ ॥ जयद्रथ मुखाश्चान्ये सिन्धुसौवीरवासिनः । आजग्मुः पृथिवीपालाः कम्पयन्त इवाचलान् ॥ १३ ॥ सुदक्षिणश्च काम्बोजो यवनैश्च शकैस्तथा । उपाजगाम कौरव्य मक्षौहिण्या विशांपते ॥ १४ ॥ तथा माहिष्मतीवासी नीलो नीलायुधैः सह । महीपालो महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभिः ॥ १५ ॥ आवन्त्यौ च महीपालौ महाबल सुसंवृतौ । पृथग क्षौहिणीभ्यां ता वुपयातौ सुयोधनम् ॥ १६ ॥ केकयाश्च नरव्याघ्राः सोदर्याः पञ्च पार्थिवाः । संहर्षयन्तः कौरव्य मक्षौहिण्या समाद्रवन् ॥ १७ ॥ ततस्ततस्तु सर्वेषां भूमिपानां महात्मनाम् । तिस्रोऽन्याः समवर्तन्त वाहिन्यो भरतर्षभ ॥ १८ ॥ एव मेकादशावृत्ताः सेना दुर्योधनस्यताः॥१९॥

अर्थ-इसी प्रकार दुर्योधन का हर्ष बढ़ाते हुए राजा भगदत्त एक अक्षौहिणी सेना ले कर आए ॥ ९ ॥ मानों सोने के (पीतवर्ण वाले) चीनी और किरातों से युक्त उस की दुर्जय सेना फूले हुए कनेर के वन की भांति शोभायमान थी ॥ १० ॥ इसी प्रकार भूरिश्रवा और शल्य अलग २ अक्षौहिणी २ सेना ले कर दुर्योधन के पास आए ॥ ११ ॥ कृतवर्मा हार्दिक्य भी भोज, अन्धक और कुकुर क्षत्रियों की एक अक्षौहिणी सेना ले कर दुर्योधन के पास आया ॥ १२ ॥ सिन्धु सौवीर वासी जयद्रथ आदि राजे भी मानों पर्वतों को कंपाते हुए आए ॥ १३ ॥ कम्बोज का राजा सुदक्षिण यवन और शकों की एक अक्षौहिणी सेना ले कर दुर्योधन के पास आया ॥ १४ ॥ माहिष्मती का राजा नील दक्षिणापथ के रहने वाले बड़े बली नीला-

युधों के साथ आया ॥ १५ ॥ अवन्ति के दोनों राजे (विन्दु, अनुविन्द) अलग २ अक्षौहिणी २ सेना ले कर दुर्योधन के पास आए ॥ १६ ॥ केकय देश के राजे पांच सगे भाई अक्षौहिणी सेना ले कर युधिष्ठिर के हर्ष को बढ़ाते हुए आए ॥ १७ ॥ इधर उधर से और भी राजाओं की तीन बड़ी और सेनाएं इकट्ठी हुईं ॥ १८ ॥ इस प्रकार सब मिल कर दुर्योधन की सेना ११ अक्षौहिणियें होगई ॥ १९ ॥

अ० ५ (श्लो० २०-२१) द्रुपद का पुरोहित कौरव सभा में

मूल—स च कौरव्य मासाद्य द्रुपदस्य पुरोहितः । सत्कृतो धृतराष्ट्रेण भीष्मेण विदुरेण च ॥ १ ॥ सर्वं कौशल्य मुक्त्वादौ पृष्ट्वा चैव मनामयम् । सर्वसेनाप्रणेतॄणां मध्ये वाक्य मुवाच ह ॥ २ ॥ सर्वैर्भवद्भिर्विदितो राजधर्मः सनातनः । वाक्योपादान हेतोस्तु वक्ष्यामि विदिते सति ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च सुता-वेकस्य विश्रुतौ । तयोः समानं द्रविणं पैतृकं नात्र संशयः ॥ ४ ॥ धृतराष्ट्रस्य ये पुत्राः प्राप्तं तैः पैतृकं वसु । पाण्डु पुत्राः कथं नाम न प्राप्ताः पैतृकं वसु ॥ ५ ॥ सभायां क्लेशितैर्वीरैः सह भार्यैस्तथा भृशम् । अरण्ये विविधाः क्लेशाः संप्राप्तास्तैः सुदारुणाः ॥ ६ ॥ तथा विराटनगरे योन्यन्तर गतैरिव । प्राप्तः परम संक्लेशो यथा पापैर्महात्मभिः ॥ ७ ॥ ते सर्वे पृष्ठतः कृत्वा तत्सर्वं पूर्वं किल्बिषम् । साम्नैव कुरुभिः सार्धं मिच्छन्ति कुरु पुंगवाः ॥ ८ ॥ न हि ते विग्रहं वीराः कुर्वन्ति कुरुभिः सह । अविनाशेन लोकस्य कांक्षन्ते पाण्डवाः स्वकम् ॥ ९ ॥ ते भवन्तो यथा धर्मं यथा समयमेव च । प्रयच्छन्तु प्रदातव्यं मावःका-लोऽत्यगादयम् ॥ १० ॥

अर्थ—इधर द्रुपद का पुरोहित धृतराष्ट्र के पास जा पहुंचा, धृतराष्ट्र भीष्म और विदुर ने उस का नत्कार किया ॥ १ ॥ वह उन सब का कुशल पूछ कर और अपना कुशल कह कर सब सेनापतियों के मध्य में यह वाक्य बोला ॥ २ ॥ सनातन राजधर्म आप सब को विदित है, विदित होने पर भी बात के आरम्भ करने के हेतु (वही) कहूंगा ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्र और पाण्डु एक पिता के पुत्र हैं, यह सब जानते हैं, इस में पिता का धन उन दोनों का सांझा है, इस में संशय नहीं ॥ ४ ॥ धृतराष्ट्र के जो पुत्र हैं, उन्होंने अपने पिता का धन लिया है, तब पाण्डु के पुत्रों को कैसे अपने पिता का धन न मिले ॥ ५ ॥ पहले सभा में द्रौपदी समेत उन वीरों को बहुत क्लेश मिला, फिर वन में उन्होंने अनेक दारुण क्लेश सहे ॥ ६ ॥ फिर विराट नगर में तो उन महात्माओं ने और योनियों में गए पापियों की तरह परम क्लेश भोगा ॥ ७ ॥ पर वह कुरुवर इस सारे पहले दोष को पीठ पीछे करके (=भूल कर) मेल ही कुरुओं के साथ चाहते हैं ॥ ८ ॥ वह वीर कुरुओं के साथ युद्ध नहीं चाहते, पाण्डव लोक का नाश नहीं चाहते, अपना स्वत्व चाहते हैं ॥ ९ ॥ सो आप धर्म के अनुसार समय पर उन का स्वत्व दे दीजिये, इस समय को अपने हाथ से न जाने दें ॥ १० ॥

मूल—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रज्ञावृद्धो महाद्युतिः । संपूज्यैनं यथाकालं भीष्मो वचन मब्रवीत् ॥ ११ ॥ दिष्ट्या कुशलिनः सर्वे सह दामोदरेण ते । दिष्ट्या सहायवन्तश्च दिष्ट्या धर्मे च ते रताः ॥ १२ ॥ दिष्ट्या च सन्धिकामास्ते भ्रातरः कुरुनन्दनाः । दिष्ट्या न युद्धमनसः पाण्डवाः सह बान्धवैः ॥ १३ ॥ भवता

सत्यमुक्तं तु सर्व मेतन्न संयशः । असंशयं क्लेशितास्ते वने चेह च पाण्डवाः ॥ १४ ॥ प्राप्ताश्च धर्मतः सर्व पितुर्धनमसंशयम् । किरीटी बलवान् पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः ॥ १५ ॥ भीष्मे ब्रुवति तद्वाक्यं धृष्टमाक्षिप्य मन्युना । दुर्योधनं समालोक्य कर्णो वचन मब्रवीत् ॥ १६ ॥ न तत्रा विदितं ब्रह्मन् लोके भूतेन केनचित्। पुनरुक्तेन किं तेन भाषितेन पुनः पुनः ॥ १७ ॥ दुर्योधनार्थे शकुनिर्द्यूते निर्जितवान् पुरा । समयेन गतोऽरण्यं पाण्डु पुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १८ ॥ स तं समय माश्रित्य राज्यं नेच्छति पैतृकम् । बलमाश्रित्य मत्स्यानां पांचालानां च मूर्खवत् ॥ १९ ॥ दुर्योधनो भयाद् विद्वन् न दद्यात्पादमन्ततः । धर्मतस्तु महीं कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेऽपि च ॥ २० ॥ यदि कांक्षन्ति ते राज्यं पितृ पैतामहं पुनः । यथा प्रतिज्ञं कालं तं चरन्तु वन माश्रिताः॥ २१ ॥ ततो दुर्योधनस्यांके वर्तन्तामकुतोभयाः । अधार्मिकीं तु मा बुद्धिं मौर्ख्यात् कुर्वन्तु केवलात् ॥ २२ ॥ अथ ते धर्म मुत्सृज्य युद्ध मिच्छन्ति पाण्डवाः । आसाद्येमान् कुरुश्रेष्ठान् स्मरिष्यन्ति वचो मम ॥ २३ ॥ भीष्म उवाच—किं नु राधेय वाचा ते कर्म तत् स्मर्तु मर्हसि ।एकएव यदा पार्थः षड्रथान् जितवान् युधि ॥२४॥ धृतराष्ट्रस्ततो भीष्म मनुमान्य प्रसाद्य च । अवभर्त्स्य च राधेय मिदं वचन मब्रवीत् ॥ २५ ॥ अस्मद्धितं वाक्यमिदं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् । पाण्डवानां हितं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ २६ ॥ चिन्तयित्वा तु पार्थेभ्यः प्रेषयिष्यामि संजयम् । स भवान् प्रतियात्वद्य पाण्डवानेव माचिरम् ॥ २७ ॥ स तं सत्कृत्य कौरव्यः प्रेषयामास पाण्डवान् । सभामध्ये समाहूय संजयं वाक्य मब्रवीत् ॥ २८ ॥

अर्थ—उस के वचन को सुन कर उसका आदर करके महा-वृद्ध महातेजस्वी भीष्म समयानुसार वाक्य बोले ॥ ११ ॥ हमारे भाग्य से पाण्डव कृष्ण सहित कुशल से हैं, भाग्य से साथियों वाले हैं भाग्य से धर्म में रत हैं ॥ १२ ॥ भाग्य से वह कुरुवंशी भ्राता मेल चाहते हैं, भाग्य से अपने भाइयों के साथ उन की युद्ध की इच्छा नहीं है ॥ १३ ॥ आप ने सब सत्य कहा है, इस में संशय नहीं, और इसमें भी संशय नहीं, कि पाण्डवों ने क्लेश सहे हैं, वन में भी और यहां भी ॥ १४ ॥ यह भी निःसंदेह है, कि धर्मानुसार उन को पिता का धन मिलना चाहिये, और निःसं-देह अर्जुन अस्त्रों में बड़ा निपुण है ॥ १५ ॥ भीष्म के ऐसा बचन कहते समय कर्ण क्रोध से झुंझलाकर दुर्योधन की ओर देखकर यह वचन बोला ॥ १६ ॥ हे ब्राह्मण तुमने जो कहा, वह जगत में किस पुरुष को विदित नहीं है, इस पुनरुक्त बात को बार २ कहने से क्या लाभ ? ॥ १७ ॥ दुर्योधन के अर्थ शकुनि ने युधिष्ठिर को जुए में जीता था, तब प्रतिज्ञानुसार पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर वन को गए थे ॥ १८ ॥ अब वह उस प्रतिज्ञा के सहारे पैतृक धन नहीं चाहते, मूर्ख की भांति मत्स्य और पांचालों के बल के सहारे चाहते हैं ॥ १९ ॥ दुर्योधन भय से तो हे ब्राह्मण एक पाद भूमि भी नहीं देगा, हां धर्मानुसार समस्त भूमि भी शत्रु को भी दे देगा ॥ २० ॥ यदि वह पिता पितामह के राज्य को फिर चाहते हैं, तो अपनी प्रतिज्ञानुसार उतना काल फिर वन में रहें ॥ २१ ॥ फिर दुर्योधन के आश्रित निर्भय हो कर राज्य करें, धर्मविरुद्ध बुद्धि निरी मूर्खता से न करें ॥ २२ ॥ और यदि पाण्डव धर्म छोड़ कर युद्ध चाहते हैं, तब इन कुरुवरों के निकट आकर मेरे

वचन को स्मरण करेंगे ॥ २३ ॥ भीष्म बोले, हे राधापुत्र तुम्हारे कहने का क्या फल, उस कर्म को स्मरण करो, जब कि अकेले अर्जुन ने युद्ध में छः रथों को जीत लिया था ॥ २४ ॥ तब धृतराष्ट्र भीष्म का आदर कर और प्रसन्न कर, और कर्ण को झिड़क कर, यह वचन बोले ॥ २५ ॥ भीष्म ने जो बात कही है, वह हमारे हित की, पाण्डवों के हित की और सारे जगत के हित की है ॥ २६ ॥ सो सोच विचार कर के मैं संजय को पाण्डवों के पास भेजूंगा । हे महान् ! आप अभी पाण्डवों के पास शीघ्र जावें ॥ २७ ॥ यह कह उस का आदर करके कुरु राजा ने उसे पाण्डवों के पास भेजा, और सभा में सञ्जय को बुला कर यह वाक्य बोला ॥ २८ ॥

अ०६ (उ०२२-२५) पाण्डवों के पास दूत का जाना और संदेश देना

मूल—प्राप्तानाहुः संजय पाण्डुपुत्रानुपप्लव्ये तान् विजानीहि गत्वा । अजातशत्रुं च सभाजयेथा दिष्ट्या नघस्थानमुपस्थितस्त्वम् ॥ १ ॥ सर्वान् वदेः संजय स्वस्तिमन्तः कृच्छ्रं वासमतद्‌र्हान् निरुष्य । तेषां शान्तिर्विद्यतेऽस्मासु शीघ्रं मिथ्यापेतानामुपकारिणां सताम् ॥ २ ॥ दोषं ह्येषां नाध्यगच्छं परीच्छन्नित्यं कंचिद् येन गर्हेय पार्थान् । धर्मार्थाभ्यां कर्म कुर्वन्ति नित्यं सुखप्रिये नानुरुध्यन्ति कामात् ॥ ३ ॥ धर्मं शीतं क्षुत्पिपासे तथैव निद्रां तन्द्रीं क्रोधहर्षौ प्रमादम् । धृत्या चैव प्रज्ञया चाभिभूय धर्मार्थयोगान् प्रयतन्ति पार्थाः ॥ ४ ॥ त्यजन्ति मित्रेषु धनानि काले न संवासाज्जीर्यति तेषु मैत्री । यथार्हमानार्थकरा हि पार्थाः तेषां द्वेष्टा नास्त्याजमीढस्य पक्षे ॥ ५ ॥ अन्यत्र पापाद्विषमान्मन्द-

बुद्धेर्दुर्योधनात् क्षुद्रतराच्च कर्णात् । तेषां हीमौ हीनसुखप्रियाणां महात्मनां संजनयतो हि तेजः ॥ ६ ॥ नाहं तथा ह्यर्जुनाद् वासुदेवाद् भीमाद्वाहं यमयोर्वा बिभेमि । यथा राज्ञः क्रोधदीप्तस्य सूत मन्योरहं भीततरः सदैव ॥ ७ ॥ महातपा ब्रह्मचर्येण युक्तः संकल्पोऽयं मानसस्तस्य सिध्येत् ॥ ८ ॥ तस्य क्रोधं संजयाहं समीक्ष्य स्थाने जानन् भृशमस्म्यद्य भीतः। स गच्छ शीघ्रं प्रहितो रथेन पांचालराजस्य चमूनिवेशनम् ॥ ९ ॥ समानीतान् पाण्डवान् सृंजयांश्च जनार्दनं युयुधानं विराटम् । अनामयं मद्वचनेन पृच्छेः सर्वांस्तथा द्रौपदेयांश्च पञ्च ॥ १० ॥ यद्यत्तत्र प्राप्तकालं परेभ्यस्त्वं मन्येथा भारतानां हितं च । तद्भाषेथाः संजय राजमध्ये न मूर्च्छयेद् यन्न च युद्धहेतुः ॥ ११ ॥

अर्थ—हे संजय ! कहते हैं, कि पाण्डव उपप्लव्य में आए हैं, उन के पास जाकर सारा समाचार जानो, युधिष्ठिर का समादर करके कहो, भाग्य से आप अच्छे स्थान पर रहे हैं॥१॥ उन सब को कहो हे संजय हम कुशल से हैं, वह जिस के योग्य न थे, ऐसा दुःखवास पूरा कर चुके हैं, अब शीघ्र उन का हम से मेल होना चाहिये, जो कि झूठ से अलग रहने वाले, परोपकारी सत्पुरुष हैं ॥ २ ॥ ढूंढे भी उन का मैं कोई दोष नहीं देखता हूं, जिस से कि मैं पाण्डवों को बुरा कहूं, वे सदा धर्म और अर्थ के अनुसार काम करते हैं,काम के वश हो सुख और प्रिय के पीछे नहीं दौड़ते ॥ ३ ॥ गर्मी सर्दी भूख प्यास निद्रा तन्द्रा हर्ष क्रोध और प्रमाद को धीरज और प्रज्ञा से दबा कर पाण्डव सदा धर्म अर्थ के उपायों को करते हैं ॥ ४ ॥ समय पर मित्रों को धन देते हैं, साथ रहने से उन की मित्रता पुरानी नहीं

होती, पाण्डव यथायोग्य मान और धन के देने वाले हैं, कौरवों के अन्दर कोई उन का द्वेषी नहीं है ॥ ५ ॥ सिवाय इस नीच पक्षपाती मन्दबुद्धि दुर्योधन और क्षुद्र तर कर्ण के, यही दोनों सुख और प्रिय से हीन हुए उन महात्माओं के क्रोध को बढ़ाते हैं ॥ ६ ॥ हे सूत मैं न वैसा अर्जुन से, न कृष्ण से, न भीम से, न नकुल सहदेव से डरता हूं, जैसे क्रोध से प्रदीप्त हुए युधिष्ठिर के क्रोध से डरता हूं ॥ ७ ॥ वह बड़ा तपस्वी ब्रह्मचर्य से युक्त है, उस के मन का संकल्प पूरा होगा ॥ ८ ॥ उस के क्रोध को ठीक जानता हुआ हे संजय बड़ा भयभीत हो रहा हूं। सो आप शीघ्र रथ पर चढ़ कर द्रुपद के सेनानिवेश में जाओ ॥ ९ ॥ इकट्ठे बैठे पाण्डव संजय कृष्ण सात्यकि विराट और द्रौपदी के पांचों पुत्रों को मेरे वचन से कुशल पूछो ॥ १० ॥ इस के अनन्तर हे संजय जो २ तुम उन के लिये और सारे भरतवंशियों का हित समझो, वह सब राजाओं के मध्य में कहो, जिस से कि युद्ध का हेतु न बढ़े ॥ ११ ॥

मूल—राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रस्य संजयः। उपप्लव्यं ययौ द्रष्टुं पाण्डवानमितौजसः ॥ १२ ॥ स तु राजान मासाद्य कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्। अभिवाद्य ततः पूर्वं सूतपुत्रोऽभ्यभाषत ॥ १३ ॥ दिष्ट्या राजंस्त्वामरोगं प्रपश्ये सहायवन्तं च महेन्द्रकल्पम्। अनामयं पृच्छति त्वाम्बिकेयो वृद्धो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी ॥ १४ ॥ शमं राजा धृतराष्ट्रोऽभिनन्दन्नयोजयत् त्वरमाणो रथं मे। स भ्रातृपुत्रस्वजनस्य राज्ञस्तद्रोचतां पाण्डवानां शमोऽस्तु ॥ १५ ॥ सर्वैर्धर्मैः समुपेतास्तु पार्थाः संस्थानेन मार्दवेनार्जवेन। जाताः कुलेष्वनृशंसा वदान्या ह्रीनिषेवाः कर्मणां निश्चयज्ञाः ॥ १६ ॥

कोऽत्र युष्मान् सह केशवेन सचेकितानान् पार्षताहु गुप्तान् । ससात्यकीन् विषहेत प्रजेतुं लब्ध्वापि देवान् सचिवान् सहेन्द्रान् ॥ १७ ॥ को वा कुरून् द्रोणभीष्माभिगुप्तानश्वथाम्ना शल्य कृपादिभिश्च । रणे विजेतुं विषहेत राजन् राधेय गुप्तान् सह भूमिपालैः ॥ १८ ॥ महद्‌बलं धार्तराष्ट्रस्य राज्ञः को वै शक्तो हन्तुमक्षीयमाणः । सोऽहंजये चैव पराजये च निःश्रेयसं नाधि गच्छामि किञ्चित् ॥ १९ ॥ सोऽहं प्रसाद्य प्रणतो वासुदेवं पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धम् । कृताञ्जलिः शरणं वः प्रपद्ये कथं स्वस्ति स्यात् कुरु संजयानाम् ॥ २० ॥

अर्थ—राजा धृतराष्ट्र के बचन को सुन कर संजय महाबली पाण्डवों के देखने के लिये उपप्लव्य में गए ॥ १२ ॥ युधिष्ठिर के पास पहुंच, पहले अभिवादन कर कहने लगे ॥ १३ ॥ भाग्य से आप को हे राजन् ! अरोग, साथियों वाला और इन्द्र तुल्य देखता हूं । आम्बिका पुत्र वृद्ध राजा धृतराष्ट्र आप का कुशल पूछते हैं ॥१४॥ राजा धृतराष्ट्र ने आपस की शान्ति को पसन्द करते हुए मुझे शीघ्र रथ पर भेजा है, भाई पुत्र और स्वजनों समेत राजा की यह बात पाण्डवों को पसंद आवे, सब शान्ति हो ॥ १५ ॥ पाण्डव सब गुणों से युक्त हैं, आकृति, कोमलता, सरलता से युक्त हैं, कुलीन हैं, अक्रूर हैं, दानी हैं, ह्री वाले हैं, और कर्मों के निश्चय पर पहुंचने वाले हैं ॥ १६ ॥ कौन ऐसा है, जो कृष्ण चेकितान और सात्यकि से युक्त, द्रुपद की भुजाओं से रक्षित आप को जीत सके, चाहे इन्द्रसमेत देवता भी उस के साथी हों ॥ १७ ॥ और कौन ऐसा है, जो द्रोण भीष्म, कर्ण अश्वत्थामा, शल्य और कृप आदि से रक्षित और बहुत से राजा-

ओं से युक्त कुरुओं को रण में जीत ले ॥ १८ ॥ राजा दुर्योधन की बड़ी भारी सेना को कौन ऐसा है जो स्वयं क्षीण न हो कर जीतले, इस लिये मैं जीत में भी और हार में भी कोई भलाई नहीं देखता हूं ॥ १९ ॥ सो आप सब को प्रसन्न करके, श्री कृष्ण और पांचालों के अधिपति को प्रणाम करता हूं, मैं हाथ जोड़ कर आप सब की शरण में हूं, वह काम करो, जिस से कुरु और सृंजयों (=पांचालों) की भलाई हो* ॥ २० ॥

अ०७(व० २६-२९) संजय युधिष्ठिर कृष्ण संवाद

मूल—युधिष्ठिर उवाच—कां नु वाचं संजय मेशृणोषि युद्धैषिणीं येन युद्धाद् बिभेषि । अयुद्धं वै तात युद्धाद् गरीयः कस्तल्लब्ध्वा जातु युध्येत सूत ॥ १ ॥ अनाप्तवचाप्ततमस्यवाचः सुयोधनो विदुरस्यावमत्य । सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी संबुध्यमानो विशतेऽधर्म मेव ॥ २ ॥ चक्षुर्यदा नान्ववर्तन्त बुद्धिं कृच्छ्रं कुरून् सूत तदाभ्याजगाम । सोहं न पश्यामि परीक्षमाणः कथं स्वस्ति स्याद कुरुसृंजयानाम् ॥ ३ ॥ आशंसते वै धृतराष्ट्रः स पुत्रो माहाराज्य मसपत्नं पृथिव्याम् । तस्मिन् शमः केवलं नोपलभ्यः सर्वं स्वकं मदूगतं मन्यतेऽर्थम् ॥ ४ ॥ जानासि त्वं क्लेश मस्मासु वृत्तं त्वां पूजयन् संजयाहं क्षमेयम् । यच्चास्माकं कौरवैर्भूत पूर्वं या नो वृत्तिर्धार्तराष्ट्रे तदासीत ॥ ५॥ अद्यापि तत तत्र तथैव वर्तता शान्तिं गमिष्यामि यथा त्वमात्थ । इन्द्रप्रस्थे भवतु ममैव राज्यं सुयोधनो यच्छतु भारताग्रयः ॥ ६ ॥

---

* उस समय कुरु और पाञ्चाल यह दो क्षत्रिय जातियां बड़ी प्रबल थीं, इन की आपस में स्पर्धा भी बड़ी थी, इन्हीं का अब सामना होने वाला था, इस लिये संजय ने इस युद्ध में बड़ा भय दिखलाया है ।

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे संजय ! मेरी कौन बात तुम युद्ध की ओर झुकी हुई देखते हो, जिस से तुम युद्ध से डरते हो, हे तात अयुद्ध युद्ध से उत्तम है, कौन उसे लाभ कर युद्ध करेगा ॥ १ ॥ आप्ततम भी विदुर के वचन का सुयोधन ने अनाप्त की भांति अपमान किया, राजा धृतराष्ट्र पुत्र का प्रिय चाहता हुआ जान बूझ कर भी अधर्म में घुसता है ॥ २ ॥ हे सूत कौरवों के सामने उसी समय विपद् आगई, जब वह विदुर की बुद्धि के अनुसार न चले, सो मैं विचारता हुआ नहीं देखता हूं, कि कैसे कुरु और संजयों का कल्याण हो ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्र और उस का पुत्र पृथिवी में असपत्न राज्य चाहते हैं, ऐसी अवस्था में निरी शान्ति कैसे मिल जाए, मेरे (वन) जाने पर वह सब कुछ अपना ही समझते हैं ॥ ४ ॥ आप जानते हैं, जो हमने क्लेश भोगा है, पर हे संजय ! मैं आप का आदर करता हुआ उसे भूलता हूं । जो हमारा पहले कौरवों के साथ वर्ताव था, और जो उस समय दुर्योधन से वर्ताव था ॥ ५ ॥ अब भी वह उन के साथ वैसा ही हो, मैं शान्त रहूंगा जैसे आप कहते हैं। इन्द्रप्रस्थ में मेरा ही राज्य रहे, सुयोधन भरतवंशियों का मुखिया होकर शासन करे* ॥ ६ ॥

मूल—संजय उवाच—धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ । महास्रावं जीवितं चाप्यनित्यं संपश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः ॥ ७ ॥ न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धा-

---

* भरतवंशी हस्तिनापुर में थे, सो हस्तिनापुर का राजा दुर्योधन रहे, यह अभिप्राय है । अर्थात् कुरुओं का राजा वही माना जाए, हमें अपना कमाया राज्य ही मिल जाए ।

त्मयच्छेरंस्तुभ्य मजातशत्रो । भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥ ८ ॥ अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि यशोमुषं पापफलोदयं वा । सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ ९ ॥ पापानुबन्धं को नु तं कामयेत क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः। यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्या-द्यत्र द्रोणः सह पुत्रो हतः स्यात् ॥ १० ॥

अर्थ—संजय बोले—हे पाण्डव ! आप के सारे काम धर्म-प्रधान होते हैं, यह लोक में प्रसिद्ध है, और देखने में भी आता है । बड़े यश वाले अपने जीवन की अनित्यता को देख, हे पाण्डव प्रजा का नाश मत कर ॥ ७ ॥ हे पाण्डव यदि कौरव युद्ध के सिवाय आप को हिस्सा न दें, तो यादवों के राज्य में भैक्षचर्या (यादवों के दिये पर निर्वाह)अच्छा है, न कि युद्ध से राज्य ॥ ८ ॥ हे महाराज ! यह क्रोध जो बिन रोग उत्पन्न होता है, कड़वा है, सिर पीड़ा देने वाला, यश का नाशक, बुरे फल उत्पन्न करने वाला है, जिस को सज्जन पी जाते हैं, दुर्जन नहीं, उस को आप पी कर शान्त होवें ॥ ९ ॥ पाप फल वाले क्रोध को कौन कामना करे, आप को क्षमा ही उत्तम है, भोग नहीं, जिस में कि भीष्म पितामह मारे जाएं, और पुत्र समेत द्रोणाचार्य मारे जाएं ॥ ॥ १०॥

मूल—असंशयं संजय सत्यमेतद्धर्मो वरः कर्मणां यत्त्वमात्थ । ज्ञात्वा तु मां सञ्जय गर्हयेस्त्वं यदि धर्मं यद्यधर्मं चरेयम् ॥ ११ ॥ यत्राऽधर्मो धर्मरूपाणि धत्ते धर्मः कृत्स्नो दृश्यतेऽधर्मरूपः । बिभ्रद्धर्मो धर्मरूपं तथा च विद्वांसस्तं संप्रपश्यन्ति बुद्ध्या ॥ १२ ॥ यदिहाहं विसृजन् साम गर्हो नियुद्धयमानो यदि

जहां स्वधर्मम् । महायशाः केशवस्तद् ब्रवीतु वासुदेवस्तूभयोरर्थकामः ॥ १३ ॥

अर्थ—हे संजय ! जो आप कहते हैं, कि कर्मों में धर्म उत्तम है, यह निःसंदेह सत्य है, किन्तु जान कर के पीछे हे संजय मेरी तू निन्दा कर, कि मैं धर्म करता हूं, वा अधर्म ॥ ११ ॥ जहां अधर्म धर्म के रूप धारता है, और धर्म अधर्म रूप दीखता है, तथा धर्म धर्मरूप धारता है, विद्वान् उस सब को बुद्धि से देखते हैं ॥ १२ ॥ यदि मैं मेल का त्याग कर निन्दनीय बनता हूं, और युद्ध करता हुआ अपने धर्म को त्यागता हूं, तो यह महायशी कृष्ण कहे, जो दोनों का हितैषी है ॥ १३ ॥

मूल—अविनाशं संजय पाण्डवाना मिच्छाम्यहं भूतिमेषां प्रियं च । तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत समाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम् ॥ १४ ॥ यदा गृध्येत् परभूतौ नृशंसो विधिप्रकोपाद् बलमाददानः । ततो राज्ञा मभवद् युद्ध मेतत् तत्र जातं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥ १५ ॥ तत्र राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो धर्म्यं हरेत् पाण्डवानामकस्मात् । नावेक्षन्ते राजधर्मं पुराणं तदन्वयाः कुरवः सर्व एव ॥ १६ ॥ स्तेनो हरेद् यत्र धनं ह्यदृष्टः प्रसह्य वा यत्र हरेत दृष्टः । उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ किं वै पृथक्त्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्रे ॥ १७ ॥ सोऽयं लोभान्मन्यते धर्ममेतं यमिच्छति क्रोध वशानुगामी । भागः पुनः पाण्डवानां निविष्टस्तं नः कस्मादाददीरन् परे वै ॥ १८ ॥ अस्मिन् पदे युध्यतां नो वधोपि श्लाघ्यः पैत्र्यं परराज्याद् विशिष्टम् । एतान् धर्मान् कौरवाणां पुराणानाचक्षीथाः संजय राज मध्ये ॥ १९ ॥ जानासि त्वं संजय सर्वमेतत् द्यूते वाक्यं गर्ह्यमेवं यथोक्तम् । स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गन्तुं समा-

धातुं कार्यं मेतद् विपन्नम् ॥ २० ॥ अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं शमं कुरूणामपि चेच्छकेयम् । पुण्यं च मे स्याच्चरितं महोदर्थं मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ २१ ॥ अपि मे वाचं भाषमाणस्य काव्यां धर्मारामामर्थवती महिंस्राम । अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः समक्षं मां च मासं कुरवः पूजयेयुः ॥ २२ ॥ वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो व्याघ्रास्ते वै संजय पाण्डुपुत्राः । मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं मा व्याघ्रा अनीनशन् वनात् ॥ २३ ॥ स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धु मारिन्दमाः । यत् कृत्यं धृतराष्ट्रस्य तत् करोतु नराधिपः ॥ २४ ॥ स्थिताः शमे महात्मानः पाण्डवा धर्मचारिणः । योधाः समर्थास्तद् विद्वन्नाचक्षीथा यथातथम् ॥ २५ ॥

अर्थ—श्रीकृष्ण बोले—हे संजय ! मैं पाण्डवों का ऐश्वर्य और प्रिय चाहता हूं, उन का नाश कभी नहीं चाहता, ऐसे ही राजा धृतराष्ट्र और उस के पुत्रों की भी वृद्धि चाहता हूं ॥ १४ ॥ जब किसी ने बल पकड़ कर दूसरे के ऐश्वर्य को दबाना चाहा, तब राजाओं में युद्ध आया, और कवच शस्त्र और धनुष उत्पन्न हुए ॥ १५ ॥ ऐसी अवस्था में राजा धृतराष्ट्र और उस के पुत्र पाण्डवों का स्वत्व क्यों छीनें, वह सनातन राजधर्म की परवाह नहीं करते हैं, और सभी कौरव उन के अनुसार चल रहे हैं ॥ १६ ॥ जहां चोर छिप कर धन चुराले, वा सामने बल से छीन कर ले जाए, वह दोनों निन्दनीय होते हैं, धृतराष्ट्र के पुत्र में इस से क्या भेद है ॥ १७ ॥ वह क्रोध और लोभ के वश हुआ इस को धर्म समझता है, जो पाण्डवों का भाग है, उस को दूसरे क्यों लेवें ॥ १८ ॥ ऐसे अवसर पर तो युद्ध करते हुए हमें मरना भी सराहनीय है, पिता का राज्य

दूसरे के राज्य से बढ़ कर है, हे संजय ! कौरवों के यह सनातन धर्म राजाओं के मध्य में कहने ॥ १९ ॥ हे संजय तुम यह सब जानते हो, जुए में जैसे कि निन्दनीय वाक्य कहे गए, किन्तु मैं स्वयं वहां जाना चाहता हूं, और इस बिगड़े काम को संवारना चाहता हूं ॥ २० ॥ यदि मैं पाण्डवों के स्वत्व को हानि पहुंचाए बिना कौरवों की शान्ति कर सकूं, तो मेरा यह काम पुण्य और महाफल वाला हो, कौरव मृत्यु की फांस से छूटें ॥ २१ ॥ परमात्मा करे, कि मेरे कहे धर्म से युक्त, फलवाले, नीति वचन को धृतराष्ट्र के पुत्र आदर से देखें, और पास गए का कौरव मान रक्खें ॥ २२ ॥ पुत्रों समेत राजा धृतराष्ट्र वन हैं, पाण्डु पुत्र शेर हैं, मत वन का छेदन करो शेरों समेत, मत शेर वन से नष्ट हों ॥ २३ ॥ पाण्डव सेवन करने के लिये तय्यार हैं, युद्ध के लिये भी तय्यार हैं, आगे जो धृतराष्ट्र का काम है, वह स्वयं करे ॥ २४ ॥ धर्म पर चलने वाले महात्मा पाण्डव शान्ति के लिये तय्यार खड़े हैं, योधा और समर्थ हैं, हे विद्वन् ! ठीक२जा कर कहो ॥ २५ ॥

अ०८(व०३०-३२) संजय का प्रतिसंदेश ले कर हस्तिनापुरगमन

मूल—युधिष्ठिर उवाच—नहीदृशाः सन्त्यपरे पृथिव्यां ये योधका धार्तराष्ट्रेण लब्धाः । धर्मस्तु नित्यो मम धर्म एव महाबलः शत्रुनिबर्हणाय ॥ १ ॥ उत सन्त मसन्तं वा बालं वृद्धं च संजय । उतावलं बलीयांसं धाता प्रकुरुते वशे ॥ २ ॥ उत बालाय पाण्डित्यं पण्डितायोत बालताम् । ददाति सर्व मीशानः पुरस्ताच्छुक्र मुच्चरन् ॥ ३ ॥ गावल्गणे कुरून् गत्वा धृतराष्ट्रं

महाबलम् । अभिवाद्योप संगृह्य ततः पृच्छे रनामयम् ॥ ४ ॥ ब्रूयाश्चैनं त्वमासीनं कुरुभिः परिवारितम् । तवैव राजन् वीर्येण सुखं जीवन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥ तव प्रसादाद् बालास्ते प्राप्ता राज्य मरिन्दम । राज्ये तान् स्थापयित्वाग्रे नोपेक्षस्व विनश्यतः ॥ ६ ॥ सर्व मप्येतदेकस्य संजय नालं कस्यचित् । तात संहत्य जीवामो द्विषतां मा वशं गमः ॥ ७ ॥ अभिवाद्य च वक्तव्यस्ततोऽस्माकं पितामहः । भवता शान्तनोर्वंशो निमग्नः पुनरुद्धृतः ॥ ८ ॥ सत्वं कुरु तथा तात स्वमतेन पितामह । यथा जीवन्ति ते पौत्राः प्रीतिमन्तः परस्परम् ॥ ९ ॥ तथैव विदुरं ब्रूयाः कुरूणां मन्त्र धारिणम् । अयुद्धं सौम्य भाषस्व हितकामो युधिष्ठिरे ।१०।

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—निःसंदेह पृथिवी पर ऐसे और योधे नहीं हैं, जैसे धृतराष्ट्र के पुत्र को मिले हैं, किन्तु धर्म मुख्य है, वह महाबली धर्म ही शत्रुओं के नाश के लिये मेरी ओर है ॥ १ ॥ हे सञ्जय ! भले बुरे बाल वृद्ध बलहीन बलवान् सब को ईश्वर अपने वश में रखता है ॥ २ ॥ वह सब पर ईशान करने वाला सब के सामने प्रकाशता हुआ बालक को पण्डिताई और चतुर को मूर्खता देता है ॥ ३ ॥ हे गावल्गण के पुत्र महाबली धृतराष्ट्र के पास जा कर, उस के चरण पकड़ कर मेरा अभिवादन कर के पीछे कुशल पूछना ॥ ४ ॥ और कुरुओं के मध्य में बैठे उस को कहना, आप के ही बल से हे राजन् पाण्डव सुख से जीते हैं ॥ ५ ॥ हे शत्रुओं के दमन करने वाले ! आप के ही बल से वह राज्य को प्राप्त हुए हैं, पहले उन को राज्य पर स्थापन कर के अब उन के नाश को मत देखो ॥ ६ ॥ हे संजय ! यह सब कुछ भी किसी एक के लिये

भी पर्याप्त नहीं है, हे तात हम मिल कर जियें, मत शत्रुओं के वश में पड़ो ॥ ७ ॥ तिस पीछे हमारे पितामह (भीष्म) को अभिवादन कर के कहना, आपने डूबते हुए शान्तनु के वंश का फिर उद्धार किया है ॥ ८ ॥ सो आप हे पितामह अपने मत से ऐसा करो, जिस से आप के पोते परस्पर प्रीति वाले हो कर जीते रहें ॥ ९ ॥ और कुरुओं के मन्त्री विदुर से कहना, हे तात सन्धि की बात ही कहिये, आप युधिष्ठिर के हितैषी हैं।१०।

मूल—अथ दुर्योधनं ब्रूया राजपुत्र ममर्षणम् । मध्ये कुरूणा मासीन मनुनीय पुनः पुनः ॥ ११ ॥ अपापां यदुपेक्षस्त्वं कृष्णामेतां सभागताम् । तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरू-निति ॥ १२ ॥ एवं पूर्वा परान् क्लेशानतितिक्षन्त पाण्डवाः । बलीयांसोपि सन्तो यत् तत्सर्वं कुरवो विदुः ॥ १३ ॥ यन्न मा-व्राजयः सौम्य अजिनैः प्रतिवासितान् । तद् दुःख मति तिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ॥ १४ ॥ यत् कुन्तीं समतिक्रम्य कृष्णां केशेष्व धर्षयत् । दुःशासनस्तेऽनुमते तच्चास्माभिरु पेक्षितम्॥१५॥ अथोचितं स्वकं भागं लभेमहि परन्तप । निवर्तय पर द्रव्याद् बुद्धिं गृद्धां नरर्षभ ॥ १६ ॥ शान्तिरेवं भवेद्राजन् प्रीतिश्चैव परस्परम् । राज्यैकदेशमपि नः प्रयच्छ शममिच्छताम् ॥ १७ ॥ अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम् । अवसानं भवत्वत्र किञ्चिदेकं च पञ्चमम् ॥ १८ ॥ भ्रातॄणां देहि पञ्चानां पञ्च-ग्रामान् सुयोधन । शान्तिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ ज्ञातिभिः सह सञ्जय ॥ १९ ॥ भ्राता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम् । स्मय-मानाः समायान्तु पाञ्चालाः कुरुभिः सह ॥ २० ॥ अक्षतान्

कुरुपाञ्चालान् पश्येयमिति कामये ॥ २१ ॥ अलमेवशमायास्मि तथा युद्धाय संजय । धर्मार्थयोरलं चाहं मृदवे दारुणाय च॥२२॥

अर्थ—इस से पीछे कुरुओं के मध्य में बैठे क्रोधी दुर्योधन को बार २ नर्म करके कहना ॥ ११ ॥ कि सभा में आई निरपराध इस द्रौपदी को जैसा तुमने ध्यान किया (दासी समझा) वह दुःख हमने सह लिया, अब हम तुम कुरुओं का नाश न करें ॥ १२ ॥ इस प्रकार अगले पिछले सारे क्लेश बल रखते हुए भी पाण्डवों ने जो सह लिये हैं, वह सब कौरव जानते ही हैं ॥ १३ ॥ हे सौम्य ! हरिण के मृगान पहनाकर जो तुम ने हमें निकाला, वह दुःख हमने सह लिया, अब हम तुम कुरुओं का नाश न करें ॥ १४ ॥ जो कुन्ती की परवाह न कर दुःशासन ने तेरी अनुमति में द्रौपदी के बाल खींचे, वह भी हमने क्षमा किया ॥ १५ ॥ हे शत्रुनाशन हम अपने उचित भाग को पाएं, हे नरवर पराए धन से तृष्णा बुद्धि को हटा ॥ १६ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार शान्ति होगी, और आपस में प्रीति होगी, हम शान्ति चाहते हैं, राज्य का एक भाग ही हमें देदो ॥ १७ ॥ अथवा हम पांचों भाइयों को पांच ही गाओं दे दो—अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत, और पांचवां कोई एक । हे महाप्राज्ञ संजय ! ज्ञातियों के साथ हमारी शान्ति बनी रहे॥१९॥ भाई भाई का साथी बने, पिता पुत्र के साथ मिले, और हंसते हुए पाञ्चाल कुरुओं के साथ मिलें ॥ २० ॥ कुरुओं और पाञ्चालों को अक्षत देखूं, यही मेरी कामना है ॥ २१ ॥ हे संजय ! मैं शान्ति के लिये पूरा तय्यार हूं, और युद्ध के लिये

भी, मैं धर्म और अर्थ में समर्थ हूं, मृदु के लिये भी और दारुण के लिये भी ॥ २२ ॥

मूल—अनुज्ञातः पाण्डवेन प्रययौ संजयस्तदा । शासनं धृतराष्ट्रस्य सर्वं कृत्वा महात्मनः ॥ २३ ॥ संप्राप्य हास्तिनपुरं शीघ्रमेव प्रविश्य च । अन्तःपुरं समास्थाय द्वाःस्थं वचन मब्रवीत् ॥ २४ ॥ आचक्ष्व धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां समुपागतम् ॥ २५ ॥ द्वाःस्थ उवाच—संजयोऽयं भूमिपते नमस्ते दिदृक्षया द्वार मुपागतस्ते । धृतराष्ट्र उवाच—आचक्ष्व मां कुशलिनं कल्पपस्मै प्रवेश्यतां स्वागतं संजयाय ॥ २६ ॥ ततः प्रविश्यानुमते नृपस्य महद्वेश्म प्राज्ञशूरार्यगुप्तान् । सिंहासनस्थं पार्थिव माससाद वैचित्रवीर्यं प्राञ्जलिः सूतपुत्रः ॥ २७ ॥ संजय उवाच—अभिवाद्य त्वां पाण्डुपुत्रो मनस्वी युधिष्ठिरः कुशलं चान्वपृच्छत् । स ते पुत्रान् पृच्छति प्रीयमाणः कच्चित् पुत्रैः प्रीयसे नप्तृभिश्च॥ २८ ॥ सहामात्यः कुशली पाण्डुपुत्रो बुभूषते यच्च तेऽग्रेऽऽत्मनो भूत् । निर्णिक्तधर्मार्थकरो मनस्वी बहु श्रुतो दृष्टिमान् शीलवांश्च ॥२९ ॥ सत्वां गर्हे भारतानां विरोधादन्तो नूनं भविताऽयं प्रजानाम् । नोचेदिदं तव कर्मापराधात् कुरून् दहेत् कृष्णवर्त्मेव कक्षम् ॥ ३० ॥ अनुज्ञातो रथवेगावधूतः श्रान्तोऽभिपद्ये शयनं नृसिंह । प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया मजात शत्रोर्वचनं समेताः॥ ३१ ॥ धृतराष्ट्र उवाच—अनुज्ञातोऽस्यवसथं परेहि प्रपद्यस्व शयनं सूतपुत्र ॥ ३२ ॥

अर्थ संजय महात्मा धृतराष्ट्र की आज्ञा को पूरा कर के और युधिष्ठिर से अनुज्ञा ले कर चले ॥ २३ ॥ हस्तिनापुर में

पहुंच कर, शीघ्र ही उस में प्रवेश कर के, अन्तःपुर में जा द्वार-पाल से बोले ॥ २४ ॥ हे द्वारपाल धृतराष्ट्र को मेरा आना बतलाइये ॥ २५ ॥ द्वारपाल बोला—हे भूमिपते ! आप को नमस्कार हो, संजय आप के दर्शन के लिये आया है। धृतराष्ट्र बोले–संजय को कहो, मैं अरोग और सकुशल हूं, और उसे आदर से भीतर ले आओ ॥ २६ ॥ तब महाराज की अनु-मति में प्राज्ञ शूर और आर्यों से रक्षित विशाल भवन के भीतर जा कर संजय हाथ जोड़ सिंहासन पर राजा के निकट गया ॥ २७ ॥ संजय बोला–आप को प्रणाम कर के मनस्वी युधि-ष्ठिर ने कुशल पूछा है, और प्रसन्न हो वह आप के पुत्रों का कुशल पूछते हैं, आप पुत्र पोतों के साथ आनन्द से रहते हैं ॥ २८ ॥ युधिष्ठिर मन्त्रियों सहित कुशल से हैं, वह जो कुछ उस का पहले था, उसे पाना चाहता है, वह शुद्ध (लाग लपेट से रहित) धर्म अर्थ का उपार्जन करने वाला, उदार हृदय, बहु-श्रुत, आंख वाला और शील वाला है ॥ २९ ॥ अतएव मैं आप को बुरा बनाता हूं, महाराज भारतों के विरोध से निःसंदेह प्रजा-ओं का नाश होगा, यह काम (उन को उन का अपना भाग देदेने का) न हुआ, तो आप के अपराध से जैसे अग्नि घास को दग्ध करता है, इस प्रकार अर्जुन कौरवों को दग्ध करेगा ॥ ३० ॥ हे नृसिंह ! आज तो रथ के वेग से चूर हुआ, थका हुआ हूं, मुझे अनुज्ञा हो, मैं आराम करूं, प्रातःकाल सब कौरव मिल कर युधिष्ठिर के वचन को सुनेंगे ॥ ३१ ॥ धृतराष्ट्र बोले–हे सूतपुत्र ! आप को अनुज्ञा है, घर जा कर आराम करें ॥ ३२ ॥

अ० ९ (व० ३३) विदुर नीति

मूल—द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः । विदुरं द्रष्टु मिच्छामि तमिहानय माचिरम् ॥ १ ॥ ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्र निवेशनम् । अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम् ॥ २ ॥ विदुरोऽहं महाप्राज्ञ संप्राप्तस्तव शासनात् । यदि किञ्चन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम् ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच—संजयो विदुर प्राप्तो गर्हयित्वा च मां गतः। अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥ ४ ॥ तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया । तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत् प्रजागरम् ॥ ५ ॥ जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनु पश्यसि । तद्ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थ कुशलो ह्यसि ॥ ६ ॥

अर्थ—महा बुद्धिमान् भूपति धृतराष्ट्र द्वारपाल से बोले, मैं विदुर को देखना चाहता हूं, उसे यहां ले आओ, देर न हो॥१॥ पीछे विदुर धृतराष्ट्र के भवन के भीतर जा कर हाथ जोड़ सोच में पड़े राजा से बोले ॥ २ ॥ हे बड़ी बुद्धि वाले ! मैं विदुर आप की आज्ञा से आया हूं, यदि कोई काम है, तो मैं उपस्थित हूं, आज्ञा दीजिये ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्र बोले हे विदुर ! संजय (पाण्डवों के पास से) आया है, वह मेरी निन्दा कर के (अभी अपने घर) गया है, कल वह सभा के मध्य में युधिष्ठिर के वचन कहेगा ॥ ४ ॥ उस कुरुवीर (युधिष्ठिर) का वचन मैंने अभी नहीं जाना, वह मेरे अंगों को जला रहा है, इस से नींद नहीं आई ॥ ५ ॥ जागते हुए दग्ध होते हुए का जो कल्याण देखते हो, वह कहो, हे तात ! तुम हम में धर्म अर्थ में कुशल हो ॥ ६ ॥

मूल—विदुर उवाच—अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम। हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ॥ ७ ॥ दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा। एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ८ ॥ आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता। यमार्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ ९ ॥ निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते। अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डित लक्षणम् ॥ १० ॥ क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीःस्तम्भो मान्यमानिता। यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ ११ ॥ यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः। समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ १२ ॥ नाप्राप्य मभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम। आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डित बुद्धयः ॥ १३ ॥ निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः। अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—विदुर बोले—जो बलवान् (शत्रु) से दबाया गया है, (स्वयं) दुर्बल है, और पास पूरे साधन नहीं, एक उस को, दूसरा, जिस का धन लुट गया है उस को, तीसरा, कामी को और चौथा चोर को नींद नहीं आती ॥ ७ ॥ आप दुर्योधन शकुनि कर्ण और दुःशासन को करण कारण बना कर किस तरह ऐश्वर्य चाहते हैं ॥ ८ ॥ आत्मज्ञान, कार्यों का आरम्भ, सहनशीलता और धर्मप्रधानता यह जिस को अर्थ से परे नहीं हटाते, वह पण्डित कहलाता है (अर्थात् इन का मर्यादा में रहना लौकिक ऐश्वर्य का साधक है, मर्यादा से लंघ जाना बाधक है) ॥ ९ ॥ उत्तम कर्मों का सेवन करे, नीच कर्मों का सेवन न करे, नास्तिक न हो, श्रद्धावान् हो, यह पण्डित का लक्षण है ॥ १० ॥

क्रोध, हर्ष, अभिमान, लज्जा, अकड़, अपने आप को माननीय मानना, यह जिस को अर्थ से परे नहीं हटाते, वह पण्डित कहलाता है ॥ ११ ॥ जिस के काम को सर्दी गर्मी डर प्रेम अमीरी गरीबी रोक नहीं सकते हैं, वह पण्डित कहाता है ॥ १२ ॥ जो पुरुष प्राप्त न होने योग्य वस्तु की इच्छा नहीं करते, खोई गई का शोक नहीं करते, और विपदा में घबराते नहीं हैं, वही पण्डितों की समझ वाले हैं ॥ १३ ॥ जो निश्चय करके आरम्भ करता है, और समाप्त किये विना छोड़ता नहीं, जिस का समय निष्फल नहीं जाता, और मन वस में है, वही पण्डित कहलाता है ॥ १४ ॥

मूल—अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः । अर्थांश्चा कर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ १५ ॥ स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनु तिष्ठति । मिथ्याचरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥ १६ ॥ अकामान् कामयति यः कामयानान् परित्यजेत् । बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढ चेतसम् ॥ १७ ॥ अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते । अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥१८॥ परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा । यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥ १९ ॥

अर्थ—जो विद्या से कोरा होकर अभिमान में चूर, कंगाल होकर बड़े २ मनोरथों वाला, और बिना कर्म वस्तुओं को पाने की इच्छा वाला है, उस को बुद्धिमान् मूढ कहते हैं ॥ १५ ॥ जो अपने प्रयोजन को छोड़ कर, दूसरे के लिये काम करता है, मित्र के लिये मिथ्या आचरण करता है, वह मूढ कहलाता है ॥ १६ ॥ जो न चाहने वाले को चाहे और चाहने वालों का

त्याग करे, और बलवान् से द्वेष करे, उस को मूढबुद्धि कहते हैं ॥ १७ ॥ जो बिन बुलाए जाए, बिन पूछे बहुत बोले, और अविश्वस्त पर विश्वास करे, वह मूढबुद्धि नराधम है ॥ १८ ॥ जो दूसरे को दोष दे, और स्वयं वैसा काम करे, और जो असमर्थ होकर क्रोध करे, वह नर मूढतम है ॥ १९ ॥

मूल—एकं हन्यान्नवा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता । बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं स राजकम् ॥ २० ॥ एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते । स राष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः ॥ २१ ॥ एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते । यदेनं क्षमयायुक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ २२ ॥ द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिंल्लोके विरोचते । अब्रुवन् परुषं किञ्चिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥ २३ ॥ द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा । गृहस्थश्च निरारम्भः । कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ २४ ॥ न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ । अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ २५ ॥ द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिव्राड् योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखो हतः ॥ २६ ॥

अर्थ—धनुर्धारी से छोड़ा गया बाण एक को मारे वा न मारे, पर बुद्धिमान् से छोड़ी गई बुद्धि राजा समेत राष्ट्र को मार देती है ॥ २० ॥ विषरस एक को मारता है, शस्त्र से भी एक ही मरता है, पर मन्त्र का उलट पलट राष्ट्र और प्रजा समेत राजा को मार देता है ॥ २१ ॥ क्षमा वालों का (यही) एक दोष है, दूसरा नहीं होसकता, कि क्षमा वाले को (साधारण) मनुष्य असमर्थ मान लेते हैं ॥ २२ ॥ दो कर्म करता हुआ पुरुष इस लोक में चमकता है, कड़वा वचन न बोलता

हुआ, और नीच पाखण्डियों की पूजा न करता हुआ ॥ २३ ॥ यह दो उलटे कर्म के कारण शोभा नहीं पाते, गृहस्थ निरारम्भ (खाली=वेहला) और संन्यासी कामों में उलझा हुआ ॥ २४ ॥ न्याय से आए हुए धन के दो (धर्म के) उल्लंघन हैं—अपात्र को देना और पात्र को न देना ॥ २५ ॥ हे पुरुषवर ! यह दो सूर्यमण्डल के भेदने वाले (सूर्य मण्डल को भेद कर ऊपर चले जाने वाले मुक्त) होते हैं—योग से युक्त संन्यासी और रण में सामने मरा हुआ शूर वीर ॥ २६ ॥

मूल—त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः । नियोजयेद् यथावत् तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ २७ ॥ हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम् । सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥ २८ ॥ चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात् । अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्यान्न दीर्घसूत्रैरभसैश्चारणैश्च ॥ २९ ॥ चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्य यथाकृतानि । मानाग्निहोत्र मुतमान मौनं मानेनाधीत मुत मानयज्ञः ॥ ३० ॥

अर्थ—हे राजन् ! तीन प्रकार के पुरुष होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । उन को यथायोग्य तीन ही प्रकार के कामों पर लगाए (उत्तम को अधम और अधम को उत्तम काम पर न लगाए) ॥ २७ ॥ पराये धनों का छीनना, परस्त्री का संग, और हितैषी का त्याग, यह तीन दोष क्षय लाने वाले हैं ॥ २८ ॥ महाबली राजा को चार बातें वर्जनीय कहते हैं, सावधान हो कर उन को जानना चाहिये—थोड़ी बुद्धि वालों, दीर्घसूत्रियों (काम को करने २ में ही लटका देने वालों) ओछों

और स्तुति करने वालों के साथ मन्त्रणा (सलाह) न करे ॥ २९ ॥ चार कर्म (अग्निहोत्र, मौन, अध्ययन और यज्ञ) अभय देने वाले हैं, वही उलटे किये हुए भय देते हैं—मान के लिये अग्निहोत्र, मान के लिये मौन (मुनिभाव=वानप्रस्थ वा चुप साधन), मान के लिये वेदाध्ययन और मान के लिये यज्ञ॥३०॥

मूल—पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः । पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ३१ ॥ पञ्चैव पूजयन् लोके यशः प्राप्नोति केवलम् । देवान् पितॄन्मनुष्यांश्च भिक्षून तिथिपञ्चमान् ॥ ३२ ॥ पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम् । ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ३३ ॥ षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता । निद्रा तन्द्री भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥ षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन । सत्यं दानमनालस्य मनसूया क्षमा धृतिः ॥३५॥ अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च । वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ३६ ॥ ईर्षुर्घृणी नसंतुष्टः क्रोधनो नित्य शंकितः । परभाग्योपजीवी च षडेतेनित्य दुःखिताः ॥ ३७ ॥

अर्थ—इन पांच अग्नियों की मनुष्य को यत्न से सेवा करनी चाहिये—पिता, माता, अग्नि, अपना आप, और गुरु ॥ ३१ ॥ इन पांच की पूजा से लोक में केवल यश पाता है—देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि ॥ ३२ ॥ पांच इन्द्रियों वाले पुरुष का एक भी इन्द्रिय यदि छिद्र वाला (दोष वाला) हो, उस से इस की सारी प्रज्ञा बहजाती है, जैसे (छिद्र वाली) मशक से पानी ॥ ३३ ॥ ऐश्वर्य चाहने वाले पुरुष को

यह छः दोष त्याग देने चाहिये-निद्रा (सोए रहना) तन्द्रा (उबासियां लेते रहना) भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥ यह छः गुण पुरुष को कभी छोड़ने नहीं चाहिये— सत्य, दान, उद्यम, दूसरों की वृद्धि देख कर प्रसन्न होना, क्षमा और धीरज ॥ ३५ ॥ धन आते रहना, सदा अरोग रहना, स्त्री प्यारी, और प्रिय बोलने वाली, पुत्र अपने वशवर्ती, और विद्या धन कमाने वाली, हे राजन् ! यह छः जीवलोक के सुख (सुख के अचूक साधन) हैं ॥ ३६ ॥ डाह करने वाला, सदा दयावान्, असन्तोषी, क्रोधी, हर बात में शंका वाला, और पराये भाग्य पर जीने वाला, यह छः सदा दुःखी रहते हैं ॥ ३७ ॥

मूल—सप्तदोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः। प्रायशो यै विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः॥ ३८ ॥स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक् पारुष्यं च पञ्चमम् । महच्च दण्ड पारुष्य मर्थ दूषण मेव च ॥ ३९ ॥ अष्टौ गुणाः पुरुषं दीप्यन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च । पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ४० ॥ नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्च भूमिकम् । क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥ ४१ ॥ दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोधतान् । मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥ ४२ ॥ त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश । तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥ ४३ ॥

अर्थ—व्यसन उत्पन्न करने वाले यह सात दोष राजा को सदा त्याग देने चाहिये, प्रायः जिन से जड़ पकड़े भी राजे नष्ट होजाते हैं ॥ ३८ ॥ स्त्रियें, जुआ, शिकार, मद्यपान, वाणी की कठोरता, दण्ड की कठोरता, और धन का बिगाड़ना(अपव्यय).

॥ ३९ ॥ आठ गुण पुरुष को प्रकाशित करते हैं—बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियों का निग्रह, शास्त्र का ज्ञान, पराक्रम, बहुत न बोलना, शक्ति के अनुसार दान, और कृतज्ञता (किये हुए उपकार का जानना)॥ ४० ॥ एक पांच मनज़ला मन्दिर* जिस के नौ द्वार तीन खंभे हैं, जो क्षेत्रज्ञ के अधिकार में है, जो विद्वान् उस को समझता है, वही उत्तम विद्वान् है ॥ ४१ ॥ ये दस (पुरुष) धर्म को नहीं जानते, इन को हे धृतराष्ट्र समझो—मदमत्त, प्रमादी, (असावधान) पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज़, लालची, डरा हुआ और कामी। इस लिये इन सब से विद्वान् लगाव न बढ़ाए ॥ ४२—४३ ॥

मूल—न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति। न दुर्गतोऽस्मीति करोत्य कार्यं तमार्य शीलं परमाहुरार्याः॥ ४४ ॥ न स्वे सुखे कुरुते वै प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः। दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥ ४५ ॥ यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्ध भावः । अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥ ४६ ॥ वनेजाताः शापदग्धस्य राज्ञः पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः । त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च तवा देशं पालयन्त्याम्बिकेय ॥ ४७ ॥ प्रदायैषा मुचितं तात राज्यं सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः । न देवानां नापि च मानुषाणां भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ॥४८॥

---

* मन्दिर=शरीर, नौद्वारे, दो आंख के छेद, दो कान के, दो नासा के, मुंह, एक मल का, एक मूत्र का, तीन खंभे सत्व, रज, तम, पांच मनज़लें—पाओं से गोड़ों तक, गोड़ों से कमर तक, कमर से छाती तक, गर्दन और ऊपर सिर।

अर्थ—जो शान्त हुए वैर को नहीं चमकाता, घमंड में नहीं आता, तेज से हीन नहीं होता, मैं दुर्गति में हूं, ऐसा कह कर अकार्य नहीं करता, केवल उस को आर्यजन आर्यशील कहते हैं ॥ ४४ ॥ जो अपने सुख में फूल नहीं जाता, दूसरे के दुःख में प्रसन्न नहीं होता, दे कर के पीछे पछताता नहीं, वह सत्पुरुष आर्यशील कहलाता है ॥ ४५ ॥ जो सब लोगों की शान्ति में लग्न वाला, कोमल स्वभाव, दूसरों का मान करने वाला, और शुद्ध भावना वाला है। वह निर्मल उत्तम जाति के रत्न की भांति अपने ज्ञातियों के मध्य में अतीव प्रसिद्ध होता है ॥ ४६ ॥ शापहत राजा पाण्डु के वन में जन्मे इन्द्र तुल्य पांचों पुत्र, तुम ने बढ़ाए, तुम ने उन को शिक्षित किया है, और तुम्हारी आज्ञा को वह पालते हैं ॥ ४७ ॥ हे तात ! उन को उचित राज्य दे कर, पुत्रों के साथ सुखी हुए आनन्द मनाते हुए आप न देवताओं के न मनुष्यों के आक्षेपार्ह होंगे ॥ ४८ ॥

अ० १० (व० ३४) विदुर नीति

मूल—शुभं वा यदिवा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् । अपृष्टस्तस्य तद्ब्रूयाद् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ॥ १ ॥ तस्माद्वक्ष्यामि हे राजन् हितं यत् स्यात् कुरून् प्रति । वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥ २ ॥ मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत । अनुपाययुक्तानि मास्म तेषु मनः कृथाः ॥ ३ ॥ यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् । हितं च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ ४ ॥ वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः । स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥ ५ ॥

यस्तु पक्व मुपादत्ते काले परिणतं फलम् । फलाद्रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥ ६ ॥ यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः । तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ ७ ॥ पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् । मालाकार इवारामे न यथांगारकारकः ॥ ८ ॥

अर्थ—मनुष्य को उचित है, कि जिस की अवनति न चाहे, उस को उस के शुभ अशुभ की बात, चाहे उसे कड़वी लगे चाहे मीठी, बिन पूछे भी कह दे ॥ १ ॥ इस लिये हे राजन्! मैं वह बात जो कुरुओं के लिये भले की है, कल्याण वाली और धर्म युक्त है, कहूंगा, आप सुनिये ॥ २ ॥ हे भारत ! जो कर्म दम्भ कपट से युक्त हुए सिद्ध हों, नीच उपायों से सिद्ध हों, उन में मन मत लगाओ ॥ ३ ॥ जो भोज्य वस्तु खाई जा सके, और जो खाई हुई पच जाए, और पच कर हितकारी बने, वह वृद्धि चाहने वाले को खानी चाहिये ॥ ४ ॥ जो वनस्पति से बिन पके फल तोड़ लेता है, वह उन से रस नहीं पाता, और उस का बीज भी नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥ पर जो समय पर परिणत हो कर पके फल को तोड़ता है, वह फल से रस पाता है, और बीज से फिर फल को पाता है ॥ ६ ॥ जैसे भौंरा फूलों को हानि पहुंचाए बिना मधु ले लेता है, इस प्रकार बिना दुःख दिये मनुष्यों से अर्थों को लेवे ॥ ७ ॥ बाग में माली की भांति फूल फूल को चुन ले, कोइले बनाने की भांति मूलच्छेद न करे ॥ ८ ॥

मूल—चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् । प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनु प्रसीदति ॥ ९ ॥ धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरित मादितः । वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी

॥ १० ॥ अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः । प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥ ११ ॥ य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्र विमर्दने । स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्र परिपालने॥१२॥ धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण प्रतिपालयेत् । धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ १३ ॥ सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते । मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ १४ ॥ य ईर्षुः पर वित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये । सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥ १५ ॥

अर्थ—जो मन वाणी नेत्र और कर्म से जगत् को प्रसन्न करता है, जगत् उस को प्रसन्न करता है ॥ ९ ॥ जो राजा धर्म पर चलता है, जिस पर आदि से सत्पुरुष चलते आए हैं, उस के लिये भूमि धन से भरी हुई उस के ऐश्वर्य को बढ़ाती है ॥ १० ॥ पर जो धर्म को छोड़ अधर्म पर चलता है, उस की भूमि सुकड़ती जाती है, जैसे अग्नि में डाला हुआ चमड़ा॥११॥ जो यत्न दूसरे के राज्य के नाश में किया जाता है, वही यत्न अपने राष्ट्र के पालने में करना चाहिये ॥ १२ ॥ धर्म से राज्य को पाए, धर्म से पाले, धर्म मूलक लक्ष्मी को पाकर न उसे छोड़ता है, न उस से छोड़ा जाता है ॥ १३ ॥ सत्य से धर्म की, बर्तने से विद्या की, सफाई (उबटन आदि) से रूप की, और आचरण से कुल की रक्षा होती है ॥ १४ ॥ जो दूसरे के धन, रूप, बल, कुलीनता, सुख, सौभाग्य और सत्कार को देखता है, उस को न मिटने वाली व्याधि समझनी चाहिये ॥ १५ ॥

मूल—सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा । क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ॥ १६ ॥ प्रायेण श्रीमतां लोके

भोक्तुं शक्तिर्नविद्यते । जीर्यन्त्यपिहि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ॥ १७ ॥ ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः । ऐश्वर्यमद-मत्ता हि नापतित्वाऽवबुध्यते ॥ १८ ॥ अर्थानामीश्वरो यः स्या-दिन्द्रियाणा मनीश्वरः । इन्द्रियाणामनैश्वर्या दैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥ १९ ॥ असंत्यागात् पापकृतामपापांस्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात । शुष्केनार्द्रं दह्यते मिश्रभावात् तस्मात् पापैःसह सन्धि न कुर्यात ॥ २० ॥

अर्थ—दरिद्री सदा बड़े स्वाद वाले भोजन खाते हैं, भूख स्वाद उत्पन्न करती है, वह धनियों में बड़ी दुर्लभ है ॥ १६ ॥ जगत् में प्रायः धनाढ्यों में खाने की शक्ति ही नहीं होती है, दरिद्रों को हे राजन् ! सूखे काठ भी जीर्ण होजाते हैं ॥ १७ ॥ पान मद आदि जितने मद हैं, उन में ऐश्वर्य का मद सब से बुरा है, क्योंकि ऐश्वर्थ के मद से मतवाला हुआ बिना गिरे होश में नहीं आता है ॥ १८ ॥ जो धनों का मालिक हो और इन्द्रियों का मालिक न हो, इन्द्रियों का मालिक न होने के कारण वह ऐश्वर्य से भी गिरजाता है ॥ १९ ॥ पापियों का त्याग न करने मे, मिला होने के कारण निष्पापों को भी उन के बराबर दण्ड स्पर्श करता है, सूखे के साथ गीला भी जल जाता है मिला हुआ होने के कारण, इस लिये पापियों के साथ मेल न करे ॥२०॥

अ० ११ (व० ३५-३६) विदुर नीति

मूल—मद्यपानं कलहं पूगवैरं भार्यापत्यो रन्तरं ज्ञातिभेदम् । राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः ॥ १ ॥ श्रीर्मंगलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् संप्रवर्धते । दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं

संयमात् प्रति तिष्ठति ॥ २ ॥न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् । नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥ ३ ॥ सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् । शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥ ४ ॥ पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः । नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ॥ ५ ॥पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः । वृद्ध प्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभतेनरः ॥ ६ ॥ प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः । प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ॥ ७ ॥

अर्थ—मद्य पीना, लड़ाई झगड़ा, समुदाय से वैर, पति पत्नी में भेद डालना, ज्ञातियों में भेद डालना, राजा से द्वेष, स्त्री पुरुष में झगड़ा उठाना, और दुष्ट मार्ग यह सब छोड़ने योग्य हैं ॥ १ ॥ लक्ष्मी मंगल कार्य से जन्म लेती है, मंगलभता से बढ़ती है, निपुणता से जड़ पकड़ती है, और संयम से टिकती है ॥ २ ॥ वह सभा नहीं, जिस में वृद्ध नहीं, वह वृद्ध नहीं, जो धर्म नहीं कहते, वह धर्म नहीं, जिस में सत्य नहीं, वह सत्य नहीं, जो छल से युक्त है ॥ ३ ॥ सत्य, रूप, शास्त्र, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शौर्य और विचित्र भाषण यह दस स्वर्ग के [illegible] हैं ॥ ४ ॥ पाप ज्यों २ किया जाता है, त्यों २ वह प्रज्ञ[illegible] करता जाता है, और नष्ट हुई प्रज्ञा वाला पुरुष फिर पाप का ही आरम्भ करता है ॥ ५ ॥ पुण्य ज्यों २ किया जाता है, त्यों २ वह प्रज्ञा को बढ़ाता जाता है, बढ़ी हुई प्रज्ञा वाला पुरुष फिर पुण्य का ही आरम्भ करता है ॥ ६ ॥ जो प्रज्ञा वालों से प्रज्ञा को कमाता रहता है, वह पण्डित है, प्रज्ञावान् पुरुष धर्म अर्थ को पाकर सुख से बढ़ता है ॥ ७ ॥

मूल—नाक्रोशीस्यान्नावमानी परस्य मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी । न चातिमानी न च नीचवृत्तो रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ॥ ८ ॥मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथाऽसून् रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम् । तस्माद्वाच मुषतीं रूक्षरूपां धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ९ ॥ अरुन्तुदं पुरुषं रूक्षवाचं वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् । विद्यादलक्ष्मी कतमं जनानां मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम्॥१०॥ यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते । यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ ११ ॥ वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च । अक्षीणो वित्ततः क्षीणः वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ १२ ॥ संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते बलम् । संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद् व्याधि मृच्छति ॥ १३ ॥ अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते । अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मास्म शोके मनःकृथाः ॥ १४ ॥सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च । पर्यायशः सर्व मेते स्पृशन्ति तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेद ॥ १५ ॥

अर्थ—न किसी को गाली दे, न अपमान करे, न मित्र से द्रोह करे, न नीच का सेवक बने, न अभिमानी हो, न आचरण से गिरा हुआ हो, रूख कठोर वाणी को त्यागे ॥ ८ ॥ रूखे वचन पुरुषों के मर्मों हड्डियों हृदय और प्राणों को जला डालते हैं, इस लिये धर्म का प्यारा जलती हुई रूखी वाणी को सदा त्यागे ॥ ९ ॥ मर्मों को चुभोने वाले, रूखी वाणी वाले, वाणीरूपी कांटों से मनुष्यों को पीडा देते हुए पुरुष को मनुष्यों में सब से बढ़ कर अलक्ष्मी वाला जानना चाहिये, जो मुख

में बांधी हुई अलक्ष्मी को उठाए फिरता है ॥ १० ॥ पुरुष जैसों की बैठक बैठता है, जैसों का सेवन करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा होजाता है ॥ ११ ॥ आचरण की यत्न से रक्षा करनी चाहिये, धन आता है और जाता है, धन से क्षीण हुआ क्षीण नहीं होता, पर आचरण से भ्रष्ट हुआ मृत ही है ॥ १२ ॥ संताप से रूप घट जाता है, बल घट जाता है, ज्ञान घट जाता है, संताप से रोगी हो जाता है ॥ १३ ॥ शोक से मिलता कुछ नहीं, और शरीर तपता है, और शत्रु प्रसन्न होते हैं, इस लिये शोक में मन मत लगाओ ॥ १४ ॥ सुख दुःख, उदय अस्त, लाभ हानि मरण जीवन यह वारी से सब को स्पर्श करते हैं, इस लिये धैर्यवान् को हर्ष वा शोक नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

मूल—नवै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः । न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥ १६ ॥ न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् । भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं न विद्यते किञ्चिदन्यद् विनाशात् ॥ १७ ॥ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च। वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पत. ते ॥ १८ ॥ अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः । येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ॥ १९ ॥ न मनुष्ये गुणः कश्चिद्राजन् स धनता मृते । अनातुरत्वाद् भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥२०॥ रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम् । दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव न बुध्यन्ते धनभोगान्न सौख्यम् ॥ २१ ॥ धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् पालयन्तु पाण्डोः सुतास्तव पु-

श्चांश्च पान्तु । एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः ॥ २२ ॥ मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य त्वय्याधीनं कुरु कुलमाजमीढ । पार्थान् बालान् वनवासप्रतप्तान्गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्ष ॥ २३ ॥

अर्थ—जिन में आपस में फूट है, वह न धर्म करते हैं, न लोक में सुख पाते हैं, न गौरव पाते हैं, न शान्ति को पसंद करते हैं ॥ १६ ॥ न उन्हें उन के हित की बात कही पसन्द आती है, न उन का योगक्षेम (प्राप्ति और रक्षा) होसकता है, आपस में फटे हुओं की हे राजन् सिवाय नाश के कोई गति नहीं है ॥ १७ ॥ हे धृतराष्ट्र जो ब्राह्मणों, स्त्रियों, ज्ञातियों और गौओं में शूर वीरता दिखलाते हैं, वह डंडी से पके फल की भांति गिरते हैं ॥ १८ ॥ ब्राह्मण, गौएं, ज्ञाति, बच्चे, स्त्रियें, जिन का अन्न खाया हो, और जो शरणागत हो, यह सब वध के योग्य नहीं होते ॥ १९ ॥ हे राजन् ! धनवाला होने और नीरोग होने के बिना मनुष्य में कोई गुण नहीं है, क्योंकि रोगी मरे हुओं के बराबर होते हैं ॥ २० ॥ रोग से पीडित पुरुष न फलों का आदर करते हैं, न विषयों में कोई तत्त्व पाते हैं, रोगी सदा दुःख से युक्त हुए न धन के भोगों को न सुख को अनुभव करते हैं ॥ २१ ॥ तुम्हारे पुत्र पाण्डवों की रक्षा करें, पाण्डु के पुत्र तेरे पुत्रों की रक्षा करें, हे राजन् ! सारे कुरु एक शत्रु मित्र वाले एक उद्देश्य वाले हुए, सुखी समृद्ध हुए जीवें ॥ २२ ॥ हे अजमीढवंशीय ! तुम कौरवों के मेढ रूप हो, कुरुकुल आप के अधीन है, पाण्डव तुम्हारे बच्चे जो वनवास से तपे हुए हैं, उन की रक्षा करने से अपने यश की रक्षा कर ॥ २३ ॥

अ० १२ (व० ३७-४०) विदुर नीति

मूल—जरारूपं हरति हि धैर्यमाशा मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया। कामोह्रियं वृत्त मनार्य सेवा क्रोधः श्रियं सर्व मेवाभिमानः ॥ १ ॥ धृतराष्ट्र उवाच—शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा। नाप्नोत्यथ च तत्सर्व मायुः केनेह हेतुना ॥ २ ॥ विदुर उवाच—अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप। क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥ ३ ॥ एत एवासयस्तीक्ष्णा कृन्तन्त्या यूंषि देहिनाम्। एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ ४ ॥ सुलभाः पुरुषाराजन् सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ ५ ॥ द्यूत मेतत् पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम्। तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थ मपि बुद्धिमान् ॥ ६ ॥

अर्थ—बुढ़ापा रूप को हरता है, आशा धैर्य को, मृत्यु प्राणों को, असूया धर्माचरण को, काम लज्जा को, अनार्य सेवा शील को, क्रोध श्री (शोभा) को, और अभिमान सभी को हरता है ॥ १ ॥ धृतराष्ट्र बोले—सब वेदों में जब मनुष्य की आयु सौ वर्ष कही है, तो फिर किस हेतु से मनुष्य उस सारी आयु को नहीं पाता है ॥ २ ॥ विदुर बोले—अतिमान, बहुत विवाद, त्याग न होना, क्रोध, मेरा ही पेट भरे यह इच्छा, और मित्रद्रोह, यह छः हे राजन् ! तीक्ष्ण तलवारें हैं, जो प्राणियों के आयुओं को काटती हैं, यह मनुष्यों को मारती हैं, मृत्यु नहीं ॥ ३–४ ॥ हे राजन् ! प्रिय कहने वाले पुरुष सदा सुलभ होते हैं, परन्तु कड़वे पर हितकारी वचन का कहने वाला और

सुनने वाला दोनों दुर्लभ हैं ॥ ५ ॥ यह जुआ पहले समयों में मनुष्यों में वैर कराने वाला देखा गया है, इस लिये बुद्धिमान् हंसी के लिये भी जुआ न खेले ॥ ६ ॥

मूल—गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते वलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः । स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥ ७ ॥ गुणाश्च षण्मित भुक्तं भजन्ते आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च । अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं न चैन माद्यून इति क्षिपन्ति ॥ ८ ॥ अकर्मशीलं च महाशनं च लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् । अदेशकालज्ञमनिष्ट वेष मेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥ ९ ॥ सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थ बन्धनाः । अन्योऽन्य बन्धनावेतौ विनाऽन्योऽन्यं न सिध्यतः ॥ १० ॥ हितं यत् सर्व भूतानामात्मनश्च सुखावहम् । तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थ सिद्धये ॥ ११ ॥

अर्थ—स्नान शील को दस गुण प्राप्त होते हैं—बल, रूप, स्वर और रंगत की शुद्धि, स्पर्श, गन्ध, शुद्धि, शोभा, सुकुमारता और स्त्रियें ॥ ७ ॥ छः गुण परिमित भोजन वाले को प्राप्त होते हैं, आरोग्य, आयु, बल, सुख, इस की सन्तान निर्दोष होती है, और पेटू कह कर उस की निन्दा नहीं करते ॥ ८ ॥ निकम्मा, बहुत खवैया, लोक में निन्दित, बहुत माया वाला, दुर्जन, देशकाल का न जानने वाला, बुरे वेष वाला इन को घर में न बसाए ॥ ९ ॥ धनों से साथी बनते हैं, और साथी धन के निमित्त होते हैं । यह एक दूसरे का निमित्त हैं, एक दूसरे के विना सिद्ध नहीं होते हैं ॥ १० ॥ जो सब प्राणियों की

भलाई का, और अपने लिये सुख लाने वाला काम हो, वह करे, क्योंकि यह बीज है ईश्वर (समर्थ) में भी सारे कार्यों की सिद्धि के लिये॥११॥

मूल–यो ज्ञाति मनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् । स पुत्र पशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्य मश्नुते ॥ १२ ॥ ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम् । कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात् साधु समाचर ॥ १३ ॥ ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना । सुखानि सह भोक्व्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ॥ १४ ॥ संभोजनं संकथनं संप्रीति श्च परस्परम् । ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कथञ्चन ॥ १५ ॥ ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च । सुवृत्तास्तार यन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥ १६ ॥ न कश्चिन्नापनयते पुमान-न्यत्र भार्गवात । शेषसंप्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ १७ ॥ दुर्योधनेन यद्येतत्पापं तेषु पुरा कृतम् । त्वया तत् कुलवृद्धेन प्रत्या-नेयं नरेश्वर ॥ १८ ॥

अर्थ–जो दरिद्र दीन आतुर ज्ञाति पर अनुग्रह करता है, वह पुत्र पशुओं से बढ़ता है और अनन्त कल्याण को प्राप्त होता है ॥ १२ ॥ जो अपना शुभ चाहते हैं उन को अपने ज्ञातियों की वृद्धि करनी चाहिये, इस लिये हे राजेन्द्र अपने कुल की वृद्धि भली भांति करो ॥ १३ ॥ हे तात ! अपनी भलाई चाहने वाले को ज्ञातियों के साथ कभी लड़ाई नहीं करनी चाहिये, हे भरतवर सुख ज्ञातियों के साथ मिल कर भोगने चाहियें ॥१४॥ इकट्ठा भोजन, इकट्ठी बात चीत और आपस में प्रीति, यह ज्ञा-तियों के साथ करने चाहिये, विरोध कभी नहीं ॥ १५ ॥ ज्ञाति

के लोग ही इस लोक में तारते हैं और ज्ञाति के लोग ही डुबाते हैं, अच्छे कामों वाले तारते हैं,और बुरे कामों वाले डुबाते हैं ॥ १६ ॥ शुक्र से भिन्न कोई पुरुष नहीं, जो कभी भी अनीति न करे, (जो हो गया, सो हो गया) शेष का सच्चा विचार बुद्धिमानों में रहता है ॥ १७ ॥ सो यद्यपि दुर्योधन ने उन के विषय में यह पहले पाप किया है, हे नरेश्वर आप को वह लौटाना चाहिये, आप कुल के वृद्ध हैं ॥ १८ ॥

मूल—अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् । रतिपुत्र फला नारी दत्तभुक्त फलं धनम् ॥ १९ ॥ अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्व देहिकम् । न स तस्य फलं प्रेत्य भुंक्तेऽर्थस्य दुरागमात् ॥ २० ॥ अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा । अरेर्वा प्रणिपातेन मास्म तेषु मनः कृथाः ॥ २१ ॥ अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् । निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्र मराजकम् ॥ २२ ॥ सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् । सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥ २३ ॥ न जातु कामान्न भयान्नलोभाद् धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः । नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ २४ ॥ अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुंक्ते वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् । द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥ २५ ॥ उत्सृज्य विनिवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः । अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः ॥ २६ ॥ आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः । तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्य मलोभ एव॥२७॥

अर्थ—वेद का फल अग्निहोत्र, पढ़ने का फल शील और

सदाचार, स्त्रीका फल रति और पुत्र और धन का फल दान और भोग है ॥ १९ ॥ अधर्म से कमाए धनों से जो परलोक के निमित्त कर्म करता है, वह मर कर उस के फल को नहीं भोगता है, क्योंकि उस धन का आगम पाप से है ॥ २० ॥ जो धन अति क्लेश से, वा धर्म के उल्लंघन से, वा शत्रु के आगे झुकने से प्राप्त हों, उन में मन मत लगा ॥ २१ ॥ विद्याहीन पुरुष शोचनीय है, सन्तान फल से हीन मैथुन शोचनीय है, निराहार प्रजाएं शोचनीय हैं, राजा से रहित देश शोचनीय है ॥ २२ ॥ सुखार्थी को विद्या कहां, विद्यार्थी को सुख नहीं है, या तो सुख का अर्थी विद्या को छोड़ दे, वा विद्या का अर्थी है तो सुख को छोड़ दे ॥ २३ ॥ न काम से, न भय से, न लोभ से, जीवन के हेतु भी धर्म कभी न त्यागे, धर्म स्थिर रहने वाला है, सुख दुःख अस्थिर हैं, जीव नित्य है और जीवन का हेतु (प्राण) अनित्य है ॥ २४ ॥ मरे हुए के धन को दूसरा भोगता है, पक्षी और अग्नि उस के शरीर की धातुओं को भोगते हैं, यह (कर्ता) पुण्य और पाप इन दो के साथ लपेटा हुआ परलोक को जाता है ॥ २५ ॥ ज्ञाति सुहृद और पुत्र इस तरह छोड़ कर चले आते हैं, जैसे फूल फल से हीन वृक्ष को पक्षी ॥ २६ ॥ हे भारत आत्मा नदी है, पुण्य उस के घाट हैं, सचाई जल है, धीरज किनारे हैं, दया लहरें हैं, उस में स्नान कर पुण्य कर्मी पुरुष पवित्र होता है, लोभ से रहित आत्मा सदा पवित्र ही है ॥ २७ ॥

अ०१३(व०४७-५५) कौरव सभा में संजय का वचन और कौरवों की सम्मति

मूल—तस्यां रजन्यां व्युष्टायां राजानः सर्व एव ते । स भायां निविविशुर्हृष्टाः सूतस्योपदिदृक्षया ॥ १ ॥ शुश्रूषमाणाः पार्थानां वाचो धर्मार्थ संहिताः । धृतराष्ट्र मुखाः सर्वे ययू राज-सभां शुभाम् ॥ २ ॥ उपेयाय स तु क्षिप्रं रथात् प्रस्कन्द्य कु-ण्डली । प्रविवेश सभां पूर्णां महीपालैर्महात्मभिः ॥ ३ ॥ संजय उवाच–प्राप्तोस्मि पाण्डवान् गत्वा तं विजानीत कौरवाः । यथा-वयः कुरून् सर्वान् प्रतिनन्दन्ति पाण्डवाः ॥ ४ ॥ अभिवादय-न्ति वृद्धांश्च वयस्यांश्च वयस्यवत् । यूनश्चाभ्यवदन् पार्थाः प्रति-पूज्य यथावयः ॥ ५ ॥

अर्थ—उस रात के निकलने पर सभी राजे प्रसन्न हुए सूत को देखने की इच्छा से सभा में आए ॥ १ ॥ पाण्डवों के धर्म अर्थ से युक्त वचनों को सुनने के लिये धृतराष्ट्र आदि सब शुभ राजसभा में गए ॥ २ ॥ वहां संजय आ रथ से शीघ्र उतर महा-त्मा राजाओं से भरी सभा में प्रविष्ट हुआ ॥ ३ ॥ संजय बोले—हे कौरवो ! मैं पाण्डवों के पास हो आया हूं, यह जानो,पाण्डव सब कुरुओं को अवस्थानुसार आदर देते हैं॥४॥ वृद्धों को अभि-वादन करते हैं, तुल्य आयु वालों को तुल्य आयु वालों की भांति और छोटों को छोटों की भांति अवस्थानुसार आदर दे कर यह संदेश दिया है ॥ ५ ॥

मूल—धृतराष्ट्र उवाच–अन्येप्यस्त्राणि जानन्ति जीयन्ते च जयन्ति च । एकान्त विजयस्त्वेव श्रूयते फाल्गुणस्य ह ॥ ६ ॥ त्रयस्त्रिंशत् समाऽऽहूय खाण्डवेऽग्निम तर्पयत् । जिगाय च सुरान् सर्वान् नास्य विद्मः पराजयम् ॥ ७ ॥ कृष्णावेकरथे यत्तावधि-ज्यं गाण्डिवं धनुः । युगपत् त्रीणि तेजांसि समेतान्यनु शुश्रुम ॥८॥

यथैव पाण्डवाः सर्वे पराक्रान्ता जिगीषवः । तथैवाभिमरास्तेषां त्यक्तात्मानो जये धृताः ॥ ९ ॥ तैरयुद्धं साधु मन्ये कुरवस्तान्निबोधत । युद्धे विनाशः कृत्स्नस्य कुलस्य भविता ध्रुवम् ॥ १० ॥

अर्थ—धृतराष्ट्र बोले—और भी शूरवीर हैं जो अस्त्रों को जानते हैं, वह जीतते भी हैं, और जीते भी जाते हैं, पर एकरस विजय अर्जुन का ही सुना जाता है ॥ ६ ॥ ३३ वर्ष हुए जब उस ने खाण्डव में अग्नि को तृप्त किया, और सब देवताओं को जीता, हम इस का कोई भी पराजय नहीं जानते हैं ॥ ७ ॥ अर्जुन और कृष्ण एक रथ पर तय्यार, और चिल्ला चढ़ा हुआ गाण्डीव, यह तीन तेज एक साथ इकट्ठे हुए हमने सुने हैं ॥ ८ ॥ जैसे सभी पाण्डव पराक्रमी हैं, और जीतने के उत्साह से भरे हैं, वैसे ही उन के साथी उन के लिये शरीर छोड़े हुए और जय में लक्ष वाले हैं ॥ ९ ॥ उन से मैं युद्ध न करना भला समझता हूं हे कुरुओ यह जानो, युद्ध में निःसंदेह हमारे सारे कुल का नाश होगा ॥ १० ॥

मूल—दुर्योधन उवाच—न भेतव्यं महाराज न शोच्या भवता वयम् । समर्थाःस्म परान् जेतुं बलिनः समरे विभो ॥ ११ ॥ अस्मान् पुनरमी नाद्य समर्था जेतु माहवे । छिन्न पक्षाः परेह्यद्य वीर्यहीनाश्च पाण्डवाः ॥ १२ ॥ अस्मत्संस्था च पृथिवी वर्तते भरतर्षभ । एकार्थाः समदुःखेषु समानीताश्च पार्थिवाः ॥ १३ ॥ अप्यग्निं प्रविशेयुस्ते समुद्रं वा परंतप । मदर्थं पार्थिवाः सर्वे तद् विद्धि कुरुसत्तम ॥ १४ ॥ एकैक एषां शक्तस्तु हन्तुं भारत पाण्डवान् । समेतास्तु क्षणेनैतान् नेष्यन्ति यमसादनम् ॥ १५ ॥ पञ्च ते भ्रातरः सर्वे धृष्टद्युम्नोऽथ सात्यकिः । परेषां सप्त ये राजन् योधाः

सारं बलं मतम् ॥ १६ ॥ अस्माकं तु विशिष्टा ये भीष्मद्रोण कृपादयः। द्रौणिर्वैकर्तनः कर्णः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ॥ १७ ॥ प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्य आवन्त्यो च जयद्रथः। दुःशासनो दुर्मखश्च दुःसहश्च विशांपते ॥ १८ ॥ श्रुतायुश्चित्रसेनश्च पुरुमित्रो विविंशतिः। शलो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ॥ १९ ॥ अक्षौहिण्यो हि मे राजन् दशैका च समाहृताः। न्यूनाः परेषां सप्तैव कस्मान्मे स्याद् पराजयः ॥ २० ॥ एतद् सर्वं समाज्ञाय बलाग्र्यं मम भारतान्यूनतां पाण्डवानां च न मोहं गन्तुमर्हसि ॥२१॥

अर्थ—दुर्योधन बोले-महाराज! डरिये नहीं, हमारी आप चिन्ता न करें, हे विभो! हम संग्राम में शत्रुओं को जीतने के समर्थ हैं ॥ ११ ॥ और वह हमें रण में जीतने के समर्थ नहीं हैं, पाण्डवों के पक्ष कटे हुए हैं, पाण्डव निःशक्त हैं ॥ १२ ॥ हे भरतवर! पृथिवी हमारे अधीन है, और सुख दुःख में पूरे साथी राजे सब आगए हैं ॥ १३ ॥ हे कुरुवर! आप निश्चित जानें, कि यह सब राजे मेरे लिये आग में वा समुद्र में कूद सक्ते हैं ॥ १४ ॥ हे भारत! इन में से एक २ पाण्डवों को मार सकने वाला है, मिल कर तो एक क्षण में उन को यम के घर पहुंचाएंगे ॥ १५ ॥ वह सारे भाई पांच, और धृष्टद्युम्न और सात्यकि, ये योधे हे राजन् शत्रुओं के बल का सार हैं॥ १६ ॥ हमारे विशिष्ट पुरुष बहुत हैं-भीष्म, द्रोण,कृप आदि,अश्वत्थामा, कर्ण, सोमदत्त, बाह्लिकः, ॥ १७ ॥ प्राग्ज्योतिष का अधिपति, शल्य, अवन्ति के दोनों राजे, जयद्रथ, आप के पुत्र दुःशासन, दुर्मुख, दुःसह, श्रुतायु, चित्रसेन, पुरुमित्र, विविंशति, शल, भूरिश्रवा और विकर्ण ॥ १७-१९ ॥ हे राजन् मेरे ग्यारह

अक्षौहिणियें इकट्ठी हुई है, शत्रुओं की थोड़ी हैं, वह केवल सात ही हैं, कैसे मेरी हार होगी ॥ २० ॥ हे भारत ! यह सारी मेरे बल की अधिकता, और पाण्डवों के बल की न्यूनता जान कर आप मोह में पड़ने योग्य नहीं हैं ॥ २१ ॥

अ०१४(व०५८-६६) धृतराष्ट्र दुर्योधनादि संवाद

मूल-धृतराष्ट्र उवाच—दुर्योधन निवर्तस्व युद्धाद् भरत सत्तम। न हि युद्धं प्रशंसन्ति सर्वावस्थ परिन्दपः ॥ १ ॥ अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् । प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचित परिन्दम ॥ २ ॥ एतद्धि कुरवः सर्वे मन्यन्ते धर्म संहितम् । यत् त्वं प्रशान्तिं मन्येथाः पाण्डुपुत्रैर्महात्माभिः ॥ ३ ॥ न त्वहं युद्ध मिच्छामि नैतदिच्छति बाह्लिकः । न च भीष्मो न चद्रोणो नाश्वत्थामा न संजयः॥ ४ ॥ येषु संप्रति तिष्ठेयुः कुरवः पीडिताः परैः । ते युद्धं नाभिनन्दन्ति तत् तुभ्यं तात रोचताम् ॥ ५ ॥

अर्थ-धृतराष्ट्र बोले-हे दुर्योधन हे भरतवर!इस युद्ध से निवृत्त हो, हे शत्रुओं के दबाने वाले इस युद्ध को किसी प्रकार भी नहीं सराहते हैं ॥१॥ मन्त्रियों समेत आप के जीवन के लिये आधा राज्य पर्याप्त है, हे शत्रुओं के दबाने वाले ! पाण्डवों को उन का उचित भाग देदो ॥ २ ॥ सभी कौरव यही धर्मयुक्त कर्म समझते हैं, कि महात्मा पाण्डवों के साथ आप का मेल हो जाए ॥ ३ ॥ युद्ध न मैं पसन्द करता हूं, न इसे बाल्हीक पसन्द करता है, न भीष्म, न द्रोण, न अश्वत्थामा, न संजय ॥ ४ ॥ शत्रुओं से पीडित हुए कौरव जिन पर निर्भर करते हैं, वह युद्ध

को पसंद नहीं करते हैं, सो यह बात हे तात ! तुझे पसंद होनी चाहिये ॥ ५ ॥

मूल—दुर्योधन उवाच—नाहं भवति न द्रोणे नाश्वत्थाम्नि न संजये । न भीष्मे न च कांबोजे न कृपे न च बाह्लिके ॥ ६ ॥ सत्यव्रते पुरुमित्रे भूरिश्रवसि वा पुनः । अन्येषु वा तावकेषु भारं कृत्वा समाह्वये ॥ ७ ॥ अहं च तात कर्णश्च भ्राता दुःशासनश्च मे । एते वयं हनिष्यामः पाण्डवान् समरे नृपः ॥ ८ ॥ अहं हि पाण्डवान् हत्वा प्रशास्ता पृथिवीमिमाम् । मां वा हत्वा पाण्डुपुत्रा भोक्तारः पृथिवीमिमाम् ॥ ९ ॥ त्यक्तं मे जीवितं राज्यं धनं सर्वं च पार्थिव । न जातु पाण्डवैः सार्धं वसेयमहमच्युत ॥ १० ॥ यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण मारिष । तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ ११ ॥

अर्थ—दुर्योधन बोले—मैं न आप पर, न द्रोण अश्वत्थामा, संजय, भीष्म, कांबोज, कृपाचार्य, बाल्हीक, सत्यव्रत, पुरुमित्र, वा भूरिश्रवा पर वा और जो कोई आप के हैं, उन पर, निर्भर कर के शत्रुओं को नहीं ललकारता ॥ ६—७ ॥ किन्तु हे तात ! मैं, कर्ण, और भ्राता दुःशासन यह तीनों हम संग्राम में पाण्डवों को मारेंगे ॥ ८ ॥ मैं पाण्डवों को मार कर इस पृथिवी का शासन करूंगा, वा मुझे मार कर पाण्डव पृथिवी को भोगेंगे ॥ ९ ॥ हे राजन् ! मैं जीवन राज्य धन सब छोड़ दूंगा, पर पाण्डवों के साथ कभी नहीं रहूंगा ॥ १० ॥ हे श्रेष्ठ ! तीक्ष्ण सूई के अग्र से जितना भू भाग बिंध सक्ता है, उतना भी पाण्डवों को नहीं दूंगा ॥ ११ ॥

मूल—कर्ण उवाच—पितामहस्तिष्ठतु ते समीपे द्रोणश्च सर्वे च नरेन्द्रमुख्याः। यथा प्रधानेन बलेन गत्वा पार्थान् हनिष्यामि ममैष भारः॥ १२॥ एवं ब्रुवन्तं तमुवाच भीष्मः किं कत्थसे कालपरीत बुद्धे। न कर्ण जानासि यथाप्रधाने हते हताः स्युर्धृतराष्ट्र पुत्राः॥ १३॥ यत् खाण्डवं दाहयता कृतं हि कृष्णद्वितीयेन धनञ्जयेन। श्रुत्वैव तत्कर्म नियन्तुमात्मा युक्तस्त्वया वै सह बान्धवेन॥ १४॥ बाणस्य भौमस्य च कर्ण हन्ता किरीटिनं रक्षति वासुदेवः। यस्त्वादृशानां च वरीयसां च हन्ता रिपूणां तुमुले प्रगाढे॥ १५॥ कर्ण उवाच—असंशयं वृष्णि पतिर्यथोक्तस्तथा च भूयांश्च ततो महात्मा। अहं यदुक्तः परुषं तु किञ्चित् पितामहस्तस्य फलं शृणोतु॥ १६॥ न्यस्यामि शस्त्राणि न जातु संख्ये पितामहो द्रक्ष्यति मां सभायाम्। त्वयि प्रशान्ते तु मम प्रभावं द्रक्ष्यन्ति सर्वे भुवि भूमिपालाः॥ १७॥ इत्येवमुक्त्वा स महाधनुष्मान् हित्वा सभां स्वं भवनं जगाम। भीष्मस्तु दुर्योधन मेव राजन् मध्ये कुरूणां प्रहसन्नुवाच॥ १८॥ सत्य प्रतिज्ञः किल सूतपुत्रस्तथा स भारं विषहेत कस्मात्॥ १९॥ यदैव रामे भगवत्यनिन्द्ये ब्रह्म ब्रुवाणः कृतवांस्तदस्त्रम्। तदैव धर्मश्च तपश्च नष्टं वैकर्तनस्याधमपूरुषस्य॥ २०॥

अर्थ—कर्ण बोले—भीष्म, द्रोण और दूसरे सभी मुख्य राजे आप के पास बैठे रहें, मैं अकेला ही प्रधान सेना के साथ जा कर पाण्डवों को मारूंगा, यह भार मेरे ही ऊपर है॥ १२॥ उस के ऐसा कहते हुए भीष्म बोले, हे काल से ग्रसी बुद्धि वाले तुम क्या बड़ाई करते हो, हे कर्ण तुम नहीं जानते हो, कि प्रधान के मरने पर धृतराष्ट्र के पुत्र मारे जाएंगे (इस लिये तुम अपने

आप को बचाओ—यह उपहास है) ॥ १३ ॥ कृष्ण के साथ मिल कर अर्जुन ने खाण्डव को दग्ध करते हुए जो कर्म किया था, उस को सुन कर तुम्हें बन्धुओं सहित चुप रहना ही उचित था ॥ १४ ॥ हे कर्ण बाण और नरक दैत्यों के मारने वाले कृष्ण अर्जुन के रक्षक हैं, जो भयंकर युद्ध में तुम्हारे जैसे वा तुम से भी बलवान् शत्रुओं के मारने वाले हैं ॥ १५ ॥ कर्ण बोले—महात्मा कृष्ण जी वैसे ही हैं, वा इस से भी बढ़ कर हैं, इस में संदेह नहीं, पर पितामह ने जो मुझे कुछ कठोर कहा है, उस का फल सुन ले ॥ १६ ॥ मैं शस्त्रों को छोड़ता हूं, पितामह मुझे कभी संग्राम में न देखेगा, किन्तु तुम्हारे मरने पर मेरे प्रभाव को सब भूमिपाल देखेंगे ॥ १७ ॥ यह कह कर वह महाधनुर्धारी सभा को त्याग कर अपने भवन को गया, तब भीष्म कौरवों के मध्य में हंस कर दुर्योधन से यह बोले ॥ १८ ॥ कर्ण सच्ची प्रतिज्ञा वाला है, वह इस भार को कैसे उठाएगा ॥ १९ ॥ जब ही भगवान् परशुराम के पास अपने आप को ब्राह्मण कह कर अस्त्र लाभ किया, उसी समय से कर्ण का धर्म और तप नष्ट होगया है ॥ २० ॥

मूल—यथोक्तवाक्ये नृपतीन्द्र भीष्मे निक्षिप्यशस्त्राणि गते च कर्णे । वैचित्रवीर्यस्य सुतोऽल्प बुद्धि दुर्योधनः शान्तनवं बभाषे ॥ २१ ॥ सर्वे स्म समजातीयाः सर्वे मानुषयोनयः । पितामह विजानीषे पार्थेषु विजयं कथम् ॥ २२ ॥ यदा परि हरिष्यन्ति ऐणेयानिव तन्तुना । अतारित्रानिव जले बाहुभिर्माम कारणे ॥ २३ ॥ पश्यतस्ते परांस्तत्र रथनाग समाकुलान् । तदा दर्पं विमोक्ष्यन्ति पाण्डवाः स च केशवः ॥ २४ ॥ धृतराष्ट्र उवाच—

दुर्योधन विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक । उत्पथं मन्यसे मार्गं मनभिज्ञ इवाध्वगः ॥ २५ ॥ पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां यत् तेजः प्रजिहीर्षसि । पञ्चानामिव भूतानां महतां लोक धारिणाम्॥२६॥ दुर्योधने धार्तराष्ट्रे तद्वचो नाभिनन्दति । तूष्णीं भूतेषु सर्वेषु समुत्तस्थुर्नराधिपाः ॥ २७ ॥

अर्थ—भीष्म के उक्त वाक्य कह चुकने और कर्ण को शस्त्र छोड़ कर चले जाने पर अल्पमति दुर्योधन धृतराष्ट्र से बोला ॥ २१ ॥ हम सब तुल्य जाति वाले सब,मनुष्यों की संतान हैं, तब हे पितामह कैसे तुम पाण्डवों का ही विजय समझते हो॥२२॥ जब मेरे सैनिक रण में पाण्डवों को फांसों से हरिणों की भांति फांस लेंगे, जल में मलाहों से हीन हुओं जैसों को आप के सामने रथ हाथियों समेत नाश कर देंगे, तब वह पाण्डव और वह कृष्ण दर्प को त्यागेंगे ॥ २३–२४ ॥ धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन ! हे बेटा जो तुझे कहता हूं उसे समझ, अनजान यात्री की भांति तू कुमार्ग को मार्ग समझ रहा है ॥ २५ ॥ जो तू जगत् के थामने वाले पांच भूतों के तुल्य पांचों पाण्डवों के तेज को हरना चाहता है ॥ २६ ॥ जब दुर्योधन धृतराष्ट्र के वचन का आदर नहीं करता है, और दूसरे कुछ बोलते नहीं, तब राजा लोग उठ कर चले गए ॥ २७ ॥

अ० १५ (व० ७२–) पाण्डवों की मन्त्रणा

मूल–संजये प्रतियाते तु धर्मराजो युधिष्ठिरः । अभ्यभाषत दाशार्हमृषभं सर्वसात्वताम् ॥ १ ॥ श्रुतं ते धृतराष्ट्रस्य सपुत्रस्य चिकीर्षितम् । एतद्धि सकलं कृष्ण संजयो मां यदब्रवीत्॥२॥

तन्मतं धृतराष्ट्रस्य सोऽस्यात्मा विवृतान्तरः । यथोक्तं दूत आचष्टे वध्यः स्यादन्यथा ब्रुवन् ॥ ३ ॥ अप्रदानेन राज्यस्य शान्तिमस्मासु मार्गति । लुब्धः पापेन मनसा चरन्नसममात्मनः ॥ ४ ॥ स्थाता नः समये तस्मिन् धृतराष्ट्र इति प्रभो । नाहास्म समयं कृष्ण तद्धि नो ब्राह्मणा विदुः॥ ५ ॥ गृद्धो राजा धृतराष्ट्रः स्वधर्मं नानुपश्यति । वश्यत्वात् पुत्रगृद्धित्वान्मन्दस्यान्वेति शासनम् ॥ ६ ॥ इतो दुःखतरं किन्तु यदहं मातरं ततः । संविधातुं न शक्नोमि मित्राणां वा जनार्दन ॥ ७ ॥ काशिभिश्चेदिपाञ्चालैर्मत्स्यैश्च मधुसूदन । भवता चैव नाथेन पञ्च ग्रामा वृता मया ॥८॥ न च तानपि दुष्टात्मा धार्तराष्ट्रोऽनुमन्यते । स्वाम्यमात्मनि मत्वासावतो दुःखतरं नु किम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इधर संजय के (हस्तिनापुर को) लौटजाने के अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर यदुकुलश्रेष्ठ कृष्ण से बोले ॥ १ ॥ धृतराष्ट्र और उस के पुत्र का जो मनशा है,वह आप ने सुन लिया है, यह सब हे कृष्ण जो मुझे संजय ने बतलाया है ॥ २ ॥ यह सब धृतराष्ट्र के संमत है, इस से उस के हृदय का भाव खुलता है । क्योंकि दूत कहे के अनुसार ही कहता है, अन्यथा कहने से वह वध के योग्य ठहरता है ॥ ३ ॥ लोभी राजा अपने पापी मन से विषम आचरण करता हुआ राज्य दिये विना ही हम में शान्ति चाहता है ॥ ४ ॥ धृतराष्ट्र हमारी उस प्रतिज्ञा पर स्थिर रहेंगे, यह जान हे कृष्ण हमने प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ा है, हमारी इस बात को ब्राह्मण जानते हैं ॥ ५ ॥ अब लालची राजा धृतराष्ट्र अपने धर्म को नहीं पहचानता है, पुत्र के वश हो कर उस के लालच से उस मूढ के कहने पर चल रहा है ॥ ६ ॥ इस से बढ़

कर हे जनार्दन ! क्या दुःख होगा, कि मैं माता का और अपने मित्रों का मंगल कार्य नहीं करसकता हूं ॥ ७ ॥ काशिराज, चेदिराज पञ्चालराज, मत्स्यराज और आप मेरे नाथ (रक्षक) हैं, तौ भी मैंने केवल पांच ग्राम मांगे ॥ ८ ॥ दुष्टात्मा दुर्योधन अपनी प्रभुता मान कर उतना भी देना स्वीकार नहीं करता है, इस से बढ़ कर दुःख क्या होगा ॥ ९ ॥

मूल—नातः पापीयसीं काञ्चिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत् । यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रति दृश्यते ॥ १० ॥ धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम् । जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ॥ ११ ॥ ते वयं न श्रियं हातुमलं न्यायेन केनचित् । अत्र नो यतमानानां वधश्चेदपि साधु तत्॥ १२ ॥ तत्र नःप्रथमः कल्पो यद्वयं ते च माधव । प्रशान्ताः समभूताश्च श्रियं तामश्नुवीमहि ॥ १३ ॥ तत्रैषा परमा काष्ठा रौद्रकर्म क्षयोदया । यद्वयं कौरवान् हत्वा तानि राष्ट्राण्यवाप्नुमः ॥ १४ ॥ पापःक्षत्रियधर्मोऽयं वयं च क्षत्र बान्धवाः । स नः स्वधर्मोऽधर्मो वा वृत्तिरन्या विगर्हिता ॥ १५ ॥ पिता राजा च वृद्धश्च सर्वथा मानमर्हति । तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च धृतराष्ट्रो जनार्दन ॥ १६ ॥ पुत्रस्नेहश्च बलवान् धृतराष्ट्रस्य माधव । स पुत्रवशमापन्नः प्रणिपातं प्रहास्यति ॥ १७ ॥ तत्र किं मन्यसे कृष्ण प्राप्तकालमनन्तरम् । कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेमहि माधव ॥ १८ ॥ ईदृशेऽत्यर्थ कृच्छ्रेऽस्मिन् कमन्यं मधुसूदन । उपसंप्रष्टुमर्हामो त्वामृते पुरुषोत्तम ॥ १९ ॥ प्रियश्च प्रियकामश्च गतिज्ञः सर्वकर्मणाम् । को हि कृष्णाऽस्ति न स्त्वादृक् सर्वनिश्चयवित् सुहृत् ॥ २० ॥

अर्थ—शम्बर ने इस से बढ़ कर मन्द अवस्था और नहीं कही, कि जहां न आज न कल के लिये भोजन दीखता है ॥ १० ॥ धन को बड़ा धर्म कहते हैं, सब कुछ धन के सहारे पर है, धन वाले लोक में जीते हैं, मरे हुए ही हैं वह, जो नर धनहीन हैं ॥ ११ ॥ सो हम किसी प्रकार भी राज्यलक्ष्मी को छोड़ नहीं सकते, इस में यत्न करते हुओं का यदि मृत्यु भी हो, तो वह अच्छा है ॥ १२ ॥ इस में हमारा पहला विचार तो हे कृष्ण यह है, कि हम और वह इकट्ठे मिल कर शान्ति पूर्वक राज्यलक्ष्मी को भोगें ॥ १३ ॥ इस में यह काम जो कि रौद्र कर्म द्वारा विनाश लाने वाला है, कि हम कौरवों को मार कर राज्य भोगें, यह अन्तिम हद है ॥ १४ ॥ क्षत्रिय धर्म एक क्रूर धर्म है, और हम क्षत्रियजातीय हैं, सो यह हमारा अपना धर्म हो वा अधर्म हो, और वृत्ति हमारे लिये निन्दित है ॥ १५ ॥ हे कृष्ण धृतराष्ट्र हमारा पिता है राजा है, वृद्ध है, सर्वथा मान के योग्य है, इस से वह हमारा मान्य है और पूज्य है ॥ १६ ॥ किन्तु हे कृष्ण धृतराष्ट्र को पुत्र स्नेह बलवान् है, वह पुत्र के वश पड़ा हुआ हमारी नम्रता को नहीं मानेगा ॥ १७ ॥ इस में तुम हे कृष्ण ! पीछे क्या समयोचित समझते हो, कैसे हे कृष्ण हम धर्म और अर्थ से हीन न हों ॥ १८ ॥ हे मधुसूदन हे पुरुषोत्तम ऐसे इस कठिन विषय में हम और किस को पूछ सकते हैं ॥ १९ ॥ आप हमारे प्रिय, प्रिय चाहने वाले, और सब कर्मों की गति के जानने वाले हैं, कौन हे कृष्ण ! तुम्हारे सदृश सब निश्चयों का जानने वाला हमारा सुहृद् है ॥ २० ॥

मूल—एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजं जनार्दनः । उभयोरेव

वामथें यास्यामि कुरुसंसदम् ॥ २१ ॥ शमं तत्र लभेयं चेद् युष्मदर्थ महापयन् । पुण्यं मे सुमहद् राजं श्चरितं स्यान्महाफलम् ॥२२॥ मोचयेयं मृत्युपाशात् संरब्धान् कुरुसृंजयान् । पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च सर्वां च पृथिवी मिमाम् ॥ २३ ॥ न जातु गमनं पार्थ भवेत् तत्र निरर्थकम् । अर्थ प्राप्तिः कदाचित् स्यादन्ततो वाप्य वाच्यता ॥ २४ ॥

अर्थ—ऐसा कहने पर कृष्ण धर्मराज से बोले, तुम दोनों के अर्थ मैं कुरुओं की सभा में जाऊंगा ॥ २१ ॥ वहां यदि तुम्हारे अर्थ को हानि पहुंचाए विना सन्धि करा सका, तो हे राजन् मेरा यह काम बड़े फल वाला और पुण्य का काम होगा ॥२२॥ मैं जोश में भरे कौरवों और सृंजयों को, तथा धृतराष्ट्र के पुत्रों और पाण्डु के पुत्रों को और इस सारी पृथिवी को बचा लूंगा ॥ २३ ॥ हे राजन् ! हमारा वहां जाना निरर्थक किसी प्रकार नहीं होगा, संभव है, कार्य सिद्ध होजाए, अथवा अन्ततः हमारे ऊपर कोई आक्षेप नहीं रहेगा ॥ २४ ॥

मूल—युधिष्ठिर उवाच—यत् तुभ्यं रोचते कृष्ण स्वस्ति प्राप्नुहि कौरवान् । कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामि पुनरागतम् ॥ २५ ॥ विष्वक्सेन कुरून् गत्वा भरतान् शमयन् प्रभो । यथा सर्वे सुमनसः सह स्याम सुचेतसः ॥ २६ ॥ अस्मान् वेत्थ परान् वेत्थ वेत्थार्थान् वेत्थ भाषितुम् । यद्य दस्मद्धितं कृष्ण तत्तद्वाच्यः सुयोधनः ॥ २७ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे कृष्ण ! जैसे आप की रुचि हैं, कल्याण से आप कौरवों को प्राप्त हों, कृतार्थ हो कर कल्याणपूर्वक फिर आए आप को देखूं ॥ २५ ॥ हे कृष्ण ! कौरवों के

पास जा कर सब भरतों की शान्ति कराइये, जिस से कि सब आपस में शुभाकांक्षी और हितैषी हों ॥ २६ ॥ आप हमें जानते हैं, उन को जानते हैं, हमारे प्रयोजनों को जानते हैं, और कहना जानते हैं, सो हे कृष्ण ! जो २ हमारा हित हो, वह २ सुयोधन से कहना ॥ २७ ॥

अ० १६ (व० ८२) द्रौपदी कृष्ण संवाद

मूल—राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम् । कृष्णा दाशार्हमासीन मब्रवीच्छोक कर्शिता ॥ १ ॥ अपदानेन राज्यस्य यदि कृष्ण सुयोधनः । सन्धि मिच्छन्न कर्तव्यं तत्र गत्वा कथञ्चन ॥ २ ॥ शक्ष्यन्ति हि महाबाहो पाण्डवाः संजयैः सह । धार्तराष्ट्रबलं घोरं क्रुद्धं प्रति समासितुम् ॥ ३ ॥ न हि साम्ना न दानेन शक्योऽर्थस्तेषु कश्चन । तस्मात् तेषु न कर्तव्या कृपाते मधुसूदन ॥ ४ ॥ साम्ना दानेन वा कृष्ण ये न शाम्यन्ति शत्रवः। योक्तव्यस्तेषु दण्डः स्याज्जीवितं परिरक्षता ॥ ५ ॥ यथाऽवध्ये वध्यमाने भवेद् दोषो जनार्दन । स वध्यस्यावधे दृष्ट इति धर्मविदो विदुः ॥ ६ ॥ यथा त्वां न स्पृशे देष दोषः कृष्ण तथा कुरु। पाण्डवैः सह दाशार्हैः संजयैश्च स सैनिकैः ॥ ७ ॥ जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेष्वथ वृष्णिषु । दासी भूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता ॥ ८ ॥ नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः । स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात् ॥ ९ ॥ इत्युक्त्वा मृदु संहारं महाभुजगवर्चसम् । केशपक्षं वरारोहा गृह्य वामेन पाणिना ॥ १० ॥ अश्रुपूर्णेक्षणा कृष्णा कृष्णं वचन मब्रवीत् ॥ ११ ॥ अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासन करोद्धृतः । स्म-

र्तव्यः सर्व कार्येषु परेषां सन्धि मिच्छता ॥ १२ ॥ यदि भीमार्जुनौ कृष्ण कृपणौ सन्धिकामुकौ । पिता मे योत्स्यते वृद्धः सह पुत्रैर्महारथैः ॥ १३ ॥ पञ्चचैव महावीर्याः पुत्रा मे मधुसूदन । अभिमन्युं पुरस्कृत्य योत्स्यन्ते कुरुभिः सह ॥ १४ ॥ दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांसु गुण्ठितम् । यद्यहंतु न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १५ ॥ त्रयोदश हि वर्षाणि प्रतीक्षन्त्या गतानि मे । विधाय हृदये मन्युं प्रदीप्त मिवपावकम् ॥ १६ ॥ इत्युक्त्वा बाष्परुद्धेन कण्ठेनायत लोचना । रुरोद कृष्णा सोत्कम्पं सस्वरं बाष्प गद्गदम् ॥ १७ ॥ तमुवाच महाबाहुः केशवः परिसान्त्वयन् ॥ १८ ॥ धार्तराष्ट्राः काल पक्वा न चेच्छृण्वन्ति मे वचः । शेष्यन्ते निहता भूमौ श्वशृगालादनी कृताः ॥ १९ ॥ चलेद्धि हिमवान् शैलो मेदिनी शतधा फलेत् । द्यौः पतेच्च स नक्षत्रा न मे मोघं वचोभवेत् ॥ २० ॥

अर्थ—राजा के धर्म अर्थ युक्त हित वचन को सुन कर, शोक से दुर्बल द्रौपदी पास बैठे कृष्ण से बोली ॥ १ ॥ हे कृष्ण! सुयोधन यदि राज्य दिये बिना सन्धि चाहे, तो वहां जा कर किसी प्रकार न करनी ॥ २ ॥ हे कृष्ण ! पाण्डव सृंजयों के साथ मिल कर क्रुद्ध हुई दुर्योधन की भयंकर सेना के सामने खड़े होसकेंगे ॥ ३ ॥ उनके विषय में न साम से न दान से कोई प्रयोजन सिद्ध होसकता है, इस लिये हे मधुसूदन ! उन पर आप को कोई कृपा नहीं करनी चाहिये ॥ ४ ॥ हे कृष्ण ! जिस साम वा दान से शत्रु शान्त हुआ करते हैं, वह दण्ड उन पर प्रयोग करना चाहिये, तभी अपने जीवन की रक्षा हो सकती है ॥ ५ ॥ हे जनार्दन ! जैसे अवध्य के बध में दोष होता

है, वह वध्य के वध न करने में होता है, यह धर्म के जानने वाले जानते हैं ॥ ६ ॥ हे कृष्ण जैसे आप को यह दोष न लगे, वैसे अपनी २ सेना सहित पाण्डवों यादवों और सृञ्जयों के साथ मिल कर कीजिये ॥ ७ ॥ पाण्डवों पाञ्चालों और यादवों के जीते हुए उन पापियों ने सभा के मध्य में मुझे दासी बनाया ॥ ८ ॥ हे कृष्ण भीष्म और धृतराष्ट्र इन दोनों की मैं धर्म से स्नुषा थी, उन के सामने मैं बल से दासी बनाई गई ॥ ९ ॥ यह कह कर वह सुन्दरी नागतुल्य कान्ति वाली वेणी को बाएं हाथ से पकड़ कर, नेत्रों में आंसु भर कर कृष्ण से यह वचन बोली ॥ १०—११ ॥ दुःशासन के हाथों से उखाड़े हुए इस केश-समूह को हे कृष्ण शत्रुओं से सन्धि चाहते हुए आप सब कार्यों में स्मरण रक्खें ॥ १२ ॥ यदि हे कृष्ण भीम और अर्जुन दीन हो कर सन्धि चाहते हैं, तो मेरा वृद्ध पिता अपने महारथी पुत्रों को साथ ले कर युद्ध करेगा ॥ १३ ॥ और मेरे पांचों महाबली पुत्र अभिमन्यु को आगे कर के कौरवों के साथ युद्ध करेंगे ॥ १४ ॥ मैं यदि दुःशासन की भुजा को कटी हुई धूल में लिबड़ी न देखूं, तो मेरे हृदय को क्या शान्ति होसकती है॥१५॥ जलती आग की भांति क्रोध को हृदय में रोक कर प्रतीक्षा करते हुए मुझे तेरह वर्ष बीते हैं ॥ १६ ॥ यह कह कर विशाल नेत्रों वाली द्रौपदी आंसुओं से रुके गले के साथ कांपती हुई ऊंचे २ रोने लगी ॥ १७ ॥ महाबाहु कृष्ण उसे सान्त्वना देते हुए बोले ॥ १८ ॥ काल से पके हुए धृतराष्ट्र के पुत्र यदि मेरे वचन को नहीं सुनेंगे, तो मर कर कुत्ते और गीदड़ों के खाजे बन कर भूमि पर लेटेंगे ॥ १९ ॥ हिमालय पर्वत डोल जाए,

पृथिवी सौ टुकड़े होजाए, द्यौ तारों समेत गिर पड़े, पर मेरा वचन कभी मिथ्या नहीं होगा ॥ २० ॥

अ० १७ (व० ८३-८९) श्रीकृष्ण जी का हस्तिनापुर गमन

मूल—अर्जुन उवाच—कुरूणामद्य सर्वेषां भवान् सुहृद-नुत्तमः । सम्बन्धी दयितो नित्य मुभयोः पक्षयोरपि ॥ १ ॥ त्वामितः पुण्डरीकाक्ष सुयोधन ममर्षणम् । शान्त्यर्थं भ्रातरं ब्रूया यत् तद्वाच्य ममित्रहन् ॥ २ ॥ त्वया धर्मार्थ युक्तं चेदुक्तं शिव मनामयम् । हितं नादास्यसे बालो दिष्टस्य वश मेष्यति ॥ ३ ॥ ततो व्यपेते तमसि सूर्ये विमलतांगते । मैत्रे मुहूर्ते सम्प्राप्ते मृदु-र्चिषि दिवाकरे ॥ ४ ॥ कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे । स्फीतसस्य सुखे काले कल्पः सत्त्ववतांवरः ॥ ५ ॥ कृत्वा पौर्वा-ह्णिकं कृत्यं प्रययौ पुरुषोत्तमः । पृथिवीं चान्तरिक्षं च रथघोषेण नादयन् ॥ ६ ॥ प्रयान्तं देवकीपुत्रं परवीररुजो दश । महारथा महाबाहु मन्वयुः शस्त्रपाणयः ॥ ७ ॥ पदातीनां सहस्रं च सादिनां च परंतप । भोज्यं च विपुलं राजन् प्रेष्याश्च शतशोऽपरे ॥ ८ ॥

अर्थ—अर्जुन बोले—इस समय आप कुरुओं के सब से बढ़ कर सुहृद्, सम्बन्धी और दोनों पक्षों को प्यार करने वाले हैं ॥ १ ॥ सो आप हे कृष्ण ! यहां से जा कर न सहारने वाले भाई दुर्योधन को जो २ उचित है, सो कहिये ॥ २ ॥ आप से कहे धर्म अर्थ से युक्त कल्याण कारक हित वचन को नहीं मानेगा, तो मृत्यु के वश पड़ेगा ॥ ३ ॥ फिर जब अन्धेरा दूर हुआ और सूर्य साफ निकल आया, मैत्र मुहूर्त के आने पर, सूर्य की नर्म किरणों के समय, शरद् के बीतने और हेमन्त के

आने पर कार्तिकमास में, खेती की बहुतायत से सुखदायक समय में, उदार हृदय शक्तिमान् कृष्ण सवेरे का धर्म कृत्य कर के, रथ की ध्वनि से द्यो और अन्तरिक्ष को गुंजाते हुए चले ॥ ४—६॥ जाते हुए देवकी पुत्र के पीछे शत्रुवीरों के पीड़ने वाले दस महारथी हज़ार प्यादे और हज़ार सवार हाथों में शस्त्र लिये उस के पीछे चले । नाना प्रकार के भोज्य और बहुत से नौकर साथ थे ॥ ७—८ ॥

मूल—पश्यन् बहुपशून् ग्रामान् रम्यान् हृदय तोषणान्। पुराणि च व्यतिक्रामन् राष्ट्राणि विविधानि च ॥ ९ ॥ वृक-स्थलं समासाद्य केशवः परवीरहा । प्रकीर्णरश्मावादित्ये व्योम्नि वै लोहितायति ॥ १० ॥ अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथा-विधि । रथमोचन मादिश्य सन्ध्यामुप विवेश ह ॥ ११ ॥ सुमृष्टं भोजयित्वा च ब्राह्मणांस्तत्र केशवः । भुक्त्वा च सहतैः सर्वैं रवसत् तां क्षपां सुखम् ॥ १२ ॥ प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान् सर्व माह्निकम् । ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः प्रययौ नगरं प्रति ॥ १३ ॥ धार्तराष्ट्रास्तमायान्तं प्रत्युज्जग्मुः स्वलं कृताः । दुर्योधनादृते सर्वे भीष्म द्रोण कृपादयः ॥ १४ ॥ पौराश्च बहवो राजन् हृषीकेशं दिदृक्षवः । यानैर्बहुविधै रन्ये पद्भिरेव तथापरे ॥ १५ ॥ स वै पथि समागम्य भीष्मेणाक्लिष्टकर्मणा । द्रोणेन धार्तराष्ट्रैश्च तैर्वृतो नगरं ययौ ॥ १६ ॥ कृष्ण संमाननार्थं च नगरं समलं कृतम् । बभूव राजमार्गश्च बहुरत्नसमाचितः ॥ १७ ॥ आहृ-तानि वरस्त्रीभिर्गृहाणि सुमहान्त्यपि । प्रचलन्तीव भारेण दृश्यन्ते स्म महीतले ॥ १८ ॥ तथा च गतिमन्तस्ते वासुदेवस्य वाजिनः । प्रनष्टगतयोऽभूवन् राजमार्गे नरैर्वृते ॥ १९ ॥ स गृहं धृतराष्ट्रस्य

प्राविशच्छत्रुकर्शनः । पाण्डुरं पुण्डरीकाक्षः प्रासादैरुप शोभितम् ॥ २० ॥

अर्थ—हृदय के प्रसन्न करने वाले बहुत से रमणीय ग्रामों को देखते हुए, अनेक पुरों और देशों को लंघ कर, वृकस्थल में पहुंच कर, सूर्य की रश्मियों के मन्द होने, और आकाश के लाल होने पर, कृष्ण रथ से उतर कर यथाविधि शौच करके, (सारथि को) घोड़ों के खोलने की आज्ञा दे कर सन्ध्या उपासते भए ॥९-११॥ कृष्ण जी वहां ब्राह्मणों को उत्तम भोजन करा कर और उन के साथ भोजन करके वह रात सुख से वहां रहे ॥ १२ ॥ प्रातः काल उठ कर कृष्ण जी ने सब दैनिक कर्म किया, और ब्राह्मणों से अनुज्ञा ले कर हस्तिनापुर को गए ॥ १३ ॥ दुर्योधन के सिवाय धृतराष्ट्र के सब पुत्र और भीष्म द्रोण कृप आदि सज धज कर आगे लेने को गए ॥ १४ ॥ हे राजन् कृष्ण को देखने की इच्छा से पुरवासी जन कई यानों से और कई पैदल ही गए ॥ १५ ॥ कृष्णजी मार्ग में उत्तम कर्मों वाले भीष्म, द्रोण और धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ मिलकर, उन से घिरे हुए नगर को गए ॥ १६ ॥ कृष्ण के संमान के लिये नगर सजाया गया था, और राजमार्ग भांति २ की उत्तम वस्तुओं से भरे थे ॥ १७ ॥ बड़े २ भी महल उत्तम स्त्रियों से भरे थे, प्रतीत होता था कि मानों उन के भार से छत भूतल पर आया चाहते हैं ॥ १८ ॥ और मनुष्यों से भरे राजमार्ग में वेग वाले भी कृष्ण के घोड़े बहुत धीमे २ चलते थे ॥ १९ ॥ शत्रु-नाशक कृष्ण अनेक महलों से शोभायमान धृतराष्ट्र के धवल-गृह में गए ॥ २० ॥

मूल—अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः । सहैव द्रोण भीष्माभ्या मुदातिष्ठन्महायशाः ॥ २१ ॥ ततो राजानमासाद्य धृतराष्ट्रं यशस्विनम् । सभीष्मं पूजयामास वार्ष्णेयो वाग्भि रञ्जसा ॥ २२ ॥ तत्रासीदूर्जितं मृष्टं काञ्चनं महदासनम् । शासनाद् धृतराष्ट्रस्य तत्रोपाविशदच्युतः ॥ २३ ॥ कृतातिथ्यस्तु गोविन्दः सर्वान् परिहसन् कुरून् । आस्ते साम्बान्धिकं कुर्वन् कुरुभिः परिवारितः ॥ २४ ॥ सोऽर्चितो धृतराष्ट्रेण पूजितश्च महायशाः । राजानं समनुज्ञाप्य निरक्रामदरिंदमः ॥ २५ ॥ विदुरावसथं रम्य मुपातिष्ठत माधवः । अर्चयामास दाशार्हं सर्वं कामै रुपस्थितम् ॥ २६ ॥ कृतातिथ्यं तु गोविन्दं विदुरः सर्वधर्मवित् । कुशलं पाण्डुपुत्राणामपृच्छन्मधुसूदनम् ॥ २७ ॥ तस्य सर्वं सविस्तारं पाण्डवानां विचेष्टितम् । क्षत्तुराचष्ट दाशार्हः सर्वं प्रत्यक्ष दर्शिवान् ॥ २८ ॥

अर्थ—श्रीकृष्ण के आते ही प्रज्ञाचक्षु महायशस्वी राजा द्रोण और भीष्म साथ उठ खड़े हुए ॥ २१ ॥ तब कृष्ण ने पास आकर यशस्वी धृतराष्ट्र और भीष्म का यथोचित वचनों से मान किया ॥ २२ ॥ वहां पर बहुमूल्य स्वच्छ सुनहरी आसन था, वहां श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र की आज्ञा से बैठ गए ॥ २३ ॥ कृष्ण आतिथ्य पा कर कौरवों से घिरे हुए, सम्बन्ध के अनुसार कौरवों से बात चीत और परिहास करते हुए देर तक वहां बैठे रहे ॥ २४ ॥ फिर धृतराष्ट्र से सत्कार और पूजा पा कर शत्रुनाशन महायशस्वी कृष्ण राजा से अनुज्ञा ले कर बाहर आए ॥ २५ ॥ और विदुर के रमणीय घर में जा ठहरे, घर आए श्रीकृष्ण की विदुर ने सारी कामनाओं से पूजा की ॥ २६ ॥ सब मर्यादाओं

के जानने वाले विदुर कृष्ण का आतिथ्य कर के पाण्डवों का कुशल पूछने लगे ॥ २७ ॥ कृष्ण ने जिन्हों ने सब प्रत्यक्ष देखा हुआ था, विदुर को पाण्डवों की सारी चेष्टा बतलाई ॥ २८ ॥

अ०१८ (व०९०-९१) कुन्ती और दुर्योधन से मिलाप

मूल—अथोपगम्य विदुरमपराह्णे जनार्दनः । पितृष्वसारं स पृथा मभ्य गच्छदरिन्दमः ॥ १ ॥ पृथा मामन्त्र्य गोविन्दः कृत्वा चाभि प्रदक्षिणम् । दुर्योधनगृहं शौरिरभ्यगच्छ दरिन्दमः ॥ २ ॥ अभ्यागच्छति दाशार्हे धार्तराष्ट्रो महायशाः । उदतिष्ठत् सहामात्यः पूजयन् मधुसूदनम् ॥ ३ ॥ तत्र गोविन्द मासीनं प्रसन्नादित्यवर्चसम् । उपासां चक्रिरे सर्वे कुरवो राजभिः सह ॥ १४ ॥ ततो दुर्योधनो राजा वार्ष्णेयं जयतां वरम् । न्यमन्त्रयद् भोजनेन नाभ्यनन्दच्च केशवः ॥ ५ ॥ ततो दुर्योधनः कृष्ण मब्रवीत् कुरुसंसदि । कस्मादन्नानि पानानि नाग्रहीस्त्वं जनार्दन॥६॥ उभयोश्च ददत्साह्य मुभयोश्च हित रतः । सम्बन्धी दयितश्चासि धृतराष्ट्रस्य माधव ॥ ७ ॥ स एव मुक्तो गोविन्दः प्रत्युवाच महामनाः ॥ ८ ॥ कृतार्था भुञ्जते दूताः पूजां गृह्णन्ति चैव हि । कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत ॥ ९ ॥ दुर्योधन उवाच— कृतार्थंवाऽकृतार्थं च त्वां वयं मधुसूदन । यतामहे पूजयितुं दाशार्ह न च शक्नुमः ॥ १० ॥ न च तत्कारणं विद्मो यस्मिन्नो मधुसूदन । पूजां कृतां प्रीयमाणैर्नामंस्थाः पुरुषोत्तम ॥ ११ ॥ एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रं जनार्दनः । अभिवीक्ष्य सहामात्यं दाशार्हः प्रहसन्निव ॥ १२ ॥ नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थ कारणात् । न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कथंचन ॥ १३ ॥ संप्रीति भोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः । न च संप्रीयसे

राजन्नचैनापद्गतावयम् ॥ १४ ॥ एवमुक्त्वा महाबाहुर्दुर्योधनममर्षणम् । निवेशाय ययौ वेश्म विदुरस्य महात्मनः ॥ १५ ॥ तमभ्यगच्छद् द्रोणश्च कृपो भीष्मोऽथ बाल्हिकः । कुरवश्च महाबाहुं विदुरस्य गृहेस्थितम् ॥ १६ ॥ त ऊचुर्माधवं वीरं कुरवो मधुसूदनम् । निवेदयामो वार्ष्णेय सरत्नांस्ते गृहान् वयम् ॥ १७ ॥ तानुवाच महातेजाः कौरव्यान् मधुसूदनः । सर्वे भवन्तो गच्छन्तु सर्वा मे पचितिः कृता ॥ १८ ॥ ततः क्षत्तान्नपानानि शुचीनि गुणवन्ति च । उपाहरदनेकानि केशवाय महात्मने ॥ १९ ॥ तैस्तर्पयित्वा प्रथमं ब्राह्मणान् मधुसूदनः । वेदविद्भयो ददौ कृष्णः प्रथमं द्रविणान्यपि ॥ २० ॥ ततोऽनुयायिभिः सार्धं मरुद्भिरिव वासवः । विदुरान्नानि बुभुजे शुचीनि गुणवन्ति च ॥ २१ ॥

अर्थ—श्रीकृष्ण विदुर से मिल कर दिन के पिछले भाग में अपनी फूफी पृथा को मिलने गए ॥ १० ॥ पृथा से पूछकर और उस की प्रदक्षिणा करके शत्रुदमन श्रीकृष्ण दुर्योधन के घर गए ॥ २ ॥ कृष्ण को आते देख महायशस्वी दुर्योधन कृष्ण को आदर देता हुआ मन्त्रियों समेत उठ खड़ा हुआ ॥ ३ ॥ वहां जब निर्मलसूर्यतुल्यकान्ति वाले श्रीकृष्ण बैठ गए, तो सब कौरव और दूसरे राजे आस पास बैठ गए ॥ ४ ॥ राजा दुर्योधन ने विजयशालियों में श्रेष्ठ कृष्ण को जब भोजन का निमन्त्रण दिया, तो कृष्ण ने स्वीकार न किया ॥ ५ ॥ तब दुर्योधन उस कुरुसभा में कृष्ण से बोले, किस लिये हे जनार्दन आप हमारे अन्न पान ग्रहण नहीं करते ॥ ६ ॥ जब कि आपने दोनों को सहायता दी है, और दोनों के हित में रत हैं, और जब कि तुम धृतराष्ट्र के प्यारे सम्बन्धी भी हो ॥ ७ ॥ ऐसा

कहने पर उदार हृदय कृष्ण ने उत्तर दिया ॥ ८ ॥ दूत कृतार्थ होकर (दूसरे का) अन्न खाते हैं, और पूजा ग्रहण करते हैं, सो कृतार्थ हुए को मन्त्रियों समेत मुझ को, हे भारत पूजियेगा ॥ ९ ॥ दुर्योधन बोला—कृतार्थ हुए वा अकृतार्थ हुए आपको हे कृष्ण ! हम पूजने का यत्न करते हैं, हां समर्थ नहीं हैं ॥१०॥ किन्तु हे मधुसूदन हम कोई ऐसा कारण नहीं जानते हैं, कि जिस से प्रसन्न हो कर की हुई हमारी पूजा को आप स्वीकार नहीं करते ॥ ११ ॥ ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने दुर्योधन और उस के मन्त्रियों की ओर देखा, और हंस कर यह उत्तर दिया ॥ १२ ॥ मैं धर्म को किसी प्रकार भी नहीं छोड़ सकता हूं, न काम से न क्रोध से, न द्वेष से, न प्रयोजनसिद्धि के निमित्त, न तर्क वाद से, न किसी लोभ से ॥ १३ ॥ दूसरे के अन्न प्रीति से खाए जाते हैं, वा आपदा में खाए जाते हैं, परन्तु आपने अभी मेरी प्रीति का कोई कार्य नहीं किया है, और न ही हम आपदा में पड़े हुए हैं ॥ १४ ॥ वह महाबाहु न सहारने वाले दुर्योधन को यह कह कर, टिकने के लिये महात्मा विदुर के घर गए ॥ १५ ॥ वहां विदुर के घर में स्थित उन के पास द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म, बाल्हिक, और दूसरे कौरव आए॥१६॥ वह कौरव वीर कृष्ण से बोले, हे कृष्ण आप के रहने के लिये हम रत्न जटित प्रासाद निवेदन करते हैं ॥ १७ ॥ महा तेजस्वी कृष्ण कौरवों से बोले आपने मेरा सारा आदर किया है, अब आप भी चल कर विश्राम करें ॥ १८ ॥ उन के चले जाने पर विदुर कृष्ण के लिये गुणों वाले भांति २ के पवित्र अन्न लाए ॥ १९ ॥ उन अन्नों से श्रीकृष्ण ने पहले वेदवेत्ता ब्राह्मणों को

त्तम किया, और धन भी दिये ॥ २० ॥ पीछे अपने अनुयायियों के साथ विदुर के पवित्र और गुण वाले अन्न खाए, जैसे इन्द्र मरुतों के साथ खाए ॥ २१ ॥

अ० १९ (व० ९२-९३) विदुर कृष्ण संवाद

मूल—तंभुक्तवन्तमाश्वस्तं निशायां विदुरोऽब्रवीत् । नेदं सम्यग् व्यवसितं केशवागमनं तव ॥ १ ॥ अर्थधर्मातिगो मन्दः संरम्भी च जनार्दन । मानघ्नो मानकामश्च वृद्धानां शासनातिगः ॥ २ ॥ त्वयोच्यमानः श्रेयोऽपि संरम्भान्नग्रहीष्यति ॥ ३ ॥ संविच्च धार्तराष्ट्राणां सर्वेषामेव केशव । शमे प्रयतमानस्य तव सौभ्रात्रकांक्षिणः ॥ ४ ॥ न पाण्डवानामस्माभिः प्रतिदेयं यथोचितम् । इति व्यवसितास्तेषु वचनं स्यान्निरर्थकम् ॥ ५ ॥ यत्र सूक्तं दुरुक्तं च समं स्यान्मधुसूदन । न तत्र प्रलपेत् प्राज्ञो बधिरेष्विव गायनः ॥ ६ ॥ बलं बलवदप्यस्य यदि वक्ष्यसि माधव । त्वय्यस्य महती शंका न करिष्यति ते वचः ॥ ७ ॥ समागताः कृतवैराः पुरस्तात् त्वया राजानो हृतसाराश्च कृष्ण । तेषां मध्ये प्रविशेथा यदि त्वं न तन्मतं मम दाशार्ह वीर ॥ ८ ॥

अर्थ—भोजन के अनन्तर रात को आराम से बैठे श्रीकृष्ण से विदुर बोले, हे केशव ! यह आप का आना बुद्धिमानी का काम नहीं हुआ है ॥ १ ॥ क्योंकि हे जनार्दन ! यह मूर्ख धर्म अर्थ को लंघा हुआ क्रोधी दूसरे का मान तोड़ने वाला, अपने मान का भूखा और वृद्धों के शासन में नहीं चलता है ॥ २ ॥ आप उस के भले की कहेंगे, तौ भी क्रोध से उसे ग्रहण नहीं करेगा ॥ ३ ॥ आप शान्ति के लिये प्रयत्न करते हैं, और

भाइयों में एका चाहते हैं, किन्तु हे केशव ! धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों की यह प्रतिज्ञा है। कि पाण्डवों को हम कुछ नहीं देंगे, उन का यह पक्का निश्चय हैं, उन को कहना निरर्थक है ॥४-५॥ जहां पर भली बुरी सब बात एक ही समान है, वहां बुद्धिमान् को व्यर्थ बोलना नहीं चाहिये, जैसे गवैया बहरों के पास (नहीं गाता) ॥ ६ ॥ आप उसे बलवत् से बलवत भी वचन कहेंगे, पर आप के विषय में उस को बड़ी शंका है, वह आप की बात को नहीं मानेगा ॥ ७ ॥ दूसरा, हे कृष्ण ! यहां वह राजे आ इकट्ठे हुए हैं, जिन से आप का वैर है, जिनके बल को आपने तोड़ा हुआ है, इन के मध्य में आप प्रविष्ट हों, हे यादववीर यह मेरे संमत नहीं है ॥ ८ ॥

मूल—श्रीभगवानुवाच—धर्मार्थयुक्तं तथ्यं च यथा त्वय्युपपद्यते । तथा वचन मुक्तोऽस्मि त्वयैतत् पितृ मातृवत् ॥ ९ ॥ सत्यं प्राप्तं च युक्तं वाप्येवमेव यथाऽऽत्थ मा । शृणुष्वागमने हेतुं विदुरावहितो भव ॥ १० ॥ दौरात्म्यं धार्तराष्ट्रस्य क्षत्रियाणां च वैरताम् । सर्व मेतदहं जानन् क्षत्तः प्राप्तोऽद्य कौरवान् ॥ ११ ॥ पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम् । यो मोचयेन्मृत्यु पाशात् प्राप्नुयाद्धर्म मुत्तमम् ॥ १२ ॥ धर्मकार्यं यतन् शक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः । प्राप्तो भवति तत्पुण्य मत्र मे नास्ति संशयः ॥ १३ ॥ सोऽहं यतिष्ये प्रशमं क्षत्तः कर्तुं ममायया । कुरूणां सृञ्जयानां च संग्रामे विनिशिष्यताम् ॥ १४ ॥ आकेश ग्रहणान्मित्र मकार्यात् संनिवर्तयन् । अवाच्यः कस्यचिद् भवति कृतयत्नो यथा बलम् ॥ १५ ॥ तव समर्थं शुभं वाक्यं धर्मार्थ सहितं हितम् । धार्तराष्ट्रः सहामात्यो ग्रहीतुं विदुरार्हति ॥ १६ ॥ हितं

हि धार्तराष्ट्राणां पाण्डवानां तथैव च । पृथिव्यां क्षत्रियाणां च यतिष्येऽहं समायया ॥ १७ ॥ हिते प्रयतमानं मां शंकेद् दुर्योधनो यदि । हृदयस्य च मे प्रीति रानृण्यं च भविष्यति ॥ १८ ॥ ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते । सर्वयत्नेन माध्यस्थ्यं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः ॥ १९ ॥ न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा । शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरु पाण्डवान् ॥२०॥ उभयोः साधयन्नर्थं महमागत इत्युत । तत्र यत्न महं कृत्वा गच्छेयं नृष्ववाच्यताम् ॥ २१ ॥ मम धर्मार्थ युक्तं हि श्रुत्वा वाक्य मनामयम् । न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वश मेष्यति ॥ २२ ॥ अहापयन् पाण्डवार्थं यथावच्छमं कुरूणां यदि चाचरेयम् । पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन् मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ २३ ॥ अपि वाचं भाषमाणस्य काव्यां धर्मारामामर्थवतीं मर्हिस्राम् । अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः शमार्थं मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥ २४ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् बोले—हे विदुर ! धर्म अर्थ से युक्त सच्चे वचन कहने का जैसे आप को अभ्यास है, वैसे पिता माता की भांति आपने मुझे यह हित वचन कहा है ॥ ९ ॥ सत्य उचित और युक्तियुक्त ऐसा ही है, जैसा आपने मुझे कहा है, तथापि हे विदुर चित्त लगा कर मेरे आने का कारण सुनो ॥ १० ॥ हे विदुर मैं दुर्योधन की नीचता और क्षत्रियों का वैर यह सब जान कर भी कौरवों के पास आया हूं ॥ ११ ॥ हाथी घोड़े रथों समेत सारी पृथिवी जो उलट पलट होने लगी है, उस को जो मृत्यु की फांस से छुड़ा सकता है, वह मनुष्य अवश्य ही बड़ा धर्म लाभ कर सकता है ॥ १२ ॥ अपनी शक्ति के अनुसार यत्न करता हुआ यदि धर्मकार्य को पूरा नहीं कर

पाता है, तो उसे उस का पुण्यफल मिल जाता है, इस में मुझे संदेह नहीं ॥ १३ ॥ सो हे विदुर ! संग्राम में नष्ट होने को तय्यार हुए कुरु पाञ्चालों के मध्य में विना छल के शान्ति स्थापन करने का यत्न करूंगा ॥ १४ ॥ जिस तरह भी होसके बालों से खींच कर भी मित्र को अकार्य से रोकना चाहिये, अपनी शक्ति अनुसार यत्न कर लेने से उस पर कोई आक्षेप नहीं रहता ॥ १५ ॥ हे विदुर ! दुर्योधन को उचित तो यही है, कि जो वाक्य हित से भरा है, युक्ति संगत है, धर्म अर्थ से युक्त शुभ है, उसे अवश्य ग्रहण करे ॥ १६ ॥ मैं अपनी ओर से धृतराष्ट्र के पुत्रों पाण्डु के पुत्रों और दूसरे क्षत्रियों की भलाइ का निष्कपट यत्न करूंगा ॥ १७ ॥ सो हित में लगे हुए पर यदि दुर्योधन शंका करे, तब मेरे हृदय को तो सन्तोष होगा, और मैं (सब क्षत्रियों का) अनृण हूंगा ॥ १८ ॥ ज्ञातियों की परस्पर फूट में जो मित्र पूरे यत्न के साथ रोकता नहीं है, बुद्धिमान् उसे मित्र नहीं जानते ॥ १९ ॥ अधर्मिष्ठ मूढ शत्रु भी यह नहीं कह सकेंगे, कि समर्थ होकर कृष्ण ने क्रोध में आए कुरु पाण्डवों को न हटाया ॥ २० ॥ सो दोनों का अर्थ साधने के लिये मैं आया हूं, इस में यत्न कर चुकने के पीछे मैं लोगों का आक्षेपार्ह नहीं हूंगा ॥ २१ ॥ धर्म अर्थ से युक्त और सुख शान्ति लाने वाले मेरे वचन को यदि मूर्खता से स्वीकार न करेगा, तो मृत्यु के वश पड़ेगा ॥ २२ ॥ पाण्डवों के अर्थ को हानि पहुंचाए विना यदि मैं कुरुओं में पूरी २ शान्ति करा सकूं, तो हे महात्मन् ! मेरा यह एक पुण्य कर्म होगा, क्योंकि कौरव मृत्यु की फांस से छूट जाएंगे ॥ २३ ॥ परमात्मा करे, कि धर्म

अर्थ से युक्त, हानि से बचाने वाले मेरे इस नीतिवचन को धृत-राष्ट्र के पुत्र ध्यान से सोचें, और शान्ति के लिये उपस्थित हुए मुझ से कौरव सहमत हों ॥ २४ ॥

अ० २० (व० ९४) श्रीकृष्ण का कुरु सभा में प्रवेश

मूल—तथा कथयतोरेव तयोर्बुद्धिमतोस्तदा । शिवा नक्षत्र सम्पन्ना सा व्यतीयाय शर्वरी॥ १ ॥ तत उत्थाय दाशार्ह ऋषभः सर्वसात्वताम् । सर्वमावश्यकं चक्रे प्रातः कार्यं जनार्दनः ॥ २ ॥ अथ दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः । सन्ध्यां तिष्ठन्तमभ्येत्य दाशार्हमपराजितम् ॥ ३ ॥ आचक्षेतां तु कृष्णस्य धृतराष्ट्रं सभागतम् । कुरूंश्च भीष्म प्रमुखान् राज्ञः सर्वांश्च पार्थिवान् ॥४॥ ततो विमल आदित्ये ब्राह्मणेभ्यो जनार्दनः । ददौ हिरण्यं वासांसि गाश्चाश्वांश्च परंतपः ॥ ५ ॥ अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा ब्राह्मणांश्च जनार्दनः । कौस्तुभं मणिमामुच्य श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ६ ॥ कुरुभिः संवृतः कृष्णो वृष्णिभिश्चाभि रक्षितः । आतिष्ठत रथं शौरिः सर्वयादवनन्दनः ॥ ७ ॥ अन्वारुरोह दाशार्हं विदुरः सर्वधर्मवित् । सर्वप्राण भृतां श्रेष्ठं सर्वबुद्धिमतां वरम्॥८ ॥ ततो दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः। द्वितीयेन रथेनैनमन्वयातां परंतपम् ॥ ९ ॥ सात्यकिः कृतवर्मा च वृष्णीनां चापरे रथाः । पृष्ठतोऽनुययुः कृष्णं गजैरश्वैरथैरपि ॥ १० ॥

अर्थ—इस प्रकार उन दोनों बुद्धिमानों के बातें करते ही वह तारों भरी शुभ रात बीती ॥ १ ॥ तब यदुवंशियों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने उठ कर प्रातःकाल का सारा आवश्यक कार्य किया ॥ २ ॥ तिस पीछे श्रीकृष्ण जब सन्ध्या उपास रहे थे, उस समय

दुर्योधन और शकुनि ने उन के पास आकर निवेदन किया, कि राजा धृतराष्ट्र और भीष्म आदि कौरव तथा दूसरे सभी राजे सभामण्डप में आगए हैं (आप की बाट देख रहे हैं) ॥ ३—४ ॥ तब सूर्य के पूरा निकल आने पर शत्रुनाशन कृष्ण ने ब्राह्मणों को सुवर्ण वस्त्र गौएं और घोड़े दिये ॥ ५ ॥ अग्नि की और ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा करके कौस्तुभमणि पहर, परम शोभा से चमकते हुए कृष्ण यादवनन्दन रथ पर चढ़े, कौरव उन के चारों ओर थे, किन्तु यादव शरीर रक्षक साथ थे ॥ ६—७ ॥ सब धर्मों के जानने वाले विदुर सब जनों में श्रेष्ठ और सब बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कृष्ण के साथ बैठे ॥ ८ ॥ तब दूसरे रथ पर दुर्योधन और शकुनि उन के पीछे चले ॥ ९ ॥ सात्यकि कृतवर्मा और दूसरे यादववीर घोड़ों हाथियों और रथों पर कृष्ण के पीछे गए॥१०॥

मूल—ततोऽभ्याशगते कृष्णे समहृष्यन्नराधिपाः । श्रुत्वा तं रथनिर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ ११ ॥ आसाद्य तु सभाद्वार मृषभः सर्व सात्वताम् । अवतीर्य रथाच्छौरिः कैलासशिखरोपमात् ॥ १२ ॥ नवमेघ प्रतीकाशां ज्वलन्तीमिव तेजसा । महेन्द्र सदन प्रख्यां प्रविवेश सभां ततः ॥ १३ ॥ अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञा चक्षुर्नरेश्वरः । सहैव द्रोण भीष्माभ्या मुदतिष्ठन् महायशाः ॥ १४ ॥ उत्तिष्ठति महाराजे धृतराष्ट्रे जनेश्वरे । तानि राजसहस्राणि समुत्तस्थुः समन्ततः ॥ १५ ॥ निषसादासने कृष्णो राजानश्च यथासनम् । दुःशासनः सात्यकये ददावासन मुत्तमम् ॥ १६ ॥ अविदूरे तु कृष्णस्य कर्णदुर्योधनावुभौ । एकासने महात्मानौ निषीदतुरमर्षणौ ॥ १७ ॥ विदुरो मणि पीठे तु शुक्लस्पर्ध्याजिनोत्तरे । संस्पृशन्नासनं शौरेर्महामतिरुपाविशत् ॥ १८ ॥

अतसीपुष्प संकाशः पीतवासा जनार्दनः । व्यभ्राजत सभामध्ये हेम्नीवोपहितो मणिः ॥ १९ ॥ ततस्तूष्णीं सर्वमासीद् गोविन्दगत मानसम् । न तत्र कश्चिद् किञ्चिद्वा व्याजहार पुमान् क्वचित् ॥ २० ॥

अर्थ—कृष्ण जी के निकट आने पर, मेघ की ध्वनि तुल्य उनके रथ की ध्वनि को सुन कर सब राजे हर्ष से भर गए ॥ ११ ॥ यादववर श्रीकृष्ण जी सभाद्वार पर पहुंच कर, कैलास शिखर के तुल्य सुन्दर रथ से उतरे ॥ १२ ॥ और नए मेघ के तुल्य तेज से चमकती हुई, महेन्द्र सभा के तुल्य सभा में प्रविष्ट हुए ॥ १३ ॥ कृष्ण जी जब सम्मुख आगए, तो महायशस्वी राजा प्रज्ञाचक्षु द्रोण और भीष्म समेत उठ खड़े हुए ॥ १४ ॥ महाराज धृतराष्ट्र के उठने पर आस पास के सभी उठ खड़े हुए ॥ १५ ॥ पहले कृष्णजी आसन पर बैठ गए, फिर सभी राजे अपने २ आसनों पर बैठ गए, दुःशासन ने सात्यकि को उत्तम आसन दिया ॥ १६ ॥ किसी की बात को न सहने वाले कर्ण और दुर्योधन दोनों कृष्ण के निकट इकट्ठे एक आसन पर बैठे ॥ १७ ॥ महामति विदुर कृष्ण के आसन के साथ, श्वेत बहु मूल्य मृगछाला जिस पर बिछी है, ऐसे मणिपीठ पर बैठे ॥ १८ ॥ अतसी के पुष्प तुल्य (श्यामसुन्दर) श्रीकृष्ण पीले वस्त्र पहने हुए सभा के मध्य में सुवर्ण में जड़ी मणि की भांति शोभायमान हो रहे थे ॥ १९ ॥ सब चुप थे, सब का मन कृष्ण में लगा था, सभा में कोई भी पुरुष किसी प्रकार की कोई भी बात चीत नहीं कर रहा था ॥ २० ॥

अ० २१ (व० ९५) सन्धि के लिये श्रीकृष्ण की वक्तृता

मूल—तेष्वासीनेषु सर्वेषु तूष्णीं भूतेषु राजसु । धृतराष्ट्र माभिप्रेक्ष्य समभाषत माधवः ॥ १ ॥ कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत । अप्रणाशेन वीराणा मेतद् याचितु मागतः ॥ २ ॥ इदं ह्यद्य कुलं श्रेष्ठं सर्वराजसु पार्थिव । श्रुतवृत्तोपसंपन्नं सर्वैः समुदितं गुणैः ॥ ३ ॥ तस्मिन्नेवं विधे राजन् कुले महति तिष्ठति । त्वन्निमित्तं विशेषेण नेह युक्तमसाम्प्रतम् ॥ ४ ॥ त्वं हि धारयिता श्रेष्ठः कुरूणां कुरुसत्तम । मिथ्याप्रचरतां तात बाह्येष्वा-भ्यन्तरेषु च ॥ ५ ॥ ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः । धर्मार्थौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत् ॥ ६ ॥ सेयमापन्महा घोरा कुरुष्वेव समुत्थिता । उपेक्ष्यमाणा कौरव्य पृथिवीं घात-यिष्यति ॥ ७ ॥ त्वय्यधीनः शमो राजन् मयि चैव विशांपते । पुत्रान् स्थापय कौरव्य स्थापयिष्याम्यहं परान् ॥ ८ ॥ आज्ञा तव हि राजेन्द्र कार्या पुत्रैः सहान्वयैः । हितं बलवदप्येषां ति-ष्ठतां तव शासने ॥ ९ ॥ स्वयं निष्फल मालक्ष्य संविधत्स्व वि-शांपते । सहाय भूता भरतास्तवैवस्युर्जनेश्वर ॥ १० ॥

अर्थ—सभी राजे आसनों पर बैठे थे, सन्नाटा छाया हुआ था। तो धृतराष्ट्र की ओर देख कर श्रीकृष्ण बोले ॥ १ ॥ हे भारत ! जिस प्रकार शूर वीरों का नाश हुए बिना कौरवों और पाण्डवों में शान्ति स्थापित हो, इस याचना के लिये मैं यहां आया हूं ॥ २ ॥ आप का कुल हे राजन् वेदज्ञान और धर्मा-चार से युक्त, और सारे सद्गुणों से भरा हुआ है, इस लिये आज यह कुल सब राजवंशों में श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥ हे राजन् ! इस

प्रकार के प्रतिष्ठित महाकुल में कोई भी अनुचित कार्य, विशेषतः आप के निमित्त होना, योग्य नहीं है ॥ ४ ॥ हे कुरुवर ! आप ही कौरवों को मर्यादा में ले जाने वाले हैं, जब वह अपनों वा परायों के विषय में कोई मिथ्या व्यवहार करने लगें ॥ ५ ॥ हे कुरुवर ! आप के पुत्र दुर्योधन आदि इस समय धर्म अर्थ की परवाह न करके दुर्जनों की भांति चल रहे हैं ॥ ६ ॥ सो यह बड़ी भयंकर विपत्ति कौरवों के सामने आई है,जो उपेक्षा की गई, तो सारी पृथिवी का नाश करेगी ॥ ७ ॥ हे प्रजापते ! इस समय शान्ति स्थापन करना मेरे और आप के अधीन है । हे कौरव्य आप पुत्रों को थामिये, मैं पाण्डवों को रोकूंगा ॥ ८ ॥ हे राजेन्द्र आप की आज्ञा अपने साथियों समेत आप के पुत्रों को माननी चाहिये, आपके शासन में रहने से इन का बड़ा भारी हित है ॥ ९ ॥ (वैरको) स्वयं निष्फल जान कर शान्ति कर, हे जनेश्वर ! सब भरतवंशी आप के साथी होंगे ॥ १० ॥

मूल—लोकस्येश्वरतां भूयः शत्रुभिश्चाप्रधृष्यताम् । प्राप्स्यसि त्वममित्रघ्न सहितः कुरु पाण्डवैः ॥ ११ ॥ एतानेव पुरोधाय सत्कृत्य च यथापुरा । अखिलां भोक्ष्यसे सर्वां पृथिवीं पृथिवीपते ॥ १२ ॥ संयुगे वै महाराज दृश्यते सुमहान् क्षयः । क्षये चोभयतो राजन् कं धर्ममनुपश्यसि ॥ १३ ॥ पाण्डवैर्निहतैः संख्ये पुत्रैर्वापि महाबलैः । यद् विन्देथाः सुखं राजन् तद्ब्रूहि भरतर्षभ ॥ १४ ॥ शूराश्च हि कृतास्त्राश्च सर्वे युद्धाभिकांक्षिणः। पाण्डवास्तावकाश्चैव तान् रक्ष महतो भयात् ॥ १५ ॥ त्राहि राजन्निमं लोकं न नश्येयुरिमाः प्रजाः । त्वयि प्रकृतिमापन्ने शेषः स्यात् कुरुनन्दन ॥ १६ ॥

अर्थ—हे शत्रुनाशन ! कौरव और पाण्डवों के मेल से आप जगत् में प्रभुता पाएंगे, और शत्रु इकट्ठे होकर भी आप को नहीं दवा सकेंगे ॥ ११ ॥ हे पृथिवीनाथ ! (दूसरों से आप को सहायता लेने की क्या आवश्यकता है) पाण्डवों को ही पूर्ववत् आदर सत्कार दे कर सारी पृथिवी को भोगें ॥१२॥ युद्ध में हे महाराज ! भारी क्षय दीख रहा है, दोनों ओर के क्षय में हे राजन् आप क्या धर्म देखते हैं ॥ १३ ॥ युद्ध में पाण्डवों के वा महावली तेरे पुत्रों के मारे जाने से हे राजन् ! जो सुख पाओगे वह वतलाइये ॥ १४ ॥ पाण्डुपुत्र और तेरे पुत्र सब शूरवीर अस्त्र निपुण युद्ध के लिये तय्यार हैं, हे राजन् ! इन को बड़े भय से वचाइये ॥ १५ ॥ हे राजन् इस लोक को वचाइये, प्रजाओं का नाश न हो, हे कुरुनन्दन ! आप (विकार छोड़) प्रकृति में स्थित हों, तभी प्रजाएं शेष रह सकती हैं ॥ १६ ॥

मूल—शुक्ला वदान्या ह्रीमन्तः आर्याः पुण्याभिजातयः । अन्योऽन्य सचिवा राजं स्तान् पाहि महतो भयात्॥ १७ ॥ शिवेनेमे भूमिपालाः समागम्य परस्परम् । सह भुक्त्वा च पीत्वा च प्रतियान्तु यथागृहम् ॥ १८ ॥ हार्दं यत्पाण्डवेष्वासीत् प्राप्तेऽस्मिन्नायुषः क्षये । तदेव ते भवत्वद्य संधत्स्व भरतर्षभ ॥ १९ ॥ वाला विहीनाः पित्रा ते त्वयैव परिवर्धिताः । तान् पालय यथान्यायं पुत्रांश्च भरतर्षभ ॥ २० ॥ भवतैव हि रक्ष्यास्ते व्यसनेषु विशेषतः । मा ते धर्मस्तथैवार्थो नश्येत भरतर्षभ ॥ २१ ॥ आहुस्त्वां पाण्डवा राजन्नभिवाद्य प्रसाद्य च । भवतः शासनाद् दुःखमनुभूतं सहानुगैः ॥ २२ ॥ द्वादशेमानि वर्षाणि वने निर्व्युषिता-

नि वै । त्रयोदशं तथाऽज्ञातैः सजने परिवत्सरम् ॥ २३ ॥ स्थाता नः समये तस्मिन् पितेति कृत निश्चयः । नाहास्म समयं तात तच्च नो ब्राह्मणा विदुः ॥ २४ ॥ तस्मिन् नः समये तिष्ठास्थितानां भरतर्षभ । नित्यं संक्लेशिता राजन् स्वराज्यांशं लभेमहि ॥ २५ ॥ गुरुत्वं भवति प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्ष्महे । स भवान् मातृपितृवदस्मासु प्रातिपद्यताम् ॥ २६ ॥पित्रा स्थापयितव्या हि वय मुत्पथमास्थिताः । संस्थापय पथिष्वस्मांस्तिष्ठ धर्मे सुवर्त्मनि ॥ २७ ॥

अर्थ—यह उदार हृदय, ह्रीमान्, शुद्ध कुलों वाले वर्ण के श्वेत आर्य परस्पर सहायक होने चाहियें हे राजन् ! इन को बड़े भय से बचाओ ॥ १७ ॥ यह सब राजे परस्पर मिल मिला कर, और इकठे भोजन पान कर के कुशल मे अपने २ घरों को लौटें ॥ १८ ॥ हे भरतवर ! पाण्डवों पर जो आप का प्रेम (पहले) था, वही प्रेम अब इस पिछली आयु में आप का हो, (उन के संग) सन्धि कर लीजिये ॥ १९ ॥ बालक ही जब वह पिता से हीन हुए थे, तब आपने ही उन का पालन पोषण किया था, उन को अब पुत्र जान कर यथोचित पालन कीजिये ॥ २० ॥ आप को ही उन की रक्षा करनी चाहिये, विशेष करके ऐसे व्यसन के समय पर, हे भरत वर ! इस प्रकार आप का धर्म और अर्थ बना रहेगा ॥ २१ ॥ हे राजन् ! पाण्डवों ने आप को नमस्कार कर के प्रेम पूर्वक यह वचन कहा है—' हे तात ! आप की आज्ञानुसार हमने अनुचरों सहित बहुत दुःख सहा है ॥ २२ ॥ बारह वर्ष निर्जन में और तेरहवां वर्ष सजन में छिप कर वास किया है ॥ २३ ॥ इस निश्चय से, कि हमारा

आपस में जो नियम हुआ है, हमारे पिताजी उस पर स्थिर रहेंगे, हमने नियम को नहीं छोड़ा है, यह सब ब्राह्मण जानते हैं ॥ २४ ॥ उस परस्पर के नियम पर हम स्थिर रहे हैं, आप उस पर स्थित हों, हे राजन् हमने सदा क्लेश सहे हैं, अब हमें अपना राज्यांश मिलना चाहिये ॥ २५ ॥ आप को गुरु (माता पिता) मान कर हमने क्लेश सहे हैं, अब आप माता पिता की भांति हमें स्वीकार कीजिये ॥ २६ ॥ आप पिता हैं, आप को हमें मर्यादा पर लाना चाहिये, जब कि हम सब कुमार्ग पर पड़ने लगें, आप धर्ममार्ग पर स्थिर हो कर आप सब को अपने२ मार्ग पर खड़ा कीजिये ॥ २७ ॥

मूल—आहुश्चेमां परिषदं पुत्रास्ते भरतर्षभ । धर्मज्ञेषु स भासत्सु नेह युक्त मसाम्प्रतम् ॥ २८ ॥ यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्य यत्रानृतेन च । हन्यते प्रेक्ष्यमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥२९॥ धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान् । ये धर्म मनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ॥ ३० ॥ सत्यमाहु र्धर्म्यं च न्याय्यं च भरतर्षभ । शक्यं किमन्यद् वक्तुं ते दानादन्यज्जनेश्वर ॥ ३१ ॥ ब्रुवन्तु ते महीपालाः सभायां ये समासते । धर्मार्थौ संप्रधार्यैव यदि सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥ ३२ ॥ प्रमुञ्चेमान् मृत्युपाशात् क्षत्रियान् पुरुषर्षभ । प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा मन्युवशमन्वगाः ॥३३ ॥ पित्र्यं तेभ्यः प्रदायांशं पाण्डवेभ्यो यथोचितम् । ततः सपुत्रः सिद्धार्थो भुङ्क्ष्व भोगान् परंतप ॥ ३४ ॥ अजातशत्रुं जानीषे स्थितं धर्मे सतां सदा । स पुत्रे त्वयि वृत्तिं च वर्तते यां नराधिप ॥ ३५ ॥ दाहितश्च निरस्तश्च त्वामेवोपाश्रितः पुनः । इन्द्र-

बन्धस्य भारत ॥ ४ ॥ महाप्राज्ञ कुले जातः साध्वेतत् कर्तुमर्हसि । श्रुतवृत्तोपसंपन्नः सर्वैः समुदितो गुणैः ॥ ५ ॥ प्राज्ञैः शूरैर्महोत्साहैरात्मवद्भिर्बहु श्रुतैः । संधत्स्व पुरुषव्याघ्र पाण्डवैर्भरतर्षभ ॥ ६ ॥ ज्ञातीनां चैव भूयिष्ठं मित्राणां च परंतप । शमे शर्म भवेत्तात सर्वस्य जगतस्तथा ॥ ७ ॥ ह्रीमानसि कुले जातः श्रुतवान नृशंसवान् । तिष्ठ तात पितुः शास्त्रे मातुश्च भरतर्षभ॥८॥ एतच्छ्रेयो हि मन्यन्ते पिता यच्छास्ति भारत । उत्तमापद्गतः सर्वः पितुः स्मराति शासनम् ॥ ९ ॥ रोचते ते पितुस्तात पाण्डवैः सह संगमः । सामात्यस्य कुरुश्रेष्ठ तत्तुभ्यं तात रोचताम् ॥ १० ॥

अर्थ—धृतराष्ट्र बोले—हे कृष्ण ! आपने मुझे लोक परलोक के सुधारने वाला, धर्म और न्याय से युक्त वचन कहा है, पर हे तात ! मैं अपने वश नहीं, जो किया जा रहा है (पाण्डवों को उन का राज्य न देना) यह मुझे अभीष्ट नहीं ॥ १ ॥ हे कृष्ण हे महाबाहो हे पुरुषोत्तम ! मेरे शासन को उलांघते हुए इस बेसमझ को तुमही सन्मार्ग पर लाने का यत्न करो ॥ २ ॥तब धर्म और अर्थ के तत्त्व को जानने वाले श्रीकृष्ण लौट कर क्रोधी दुर्योधन से यह मधुर वचन बोले ॥ ३ ॥ हे कुरुवर दुर्योधन मेरी इस बात पर ध्यान दो, जो विशेष कर आपके लगातार कल्याण के लिये है ॥ ४ ॥ हे महाप्राज्ञ ! तुम उत्तम कुल में जन्मे हो, शास्त्र ज्ञान, सदाचार और (ऐश्वर्य आदि) सारे गुणों से युक्त हो, अतएव यह भला कर्म तुम्हें अवश्य करना चाहिये ॥ ५ ॥ बुद्धिमान, शूरवीर, उत्साह से भरे हुए, अपने आप को वश में रखने वाले, शास्त्र के जानने वाले पाण्डवों के साथ हे भरतवर !

सन्धि कीजिये ॥ ६ ॥ हे तात ! शान्ति में विशेष कर ज्ञातियों का और मित्रों का और साधारणतः सारे ही जगत् का मंगल होगा ॥ ७ ॥ हे तात ! उत्तम कुल में जन्मे हो, ह्रीमान्, शास्त्रज्ञ, दयावान् हो, इस से हे भरतवर ! तुम्हें माता और पिता की आज्ञा में रहना चाहिये ॥ ८ हे भारत ! बुद्धिमान् इस को कल्याण समझते हैं, जो पिता का शासन है, भारी विपद् में पड़ कर सब को पिता का शासन स्मरण आता है ॥ ९. ॥ हे तात ! आप के पिता को पाण्डवों के साथ मेल पसंद है, हे भरत वर ! आप को अपने मन्त्रियों समेत वही पसंद आना चाहिये ॥१०॥

मूल—श्रुत्वा यः सुहृदां शास्त्रं मर्त्यो न प्रतिपद्यते । विपाकान्ते दहत्येनं किंपाकमिव भक्षितम् ॥ ११ ॥ योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते । शृणोति प्रतिकूलानि द्विषतां वशमेति सः ॥ १२ ॥ मुख्यानमात्यानुत्सृज्य यो निहीनान्निषेवते । स घोरामापदं प्राप्य नोत्तार माधि गच्छति ॥ १३ ॥ योऽसत्सेवी वृथाचारो न श्रोता सुहृदां सताम् । परान् वृणीते स्वान् द्वेष्टि तं गौस्त्यजति भारत ॥ १४ ॥ को हि शक्रसमान् ज्ञातीनातिक्रम्य महारथान् । अन्येभ्यस्त्राण माशंसेत् त्वदन्यो भुवि मानवः ॥ १५ ॥ जन्मप्रभृति कौन्तेया नित्यं विनिकृतास्त्वया । न च ते जात कुप्यन्ति धर्मात्मानो हि पाण्डवाः ॥ १६ ॥ त्वयापि प्रतिपत्तव्यं तथैव भरतर्षभ । स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु मा मन्युवश मन्वगाः ॥ १७ ॥ त्रिवर्ग युक्तः प्राज्ञाना मारम्भो भरतर्षभ । धर्मार्था वनुरुध्यन्ते त्रिवर्गासंभवे नराः ॥ १८ ॥ पृथक् च विनि विष्टानां धर्मं धीरोऽनुरुध्यते । मध्यमोऽर्थं कालिं बालः काम मेवानुरुध्यते ॥ १९ ॥ इन्द्रियैः प्राकृतो लोभाद् धर्मं विप्रजहाति यः ।

मस्थं त्वयैवासौ सपुत्रेण विवासितः ॥ ३६ ॥ स तत्र निवसन् सर्वान् वशमानीय पार्थिवान् । त्वन्मुखानकरोद् राजन्नत्वामत्य वर्तत ॥ ३७ ॥ तस्यैवं वर्तमानस्य सौबलेन जिहीर्षता । राष्ट्राणि धनधान्यं च मयुक्तः परपोपधिः ॥ ३८ ॥ अहं तु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत। धर्मादर्थाच्च सुखाच्चैव मा राजन्नीनशः प्रजाः ॥ ३९ ॥ लोभेऽति मसक्तान पुत्रान् निगृह्णीष्व विशांपते ॥४०॥ स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिन्दमाः । यत्ते पथ्यतमं राजं स्तिस्मिंस्तिष्ठ परंतप ॥ ४१ ॥ तद्वाक्यं पार्थिवाः सर्वे हृदयैः समपूजयन् । न तत्र कश्चिद्वक्तुं हि वाचा माक्रामदग्रतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे भारत तेरे पुत्र (पाण्डव) इस को धर्मात्माओं की सभा कहते हैं, सो ऐसे धर्मज्ञ सभासदों के होते हुए अन्याय होना युक्त नहीं ॥ २८ ॥ जहां सभासदों के सामने धर्म अधर्म से और सत्य झूठ से मारा जाता है, वहां सभासद् स्वयं मरे हुए हैं ॥ २९ ॥ जो धर्म को मरता देखते हुए चुप चाप बैठे रहते हैं, धर्म उन को ऐसे उखाड़ फेंकता है,जैसे नदी तट के वृक्षों को।३०। इन पाण्डवों ने धर्म और नीति के अनुसारी सच्चे ही वचन- कहे हैं, हे नरनाथ ! आप उन को (राज्य) देने के सिवाय और क्या कह सकते हैं ॥ ३१ ॥ सभा में जो राजे बैठे हैं, यही धर्म अर्थ का निश्चय कर के सत्य कहें, कि मैं सत्य कह रहा हूं, वा नहीं ॥ ३२ ॥ हे भरत वर ! इन क्षत्रियों को मृत्यु की फांस से छुड़ाइये, हे भरत वर शान्त हों, क्रोध के वश में न पड़ें ॥३३॥ हे शत्रुनाशन ! पाण्डवों को यथोचित पैतृक भाग दे कर आप पुत्रों समेत आनन्दित होकर भोगों को भोगिये ॥ ३४ ॥ हे नरनाथ आप युधिष्ठिर को जानते हैं, कि जैसा वह सदा सत्पु-

रुषों के धर्म में स्थित है, और जैसे वह आप से और आप के पुत्रों से बर्तता है ॥ ३५ ॥ उसे जलाया गया, निकाला गया, फिर भी उस ने आप का ही आश्रय लिया, और आप ने ही दुर्योधन के साथ मिल कर उसे इन्द्रप्रस्थ में निकाला था ॥ ३६॥ उस ने वहां रह कर सब राजाओं को वश में कर के, आप की ओर झुकाया था, आप का उल्लंघन नहीं किया ॥ ३७ ॥ ऐसे बर्ताव वाले का जो शकुनि ने देश धन धान्य हरने की इच्छा की, यह बड़ा कपट किया गया ॥ ३८ ॥ हे भारत ! मैं आप का और पाण्डवों का मंगल चाहता हूं, धर्म अर्थ और सुख के निमित्त आप शान्ति कीजिये, हे राजन् प्रजाएं नष्ट न हों ॥ ३९ ॥ लोभ के मार्ग में चलते हुए पुत्रों को हे राजन् ! रोकिये॥४०॥ शत्रुनाशक पाण्डव ! आप की सेवा के लिये तय्यार हैं। और युद्ध के लिये भी तय्यार हैं, आगे हे परंतप ! जो आप हिततम समझते हैं, सो कीजिये॥ ४१ ॥ इस बात का सब राजाओं ने हृदय से आदर किया, और वहां आगे किसीने बोलने का साहस न किया ॥ ४२ ॥

अ० २२ (व० १२४) दुर्योधन के प्रति उपदेश

मूल—धृतराष्ट्र उवाच—स्वर्ग्यं लोक्यं च मामात्थ धर्म्यं न्याय्यं च केशव। न त्वहं स्ववशस्तात क्रियमाणं न मे प्रियम् ॥ १ ॥ अंग दुर्योधनं कृष्ण मन्दं शास्त्रातिगं मम। अनुनेतुं महाबाहो यतस्व पुरुषोत्तम ॥ २ ॥ ततोऽभ्यावृत्य वार्ष्णेयो दुर्योधनममर्षणम्। अब्रवीन्मधुरां वाचं सर्वधर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ३ ॥ दुर्योधन निबोधेदं मद्वाक्यं कुरुसत्तम। शर्मार्थं ते विशेषेण सानु-

समुद्यताम् । अर्धं प्रदाय पार्थेभ्यो महतीं श्रियमाप्नुहि ॥ ३१ ॥ पाण्डवैः संशमं कृत्वा कृत्वा च सुहृदां वचः। संप्रीयमाणो मित्रैश्च चिरं भद्राण्यवाप्स्यसि ॥ ३२ ॥

अर्थ—हे भारत ! अपने को वश में रखने वाला तो तीनों लोकों में किसी साधारण पुरुष का भी अपमान नहीं करेगा, क्या फिर श्रेष्ठ पाण्डवों का ॥ २३ ॥ क्रोध के वश हुआ पुरुष कुछ नहीं समझता है, दोनों ओर से खिचा हुआ सब (वस्त्र आदि) टूट जाता है, हे भरत इसी को प्रमाण देख ॥ २४ ॥ अर्जुन युद्ध में देव, दैत्य, मनुष्य, गन्धर्व सब से अजेय है, युद्ध में चित्त मत लगाओ ॥ २५ ॥ और इस अपने समस्त राजबल में कोई ऐसा पुरुष तो बाहर निकालो, जो युद्ध भूमि में अर्जुन के हाथ पड़ कर (शरीर से) कुशल पूर्वक बच के घर लौटसके ॥ २६ ॥ संग्राम में मेरे साथ मिल कर विरुद्ध खड़े हुए अर्जुन को कौन आह्वान करने का साहस करसकता है, चाहे साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो ॥ २७ ॥ हे भरतवर ! तुम अपने पुत्र भाई ज्ञाति सम्बन्धियों की ओर देखो, ये भरतवर तुम्हारे निमित्त नाश न होवें ॥ २८ ॥ कौरवों का कुल शेष रहे, ' यह कुल पहले था ' यह बात न होजाए, हे राजन् ! तू कुलघ्न न कहा जाए, तेरी कीर्ति नष्ट न हो ॥ २९ ॥ (सन्धि करने में) पाण्डव तुझे (भरतों के) यौवराज्य में स्थापन करेंगे, और धृतराष्ट्र को ही महाराज बनाएंगे ॥ ३० ॥ हे तात ! तय्यार हो कर घर आती लक्ष्मी का अपमान मत कर, पाण्डवों को आधा राज्य दे कर बड़ी राज्यलक्ष्मी को पाओ ॥ ३१ ॥ मित्रों के वचन को मान कर पाण्डवों से मेल करो, मित्रों के साथ आन-

न्द मनाते हुए दीर्घकाल तक कल्याण पाओगे ॥ ३२ ॥

अ० २३(व०१२५) भीष्म, द्रोण, विदुर और धृतराष्ट्र के वचन

मूल—भीष्म उवाच—कृष्णेन वाक्य मुक्तोसि सुहृदां शम मिच्छता । अन्वपद्यस्व तत्तात मामन्युवश मन्वगाः ॥ १ ॥ धर्म्यमर्थ्यं महाबाहु राह त्वां तात केशवः । तदर्थ मभिपद्यस्व मा- राजन्नीनशः प्रजाः ॥ २ ॥ द्रोण उवाच—धर्मार्थयुक्तं वचन माह त्वां तात केशवः । तथा भीष्मः शान्तनवस्तज्जुपस्व नराधिप ॥ ३ ॥ प्राज्ञौ मेधाविनौ दान्ता वर्थ कामौ बहुश्रुतौ । आहतुस्त्वां हितं वाक्यं तज्जुषस्व नराधिप ॥ ४ ॥ माऽजीघनः प्रजाः सर्वाः पुत्रान् भ्रातॄंस्तथैव च । वासुदेवार्जुनौ यत्र विद्ध्यजेयानलं हि तान् ॥ ५ ॥ एतच्चैव मतं सत्यं सुहृदोः कृष्णभीष्मयोः। यदि ना- दास्यसे तात पश्चात्तप्स्यासि भारत ॥ ६ ॥

अर्थ—भीष्म बोले—हे तात ! मित्रों की शान्ति चाहते हुए कृष्ण ने जो वचन कहा है, उसे स्वीकार करो, क्रोध के वश न पड़ो ॥ १ ॥ हे तात ! महाबाहु कृष्ण ने तुझे धर्म अर्थ युक्त वचन कहा है, उस की बात को स्वीकार कर, हे राजन् ! प्रजाओं का नाश न कर ॥ २ ॥ द्रोण बोले—हे तात ! कृष्ण ने तथा भीष्म ने तुम्हें धर्म अर्थ से युक्त वचन कहा है, हे राजन् ! उस के अनुसार चलो ॥ ३ ॥ दोनों बुद्धिमान्,मेधावी, जितेन्द्रिय, भला चाहने वाले, बहु श्रुतहैं, तुझे उन्होंने हित की बात कही है, उस पर चलो ॥ ४ ॥ मत सारी प्रजाओं, पुत्र और भाइयों का नाश करो, जिधर वासुदेव और अर्जुन हैं उन को पूरे २ अजेय समझो ॥ ५ ॥ यह हमारे हितैषी कृष्ण और

कामार्थावनु पायेन लिप्समानो विनश्यति ॥ २० ॥ कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत । न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन ॥ २१ ॥ उपायं धर्ममेवाहुस्त्रिवर्गस्य विशांपते । लिप्समानो हि तेनाशु कक्षेऽग्निरिव वर्धते ॥ २२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य हितैषियों के शासन को सुन कर ग्रहण नहीं करता है, वह भक्षण किये बिजौरे की भांति अन्त में इस को जलाता है ॥ ११ ॥ जो पुरुष अपने भला चाहने वाले के वचन को प्रतिकूल जान कर नहीं सहारता, और (मूर्ख साथियों के वास्तव) प्रतिकूल वचन सुनता है, वह शत्रुओं के वश पड़-ता है ॥ १२ ॥ उत्तम स्वभाव वाले मन्त्रियों को त्याग कर जो नीच स्वभाव वालों का सेवन करता है, वह घोर विपद् में पड़ कर उस से निस्तारा नहीं पाता है ॥ १३ ॥ हे भारत ! जो दुर्जनों का साथी, सदाचार से हीन है, और उत्तम स्वभाव वाले मित्रों के वचन को नहीं सुनता है, परायों को अपनाता है और अपनों से द्वेष करता है, उस को भूमि त्याग देती है ॥ १४ ॥ इस पृथिवी में तुम्हारे विना और कौन पुरुष इन्द्र समान, महारथी, अपने ज्ञातियों को छोड़ परायों से रक्षा चा-हेगा ॥ १५ ॥ जन्म से ले कर सदा पाण्डवों का तुमने अनादर किया, पर वह तो भी कुपित नहीं हैं, पाण्डव निःसंदेह धर्मात्मा हैं ॥ १६ ॥ तुम्हें भी हे भरतवर ! अपने मुख्य बन्धुओं के विषय में वैसे ही चलना चाहिये, मत क्रोध के वश पड़ो ॥१७॥ हे भरतवर ! बुद्धिमानों का काम धर्म अर्थ और काम (उपभोग) से युक्त होता है, जब तीनों का इकट्ठा होना, असंभव जान पड़े, तो धर्म और अर्थ का अनुरोध करते हैं ॥ १८ ॥ जब तीनों

अलग २ (विरुद्ध) पड़ते हों, तो उत्तम पुरुष उन में से धर्म का अनुरोध करता है, मध्यम अर्थ का, अधम केवल-काम का, जो कलह का कारण होता है ॥ १९ ॥ इन्द्रियों के वश में पड़ा जो नीच पुरुष धर्म को त्याग देता है, और नीच उपाय से अर्थ और काम को पाना चाहता है, वह नष्ट होता है ॥ २० ॥ जो काम और अर्थ को पाना चाहता है, उसे पहले धर्म का ही आचरण करना चाहिये, क्योंकि धर्म से अर्थ वा काम कभी अलग नहीं होता है ॥ २१ ॥ हे राजन् धर्म को ही त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) का उपाय बतलाते हैं, अतः उस से (धर्म से) पाना चाहता हुआ, घास में चिंगाड़ी की भांति बहुत जल्दी बढ़ जाता है ॥ २२ ॥

मूल—आत्मवान् नात्मन्येत त्रिषु लोकेषु भारत। अप्यन्यं प्राकृतं कंचित् किमु तान् पाण्डवर्षभान् ॥ २३ ॥ अमर्षवशमापन्नो न किञ्चिद् बुध्यते जनः । छिद्यते ह्याततं सर्वं प्रमाणं पश्य भारत ॥ २४ ॥ अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये सर्वैरपि सुरासुरैः । मानुषैरपि गन्धर्वैर्मायुद्धे चेत आधिथाः ॥ २५ ॥ दृश्यतां वा पुमान् कश्चित् समग्रे पार्थिवे बले। योऽर्जुनं समरे प्राप्य स्वस्तिमान् व्रजेद् ग्रहान् ॥ २६ ॥ मद् द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमर्हति । युद्धे प्रतीपमायान्त मपि साक्षात् पुरंदरः ॥ २७ ॥ पश्य पुत्रांस्तथा भ्रातॄन् ज्ञातीन् संबन्धिनस्तथा । त्वत्कृते न विनश्येयुरिमे भरतसत्तमाः ॥ २८ ॥ अस्तु शेषं कौरवाणां मा पराभूरिदं कुलम् । कुलघ्न इति नोच्येथा नष्ट कीर्तिर्नराधिप ॥ २९ ॥ त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः । महाराज्येपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ३० ॥ मा तात श्रियं पायान्तीमव मंस्थाः

भीष्म दोनों को अभिमत है, हे तात! यदि स्वीकार न करोगे, तो पछताओगे ॥ ६ ॥

मूल—विदुर उवाच—दुर्योधन न शोचामि त्वामहं भरतर्षभ। इमौ तु वृद्धौ शोचामि गान्धारीं पितरं च ते ॥ ७ ॥ यावनाथौ चरिष्येते त्वया नाथेन दुर्हृदा। हतमित्रौ हतामात्यौ लूनपक्षा विवाण्हजौ ॥ ८ ॥ अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्य भाभापत। आसीनं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥ ९ ॥ दुर्योधन निबोधेदं शौरिणोक्तं महात्मना। आदत्स्व शिवमत्यन्तं योगक्षेम वदव्ययम् ॥ १० ॥ अनेन हि सहायेन कृष्णेनाक्लिष्ट कर्मणा। इष्टान् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु ॥ ११ ॥ सुसंहतः केशवेन तात गच्छ युधिष्ठिरम्। चर स्वस्त्ययनं कृत्स्नं भरता नामनामयं ॥ १२ ॥ वासुदेवेन तीर्थेन तात गच्छस्व संशपं। कालप्राप्तमिदं मन्ये मा त्वं दुर्योधनातिगाः ॥ १३ ॥

अर्थ—विदुर बोले—हे भरतवर दुर्योधन! मुझे तुम्हारी सोच नहीं, पर इन दोनों वृद्धों की गान्धारी और तुम्हारे पिता की सोच है ॥ ७ ॥ जो तुझ शत्रु रूप नाथ को पाकर मित्रों और साथियों के नाश से कटे हुए पंखों वाले पक्षियों की भांति अनाथ होकर विचरेंगे ॥ ८ ॥ अब भाइयों के साथ मिल कर बैठे और राजाओं से घिरे हुए दुर्योधन से राजा धृतराष्ट्र बोले॥ ९ ॥ हे दुर्योधन महात्मा कृष्ण के कहे पर ध्यान दो, अत्यन्त कल्याणकारी, योगक्षेम से भरे हुए, इस अटल मत को स्वीकार करो ॥ १० ॥ यह उच्च कर्मों वाले कृष्ण जब हमारे साथी होंगे, तो हम सब राजाओं के बीच अपने अभीष्ट मनोरथ लाभ

करेंगे ॥ ११ ॥ सो हे तात! कृष्ण के संग होकर युधिष्ठिर के पास जाओ, इस प्रकार सारे भरतों का निर्दोष कल्याण साधो ॥ १२ ॥ कृष्ण को गुरु मान शान्ति के लिये तय्यार होजाओ, मेरी समझ में सन्धि करने का यह उत्तम समय है, हे दुर्योधन इसे मत टालो ॥ १३ ॥

अ० २४ (व० १२७) दुर्योधन का उत्तर

मूल—श्रुत्वा दुर्योधनो वाक्यमप्रियं कुरुसंसदि । प्रत्युवाच महाबाहुं वासुदेवं यशस्विनम् ॥ १ ॥प्रसमीक्ष्य भवानेतद्वक्तु मर्हसि केशव । मामेव हि विशेषेण विभाष्य परिगर्हसे ॥ २ ॥ भवान् क्षत्ता च राजा वा प्याचार्यो वा पितामहः ।मामेव परिगर्हन्ते नान्यं कञ्चन पार्थिवं ॥ ३ ॥ न चाहं लक्षये कंचिद् व्यभिचारमिहा-त्मनः । अथ सर्वे भवन्तो मां विद्विषन्ति सराजकाः ॥ ४ ॥ प्रियाभ्युपगते द्यूते पाण्डवा मधुसूदन । जिताः शकुनिना राज्यं तत्र किं मम दुष्कृतं ॥ ५ ॥ अपराधो न चास्माकं यत्ते ऽक्षैः पराजिताः । अजेया जयतां श्रेष्ठ पार्थाः प्रव्राजिताः वनम् ॥ ६ ॥ किमस्माभिः कृतं तेषां कस्मिन् वा पुनरागासि । धार्तराष्ट्रान् जिघांसन्ति पाण्डवाः सृंजयैः सह ॥ ७ ॥

अर्थ—राजा दुर्योधन कौरवों की सभा के बीच अप्रिय वचन को सुन कर महाबाहु यशस्वी श्रीकृष्ण से बोले ॥ १ ॥ हे कृष्ण ! आप को यह सोच कर कहना उचित है, आप वि-शेष करके मुझे कठोर वचन कह कर निन्दते हैं ॥ २ ॥ आप विदुर, राजा, आचार्य और पितामह (भीष्म) मुझे ही निन्दते हैं, किसी दूसरे राजा को नहीं ॥ ३ ॥ मैं तो इस में अपना एक

भी दोष नहीं देखता हूं, तौ भी आप सब तथा दूसरे राजे मुझ से ही द्वेष करते हैं ॥ ४ ॥ हे कृष्ण (पाण्डवों से) प्यारा मान कर स्वीकार किये हुए जुए में शकुनि ने पाण्डवों से राज्य जीत लिया, उस में मेरा क्या दोष था ॥ ५ ॥ और हे विजयिवर ! इस में भी हमारा क्या अपराध है, जो अजेय पाण्डव पासों में पराजित हुए वन को निकाले गए ॥ ६ ॥ हमने उन का क्या बिगाड़ा है, किस अपराध के निमित्त पाण्डव संजयों के साथ मिल कर धृतराष्ट्र के पुत्रों का हनन करना चाहते हैं ॥ ७ ॥

मूल—न चापि वय मुग्रेण कर्मणा वचनेन वा । प्रभ्रष्टाः प्रणमामेह भयादपि शतक्रतुम ॥ ८ ॥ न हि भीष्म कृपद्रोणाः स कर्णा मधुसूदन । देवैरपि युधा जेतुं शक्याः किमुत पाण्डवैः॥ ९॥ स्वधर्म मनुपश्यन्तो यदि माधव संयुगे । अस्त्रेण निधनं काले प्राप्स्यामः स्वर्ग्य मेव तत् ॥ १० ॥ उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषं । अप्यपर्वणि भज्येत न नमेदिह कहिंचित् ॥ ११॥ इति मातंग वचनं परीप्सन्ति हितेप्सवः । एष धर्मः क्षत्रियाणां मत मेतच्च मे सदा ॥ १२ ॥ यावच्च राजा ध्रियते धृतराष्ट्रो जनार्दन । न्यस्तशस्त्रा वयं ते वाप्युपजीवाम माधव ॥ १३ ॥ अप्रदेयं पुरा दत्तं राज्यं परवतो मम । अज्ञानाद्वा भयाद्वापि मयि-बाले जनार्दन ॥ १४ ॥ न तदद्य पुनर्लभ्यं पाण्डवैर्वृष्णिनन्दन। ध्रियमाणे महाबाहो मयि संप्रति केशव ॥ १५ ॥ यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव । तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ १६ ॥

अर्थ—हम भी तो किसी कठोर कर्म वा वचन से भय-भीत हो कर इन्द्र के सामने भी नहीं झुक सकते ॥ ८ ॥ हे

कृष्ण ! भीष्म, कृप, द्रोण और कर्ण को युद्ध में देवता भी नहीं जीत सकते, क्या फिर पाण्डव ॥ ९ ॥ हे कृष्ण ! अपने धर्म पर चलते हुए यदि हम युद्ध में अस्त्र से मारे भी जाएंगे, तो वह भी स्वर्ग का जीतना है ॥ १० ॥ उद्यम ही करे, झुके नहीं, उद्यम ही पौरुष है, चाहे विना अवसर के टूट जाए, पर (शत्रु के सामने) सिर कभी न झुकाए ॥ ११ ॥ मातंग ऋषि के इस वचन का वह सदा आदर करते रहते हैं, जो अपना भला चाहते हैं, यह क्षत्रियों का धर्म है, और मेरा निश्चित मत है ॥ १२ ॥ जब तक राजा धृतराष्ट्र जीते हैं तब तक, क्या हम और क्या वह सब को ही उन का उपजीवी बनना पड़ेगा ॥ १३ ॥ हे कृष्ण ! जब मैं बालक और पराधीन था, उस समय पिता ने अज्ञान से वा भय से मेरा राज्य उन को दिया था, जो देना योग्य न था ॥ १४ ॥ वह अब हे कृष्ण ! मेरे जीतेजी फिर पाण्डवों को नहीं मिल सकता ॥ १५ ॥ हे कृष्ण तीक्ष्ण सुई की नोक से जितनी भूमि विद्ध होसकती है, उतनी भूमि भी हम पाण्डवों को नहीं देंगे ॥ १६ ॥

अ०२५(व०१२८) श्रीकृष्ण के यथार्थ वचन

मूल—ततः प्रहस्य दाशार्हः क्रोधपर्याकुलेक्षणः । दुर्योधनमिदं वाक्य मब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ १ ॥ लप्स्यसे वीरशयनं काममेतद वाप्स्यसि । स्थिरो भव सहामात्यो विमर्दो भविता महान् ॥ २ ॥ यच्चैवं मन्यसे मूढ न मे कश्चिद् व्यतिक्रमः । पाण्डवेष्विति तत्सर्वं निबोधत नराधिपाः ॥ ३ ॥ श्रिया संतप्यमानेन पाण्डवानां महात्मनां । त्वया दुर्मन्त्रितं द्यूतं सौबलेन च

भारत ॥ ४ ॥ तदिदं व्यसनं घोरं त्वया द्यूतमुखं कृतं । असमीक्ष्य सदाचारैः सार्धं पापानुबन्धनैः ॥ ५ ॥ कश्चान्यो भ्रातृभार्यां विप्रकर्तुं तथार्हति । आनीय च सभां व्यक्तं यथोक्ता द्रौपदी त्वया ॥ ६ ॥ जानन्ति कुरवः सर्वे यथोक्ताः कुरुसंसदि । दुःशासनेन कौन्तेयाः प्रव्रजन्तः परंतपः ॥ ७ ॥ सम्यग् वृत्तेष्वलुब्धेषु सततं धर्मचारिषु । स्वेषु बन्धुषु कः साधुश्चरेदेवमसाम्प्रतम् ॥ ८ ॥ सहमात्रा प्रदग्धुं तान् बालकान् वारणावते । आस्थिताः परमं यत्नं न समृद्धं च तत्तव ॥ ९ ॥ विषेण सर्पबन्धैश्च यतिताः पाण्डवास्त्वया । सर्वोपायैर्विनाशाय न समृद्धं च तत्तव ॥ १० ॥ एवंबुद्धिः पाण्डवेषु मिथ्यावृत्तिः सदा भवान् । कथं ते नापराधोस्ति पाण्डवेषु महात्मसु ॥ ११ ॥ यच्चैभ्यो याचमानेभ्यः पित्र्यमंशं न दित्ससि । तच्च पाप प्रदातासि भ्रष्टैश्वर्यो निपातितः ॥ १२ ॥ मातापितृभ्यां भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च । शाम्येति मुहुरुक्तोसि न च शाम्यसि पार्थिव ॥ १३ ॥ न शर्म प्राप्स्यसे राजन्नुत्क्रम्य सुहृदां वचः । अधर्म्यमयशस्यं च क्रियते पार्थिव त्वया ॥ १४ ॥

अर्थ—अनन्तर श्रीकृष्ण ज़रा ठहर कर, क्रोध पूरित नेत्रों से दुर्योधन की ओर देख कर कौरवसभा में यह वचन बोले ॥ १ ॥ हे दुर्योधन तुम वीरशय्या पर सोओगे, तुम्हारी यह कामना अवश्य पूरी होगी, अपने साथियों समेत तय्यार होजाओ, भारी संग्राम होगा ॥ २ ॥ हे मूढ तुम जो यह समझते हो, कि पाण्डवों का मैंने कोई अपराध नहीं किया है, सो हे राजाओ ! वह सब सुनो ॥ ३ ॥ पाण्डवों की लक्ष्मी से जल कर हे भारत!तुमने शकुनि के साथ जुए की कुमन्त्रणा की॥४॥

भले पुरुषों के साथ विचार न करके, केवल पापबुद्धियों के साथ विचार करके, जुए रूपी घोर व्यसन का आरम्भ किया ॥ ५ ॥ कौन और अपने भाई की पत्नी की ऐसी दुर्दशा कर सकता है, जैसा कि सभा में बुलवाकर तुमने द्रौपदी को कहा ॥ ६ ॥ जब पाण्डव वन को चले, तब कौरव सभा में दुःशासन ने जैसे वचन कहे थे, वह भी सारे कौरवों को विदित हैं ॥ ७ ॥ उत्तम बर्ताव वाले, धर्मात्मा, लोभ रहित, अपने बन्धुओं से कौन भला पुरुष ऐसा अनुचित व्यवहार कर सकता है ॥ ८ ॥ पाण्डव जब बालक थे, उस समय वारणावत में तुमने उन को माता समेत जला मारने का परम प्रयत्न किया, पर वह तुम्हारा काम सिद्ध न हुआ ॥ ९ ॥ तुमने विष और सर्प आदि सब उपायों से पाण्डवों को मारने का यत्न किया, पर वह तुम्हारा काम सिद्ध न हुआ ॥ १० ॥ जब ऐसी बुद्धि से तुम पाण्डवों के साथ सदा वर्तते रहे हो, तब महात्मा पाण्डवों के विषय में तुम्हारा अपराध कैसे नहीं है ॥ ११ ॥ अब उन के प्रार्थना करने पर जो उन के पिता का भाग तुम नहीं देना चाहते हो, हे नीच ! वह तुम्हें देना पड़ेगा, जब तुम गिरा दिये जाओगे, और ऐश्वर्य जाता रहेगा ॥ १२ ॥ माता पिता भीष्म द्रोण और विदुर ने बार २ तुम्हें कहा है, शान्त होवो, पर तुम हे राजन् ! शान्त नहीं होते हो ॥ १३ ॥ हे राजन् हितैषियों के वचन को उलंघ कर आप सुख नहीं पाएंगे हे पृथिवीनाथ ! तुम धर्म और यश के विरुद्ध कर रहे हो ॥ १४ ॥

मूल—एवं ब्रुवति दाशार्हे दुर्योधन ममर्षणम् । दुःशासन इदं वाक्य मब्रवीत् कुरुसंसादे ॥ १५ ॥ न चेत् संधास्यसे राजन्

स्वेन कामेन पार्थिवैः। बध्वा किल त्वां दास्यन्ति कुन्तीपुत्राय कौरवाः ॥ १६ ॥ वैकर्तनं त्वां च मां च त्रीने तान् मनुजर्षभ। पाण्डवेभ्यः प्रदास्यन्ति भीष्मो द्रोणः पिता च ते ॥ १७ ॥ भ्रातुरेतद्वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रः सुयोधनः। क्रुद्धः प्रातिष्ठतोत्थाय महानाग इवश्वसन् ॥ १८ ॥ विदुरं धृतराष्ट्रं च महाराजं च बाल्हिकम्। कृपं च सोमदत्तं च भीष्मं द्रोणं जनार्दनं ॥ १९ ॥ सर्वानेताननादृत्य दुर्मतिर्निरपत्रयः। अशिष्टवदमर्यादो मानी मान्यावमानिता ॥ २० ॥ तं प्रस्थित मभिप्रेक्ष्य भ्रातरो मनुजर्षभं। अनुजग्मुः सहामात्या राजानश्चापि सर्वशः ॥ २१ ॥ सभाया मुत्थितं क्रुद्धं प्रस्थितं भ्रातृभिः सह। दुर्योधन मभिप्रेक्ष्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत ॥ २२ ॥ धर्मार्थावभि संत्यज्य संरम्भं योऽनुमन्यते। हसन्तिं व्यसने तस्य दुर्हृदो न चिरादिव ॥ २३ ॥ कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन। सर्वे ह्यनु सृता-मोहात पार्थिवाः सह मन्त्रिभिः ॥ २४ ॥

अर्थ—कृष्ण ऐसा कह रहे थे, कि दुःशासन कौरवों की सभा के बीच क्रोधी दुर्योधन से यह वाक्य बोला ॥ १५ ॥ हे राजन्! यदि तुम अपनी इच्छा से पाण्डवों के साथ सन्धि न करोगे, तो कौरव तुम्हें बांध कर युधिष्ठिर को देदेंगे ॥ १६ ॥ हे नरश्रेष्ठ! भीष्म, द्रोण, और पिताजी कर्ण को, मुझ को और तुझ को तीनों को पाण्डवों के हाथ देदेंगे ॥ १७ ॥ भाई के इस वचन को सुन कर दुर्योधन क्रुद्ध हो महानाग की भांति फुंकारता हुआ उठ कर चला गया ॥ १८ ॥ विदुर, महाराज धृतराष्ट्र, वाल्हिक, कृप, सोमदत्त, भीष्म, द्रोण और कृष्ण

इन सब का अनादर कर के वह दुर्मति निर्लज्ज, अशिष्टों की भांति बेमर्याद, मानियों का अपमान करने वाला (चला ही गया) ॥ १९–२० ॥ उसे चलते हुए देख उस के भाई, और राजे सब ओर से अपने २ मन्त्रियों समेत उस के पीछे चले गए ॥ २१ ॥ सभा से उठ कर क्रुद्ध हो भाइयों समेत जाते हुए दुर्योधन को देख कर भीष्म बोले ॥ २२ ॥ जो पुरुष धर्म अर्थ को त्याग कर निरा हठ पीटता है, जल्दी ही उस को विपदा में फंसा देख शत्रु हंसते हैं ॥ २३ ॥ हे कृष्ण ! इस क्षत्रशक्ति को अब मैं काल से पके फल की भांति समझता हूं. सभी राजे मन्त्रियों समेत मोह से उस के अनुगामी हुए हैं ॥ २४ ॥

मूल–भीष्मस्याथ वचः श्रुत्वा दाशार्हः पुष्करेक्षणः । भीष्म द्रोण मुखान् सर्वानभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ २५ ॥ सर्वेषां कुरुवृद्धानां महानयमतिक्रमः । प्रसह्य मन्दं ऐश्वर्ये न नियच्छत यन्नृपम् ॥ २६ ॥ तत्र कार्यमहं मन्ये कालप्राप्त मरिन्दमाः । क्रियमाणे भवेच्छ्रेयस्तत्सर्वं शृणुतानघाः ॥ २७ ॥ उग्रसेन सुतः कंसः परित्यक्तः स बान्धवैः । ज्ञातीनां हितकामेन मया शस्तो महामृधे ॥ २८ ॥ उग्रसेनः कृतो राजा भोजराजन्य वर्धनः ॥ २९ ॥ कंसमेकं परित्यज्य कुलार्थे सर्वयादवाः । संभूय सुख मेधन्ते भारतान्धक वृष्णयः ॥ ३० ॥ राजन् दुर्योधनं बद्ध्वा ततः संशाम्य पाण्डवैः । त्वत्कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ ३१ ॥

अर्थ–कमलनेत्र शक्तिमान श्रीकृष्ण भीष्म की बात सुन कर भीष्म द्रोण आदि सब (कुरुवृद्धों) को सम्बोधित कर बोले ॥ २५ ॥ सभी कुरुवृद्धों का यह भारी दोष है, जो इस

मूर्ख राजा को बलपूर्वक नहीं रोकते हो ॥ २६ ॥ हे शत्रुना-शियो ! हे निष्पाप पुरुषो मैं समझता हूं, कि अब ऐसा करने का समय आ गया है, जिस के करने पर कल्याण होगा, वह सुनिये ॥ २७ ॥ उग्रसेन का पुत्र कंस (जब उसने जीते पिता से राज्य छीन लिया, तो उसे) सारे बान्धवों ने त्याग दिया, और अपने ज्ञातियों की भलाई की इच्छा से मैंने उसे महा युद्ध में मार डाला ॥ २८ ॥ और भोज क्षत्रियों के बढ़ाने वाले उग्र-सेन को फिर से राजा बनाया ॥ २९ ॥ कुल की रक्षा के नि-मित्त एकमात्र कंस को त्याग कर हे भारत ! सारे यादव अ-न्धक और वृष्णि सुख से बढ़ रहे हैं ॥ ३० ॥ सो हे राजन् ! दुर्योधन को बांध कर पाण्डवों के साथ सन्धि कर लो, हे क्षत्रि-यवर ! आप के निमित्त क्षत्रियों का नाश न हो ॥ ३१ ॥

अ०२६ (व०१२९) दुर्योधन को गान्धारी का उपदेश

मूल—धृतराष्ट्र उवाच—गच्छ तात महाप्राज्ञां गान्धारीं दी-र्घदर्शिनीम् । आनयेह तया सार्धं मनुनेष्यामि दुर्मतिम् ॥ १ ॥ यदि सापि दुरात्मानं शमयेद् दुष्ट चेतसम् । अपि कृष्णस्य सुहृ-दस्तिष्ठेम वचनेवयं ॥ २ ॥ राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा विदुरो दीर्घद-र्शिनीं । आनयामास गान्धारीं धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच—एष गान्धारि पुत्रस्ते दुरात्मा शासनातिगः । सभाया निर्गतो मूढो व्यतिक्रम्य सुहृद्वचः ॥ ४ ॥ गान्धार्युवाच-त्वं ह्येवात्र भृशं गर्ह्यो धृतराष्ट्र सुतप्रियः । यो जानन् पापतामस्य तत्प्रज्ञा मनुवर्तसे ॥ ५ ॥ कथं हि स्वजने भेद मुपेक्षेत महीपतिः । भिन्नं हि स्वजनेन त्वां प्रहसिष्यन्ति शत्रवः ॥ ६ ॥ शासनाद्

धृतराष्ट्रस्य दुर्योधन ममर्षणम् । मातुश्च वचनात् क्षत्ता सभां प्रावेशयत् पुनः ॥ ७ ॥ गान्धार्युवाच—दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम पुत्रक । हितं ते सानुबन्धस्य तथाऽऽयत्यां सुखोदयम्॥ ८ ॥ दुर्योधन यदाह त्वां पिता भरत सत्तम । भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता सुहृदां कुरु तद्वचः ॥ ९ ॥ भीष्मस्य तु पितुश्चैव मम चापचितिः कृता । भवेद् द्रोण मुखानां च सुहृदां शाम्यता त्वया ॥ १० ॥ एकीभूतैर्महाप्राज्ञैः शूरैरिरिनिबर्हणैः । पाण्डवैः पृथिवीं तात भोक्ष्यसे सहितः सुखी ॥ ११ ॥ भीष्मेण हि महाप्राज्ञ पित्रा ते बाल्हिकेन च । दत्तोंऽशः पाण्डु पुत्राणां भेदाद्भीतैः रारिन्दम ॥१२॥ तस्य चैतत् प्रदानस्य फल मद्यातु पश्यसि । यद् भुंक्षे पृथिवीं कृत्स्नां शूरैर्निहत कण्टकाम् ॥ १३ ॥ प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचित मरिन्दम । सुहृदां वचने तिष्ठन् यशः प्राप्स्यसि भारत॥१४॥

अर्थ—धृतराष्ट्र (विदुर से) बोले—हे तात ! तुम बुद्धिमती दीर्घदर्शिनी गान्धारी को जा कर यहां बुला लाओ, उस के साथ मिल कर इस दुर्मति को नम्र करूंगा ॥ १ ॥ कदाचित् वही इस दुष्ट मन वाले दुरात्मा को शान्त कर सके, तो हम सुहृद् कृष्ण के वचन पर चल सकें ॥ २ ॥ राजा के वचन को सुन कर विदुर उन की आज्ञा से गान्धारी को ले आया ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्र बोले—हे गान्धारि ! देखो ! यह शासन को लंघने वाला तुम्हारा पापी पुत्र सुहृदों के वचन को लांघ कर सभा से चला गया है ॥ ४ ॥ गान्धारी बोली—हे महाराज ! इस में आप का ही अधिक दोष है, जो पुत्र के स्नेह वश उसकी पापवृत्ति को जान कर भी उस का साथ देते हैं ॥ ५ ॥ कैसे कोई भूपति अपने घर में फोटक पड़ने को उपेक्षा से देखसक्ता है,

अपने घर के लोगों से फोटक पड़ने पर शत्रु आप पर हँसेंगे ॥६ ॥ इस के पीछे विदुर दुर्योधन को धृतराष्ट्र की और माता की आज्ञा से फिर सभा में ले आया ॥ ७ ॥ उस से गान्धारी बोली—दुर्योधन बेटा ! मेरी इस बात पर ध्यान दो, यह तेरे सदा हित की बात है, और परिणाम में सुख उत्पन्न करने वाली है ॥ ८ ॥ हे दुर्योधन हे भरतवर ! जो आप को पिताजी भीष्म, द्रोण, कृप और विदुर कहते हैं, बेटा इन सुहृदों की बात को मानो ॥ ९ ॥ इस प्रकार हे बेटा ! भीष्म की, पिता की, मेरी और द्रोण आदि अपने सुहृदों की तुम से पूजा कीजाएगी, यदि तुम मेल करोगे ॥ १० ॥ बड़े बुद्धिमान, शत्रु नाशक शूरवीर पाण्डवों के साथ एक होजाओ, और आनन्द से पृथिवी को भोगो ॥ ११ ॥ हे महाप्राज्ञ ! भीष्मने, तेरे पिता ने और बाल्हिक ने फोटक पड़ने के डर से पाण्डुपुत्रों को अलग भाग दिया था ॥ १२ ॥ उस दान का तुम आज फल देख रहे हो, जो सारी पृथिवी को भोग रहे हो, जिस को उन शूरवीरों ने तुम्हारे लिये निष्कण्टक बना दिया है ॥ १३ ॥ हे शत्रुनाशन ! पाण्डुपुत्रों को यथोचित भाग दे दो, सुहृदों की बात पर स्थिर हो जाओ, इस से यश पाओगे हे भारत ॥ १४ ॥

अ०२७(व०१३०) दुर्योधन की कुमन्त्रणा पर उस को डांट

मूल—तत्तुवाक्यमनादृत्य सोऽर्थवन्मातृभाषितम् । पुनः प्रतस्थे संरम्भात् सकाशम् कृतात्मनाम् ॥ १ ॥ ततः सभाया निर्गम्य मन्त्रयामास कौरवः । सौबलेन मताक्षेण राज्ञा शकुनिना सह ॥ २ ॥ पुराऽयमस्मान् गृह्णाति क्षिप्रकारी जनार्दनः । सहितो

धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ॥ ३ ॥ वयमेव हृषीकेशं निगृह्णीम बलादिव ॥ ४ ॥ श्रुत्वा गृहीतं वार्ष्णेयं पाण्डवा हतचेतसः। निरुत्साहा भविष्यन्ति भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः ॥ ५ ॥ तेषां पाप मभिप्रायं पापानां दुष्टचेतसां । इंगितज्ञः कविः क्षिप्र मन्ववुध्यत सात्यकिः ॥ ६ ॥ तदर्थ मभि निष्क्रम्य हार्दिक्येन सहास्थितः। अब्रवीत् कृतवर्माणं क्षिप्रं योजय वाहिनीं ॥ ७ ॥ व्यूढानीकः सभाद्वार मुपातिष्ठस्व दंशितः । यावदाख्याम्यहं चैतत् कृष्णाया क्लिष्टकर्मणे ॥ ८ ॥ स प्रविश्य सभां वीरः सिंहो गिरिगुहामिव। आचष्ट तमभिप्रायं केशवाय महात्मने ॥ ९ ॥ धृतराष्ट्रं ततश्चैव विदुरं चान्वभाषत । पुरा विकुर्वते मूढाः पापात्मानः समागताः ॥ १० ॥ इमं हि पुण्डरीकाक्षं जिघृक्षन्त्यल्प चेतसः । पटेनाग्निं प्रज्वलितं यथा वाला यथा जड़ा ॥ ११ ॥

अर्थ—दुर्योधन माता से कहे उस सप्रयोजन वाक्य का अनादर करके, क्रोध से फिर उन्हीं नीचों के पास चला गया ॥ १ ॥ सभा से निकल कर दुर्योधन ने शकुनि के साथ सलाह की ॥ २ ॥ कि यह जल्दी करने वाला कृष्ण धृतराष्ट्र और भीष्म के साथ मिल कर जब तक हमें पकड़ने का यत्न करे, उस से पूर्व हम ही बल पूर्वक कृष्ण को बांध लें ॥ ३—४ ॥ कृष्ण को बांधा हुआ सुन कर पाण्डव मन क्षीण होकर टूटे दांतों वाले सांपों की भांति निरुत्साह होजाएंगे ॥ ५ ॥ उन दुष्ट मन वालों के अभिप्राय को इंगित ताड़ने वाला बुद्धिमान् सात्यकि ताड़ गया ॥ ६ ॥ और उस के निमित्त वह बाहर निकल कर हार्दिकनन्दन कृतवर्मा से बोला, झट पट सेना को तैयार करो ॥ ७ ॥ और सेना का व्यूह रच कर कवच पहने

हुए सभाद्वार पर उपस्थित रहो, जब तक कि मैं भले कर्मों वाले कृष्ण को यह कहता हूं ॥ ८ ॥ अनन्तर कन्दरा में शेर की भांति सभा में प्रविष्ट हो कर उस वीर ने महात्मा कृष्ण को उनका वह अभिप्राय जितलया ॥ ९ ॥ पीछे धृतराष्ट्र और विदुर से कहा, कि यह मूढ पापी इकट्ठे हो कर विगाड़ करेंगे ॥ १० ॥ यह मूढ महात्मा कृष्ण को पकड़ना चाहते हैं, जैसे बालक वा पागल वस्त्र से जलती अग्नि को पकड़ना चाहें ॥ ११ ॥

मूल—सात्यके स्तद्वचः श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिवान्। धृतराष्ट्रं महाबाहु मब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ १२ ॥ राजन् परीतकालास्ते पुत्राः सर्वे परंतप। अशक्य मयशस्यं च कर्तुं कर्म समुद्यताः ॥ १३ ॥ विदुरेणैव मुक्ते तु केशवो वाक्यमब्रवीत्। धृतराष्ट्र माभिप्रेक्ष्य सुहृदां शृण्वतां मिथः ॥ १४ ॥ राजन्नेते यदि क्रुद्धा मां निगृह्णीयु रोजसा। एतेवामामहं वैतानतुजानीहि पार्थिव ॥ १५ ॥ एतान् हि सर्वान् संरब्धान्नियन्तुमह मुत्सहे। एष दुर्योधनो राजन् यथेच्छाति तथास्तु तत् ॥ १६ ॥ एतच्छ्रुत्वा तु विदुरं धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत। क्षिप्रमानय तं पापं राज्यलुब्धं सुयोधनं ॥ १७ ॥ ततो दुर्योधनं क्षत्ता पुनः प्रावेशयत् सभां। अकामं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितं ॥ १८ ॥ अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत। कर्ण दुःशासनाभ्यां च राजभिश्चाभि संवृतं ॥ १९ ॥ नृशंस पाप भूयिष्ठ पापं कर्म चिकीर्षसि। अशक्य मयशस्यं च सद्भिश्चापि विगर्हितं ॥ २० ॥ त्वामिम पुण्डरीकाक्षं मप्रधृष्यं दुरासदम्। पापैः सहायैः संहत्य निग्रहीतुं किलेच्छसि ॥ २१ ॥ देवैर्मनुष्यैर्गन्धर्वैरसुरैरुरगैश्च यः। न सोढुं समरे शक्यस्तं न बुध्यासि केशवं ॥ २२ ॥ दुर्ग्राह्यः पाणिना वायु-

दुस्पर्शः पाणिना शशी । दुर्धरा पृथिवी मूर्ध्ना दुर्ग्राह्यः केशवो बलात् ॥ २३ ॥

अर्थ—कौरवों की सभा में सात्यकि के इस वचन को सुन कर दीर्घदर्शी विदुर महाबाहु धृतराष्ट्र से बोले ॥ १२ ॥ हे शत्रुनाशक राजन् तेरे सारे पुत्र काल के वश हो गए हैं, जो कि असाध्य और अपयश लाने वाले काम को करने के लिए उद्यत हो गए हैं ॥ १३ ॥ विदुर के इस प्रकार कहने पर श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र की ओर देख कर सुहृदों के मध्य में यह वाक्य बोले ॥ १४ ॥ हे राजन् ! यदि यह क्रुद्ध हो कर मुझे बल से बांध सकते हैं, तो बांधें, यह मुझ को बांध लें, वा मैं इन को बांध लूं, यह आप अनुज्ञा दे दीजिये ॥ १५ ॥ क्रुद्ध हुए इन सब को रोकने का मैं उत्साह रखता हूं, हे राजन् ! यह दुर्योधन जैसे चाहता है, वैसे हो ॥ १६ ॥ यह सुन कर धृतराष्ट्र विदुर से बोले, तुम राज्य के लोभी पापी दुर्योधन को जल्दी लाओ॥१७॥ तब विदुर न चाहते हुए भी दुर्योधन को भाइयों और राजाओं समेत फिर सभा में ले आए ॥ १८ ॥ तब राजा धृतराष्ट्र ने कर्ण दुःशासन और राजाओं से घिरे हुए दुर्योधन को सम्बोधन कर कहा ॥ १९ ॥ हे क्रूर पापी तू पाप कर्म करना चाहता है, जो अशक्य है अपयश के लाने वाला है और भले पुरुषों से निन्दित है ॥ २० ॥ तू पापी साथियों के साथ मिल कर इस न दबाए जाने वाले तेजस्वी कृष्ण को बांधना चाहता है॥२१॥ युद्ध के बीच जिस को देव, मनुष्य, गन्धर्व, असुर और नाग नहीं सह सक्ते हैं, वही यह कृष्ण हैं, क्या तू यह नहीं जानता है ॥ २२ ॥ हाथ से वायु को पकड़ना अशक्य है, हाथ से चन्द्र

को छूना अशक्य है, सिर पर पृथिवी को धारणा अशक्य है और कृष्ण को बल से पकड़ना अशक्य है ॥ २३ ॥

अ० २८ (व०१३१) श्रीकृष्ण का सभा से विदा होना

मूल—ततः सात्यकि मादाय पाणौ हार्दिक्य मेव च । निश्चक्राम ततः शौरिः स धूम इव पावकः ॥ १ ॥ ततो रथेन शुभ्रेण वैयाघ्रेण वरूथिना । शैब्य सुग्रीव युक्तेन प्रत्यदृश्यत दारुकः ॥ २ ॥ तथैव रथमास्थाय कृतवर्मा महारथः । वृष्णीनां संमतो वीरो हार्दिक्यः समदृश्यत ॥ ३ ॥ उपस्थितरथं शौरिं प्रयास्यन्त मरिन्दमं । धृतराष्ट्रो महाराजः पुनरेवाभ्यभाषत ॥४॥ यावद्बलं मे पुत्रेषु पश्यतस्ते जनार्दन । प्रत्यक्षं ते न ते किञ्चित् परोक्षं शत्रु कर्शन ॥ ५ ॥ कुरूणां शम मिच्छन्तं यतमानं च केशव । विदित्वैतामवस्थां मे नाभिशंकितु मर्हसि ॥ ६ ॥ न मे पापोऽस्त्यभिप्रायः पाण्डवान् प्रति केशव । जानन्ति कुरवः सर्वे राजानश्चैव पार्थिवा ॥ ७ ॥ ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः । द्रोणं पितामहं भीष्मं क्षत्तारं बाल्हिकं कृपं ॥ ८ ॥ प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वृत्तं कुरुसंसदि । यथा चाशिष्ट वन्मन्दो रोषादद्य समुत्थितः ॥ ९ ॥ वदत्यनीशमात्मानं धृतराष्ट्रो महीपतिः । आपृच्छे भवतः सर्वान् गमिष्यामि युधिष्ठिरं ॥ १० ॥ ततो रथेन शुभ्रेण महता किंकिणीकिना । कुरूणां पश्यतां द्रष्टुं स्वसारं स पितुर्ययौ ॥ ११ ॥

अर्थ—तब सात्यकि और कृतवर्मा का हाथ पकड़े श्रीकृष्ण सभा से निकले, (क्रोध से) मानों धूम सहित अग्नि थे ॥ १ ॥ सभाद्वार पर बाघ के चमड़े से मढ़े हुए, चमकीले, शैब्य

सुग्रीव घोड़ों से युक्त रथ के साथ दारुक (सारथि) खड़ा था ॥ २ ॥ और अलग एक रथ पर चढ़ कर यादवों का सत्कृत वीर कृतवर्मा खड़ा था ॥ ३ ॥ रथ पर चढ़ कर जाने को तय्यार हुए श्रीकृष्ण से महाराज धृतराष्ट्र फिर बोले ॥ ४ ॥ हे कृष्ण ! पुत्रों के ऊपर जो मेरी प्रभुता है, वह आप के सामने आप को प्रत्यक्ष होचुकी है, अब आप को कुछ परोक्ष नहीं रहा ॥ ५ ॥ हे केशव मैं कुरुओं की सन्धि चाहता हूं, और उस के लिये यत्न किया है, मेरी इस अवस्था को देख कर अब आप मेरे ऊपर कोई शंका नहीं करेंगे ॥ ६ ॥ हे कृष्ण ! पाण्डवों के लिये मेरा कोई दुष्ट अभिप्राय नहीं है, सब कौरव भी और यहां उपस्थित सारे राजे भी जानते हैं ॥ ७ ॥ तब श्रीकृष्ण महाबाहु धृतराष्ट्र से, तथा द्रोण, भीष्म, विदुर, बाल्हिक और कृपाचार्य से बोले ॥ ८ ॥ कौरवों की सभा में जो कुछ हुआ है, और जैसे वह मूर्ख अशिष्ट की भांति क्रुद्ध हो कर सभा से चला गया, और जिस प्रकार भूपति धृतराष्ट्र ने अपने को प्रभुता रहित कहा है, यह सब आपने प्रत्यक्ष देखा है, अब मैं सब से अनुज्ञा मांगता हूं, युधिष्ठिर के पास जाऊंगा ॥ ९—१० ॥ तब उन के सामने ही श्रीकृष्ण घंटियों वाले श्वेत रथ पर चढ़ कर फूफी (कुन्ती) के दर्शन को गए ॥ १० ॥

अ० २९ (व० १३२) कुन्ती का पुत्रों को संदेश

मूल—प्रविश्याथ गृहं तस्याश्चरणावभिवाद्य च । आचख्यौ तत्समासेन यद्वृत्तं कुरुसंसदि ॥ १ ॥ उक्तं बहुविधं वाक्यं ग्रहणीयं सहेतुकं । ऋषिभिश्चैव च मया नचासौ तद् गृहीतवान् ॥२॥

कालपक्वमिदं सर्वं सुयोधनवशानुगं । आपृच्छे भवतीं शीघ्रं प्रयास्ये पाण्डवान् प्रति ॥ ३ ॥ किं वाच्याः पाण्डवेयास्ते भवत्या वचनान्मया । तद्ब्रूहि त्वं महाप्राज्ञे शुश्रूषे वचनं तव ॥ ४ ॥ कुन्त्युवाच—ब्रूयाः केशव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरं । भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ॥ ५ ॥ बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टा बाहुवीर्योपजीविनः । क्रूराय कर्मणे नित्यं प्रजानां परिपालने ॥ ६ ॥ मुचुकुन्दस्य राजर्षेरददत् पृथिवीमिमां । पुरा वैश्रवणः प्रीतो न चासौ तद् गृहीतवान् ॥ ७ ॥ बाहुवीर्यार्जितं राज्य मश्नीयामिति कामये । ततो वैश्रवणः प्रीतो विस्मितः समपद्यत ॥ ८ ॥ मुचुकुन्दस्ततो राजा सोऽन्वशासद् वसुन्धरां । बाहुवीर्यार्जितां सम्यक् क्षत्रधर्म मनुव्रतः ॥ ९ ॥

अर्थ—श्रीकृष्ण ने फूफी के घर प्रविष्ट हो, उस की चरण-वन्दना की, और जो कुछ कौरवों की सभा में हुआ था, वह संक्षेप से वर्णन कर के कहा ॥ १ ॥ मैंने और ऋषियों ने युक्ति-युक्त ग्रहण करने योग्य अनेक प्रकार के वचन कहे, पर उस ने ग्रहण नहीं किया ॥ २ ॥ प्रतीत होता है, कि सुयोधन और उस के वशवर्ती राज मण्डल सारा काल से पके फल की भांति अब गिरने वाला है ॥ २ ॥ अब मैं आप से आज्ञा मांगता हूं, शीघ्र ही पाण्डवों के समीप जाऊंगा ॥ ३ ॥ हे महा बुद्धिमति ! आप के वचन से पाण्डवों को क्या कहूं, सो कहिये, आप का संदेश सुनना चाहता हूं ॥ ४ ॥ कुन्ती बोली—हे केशव ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर को यह कहना, हे पुत्र ! तुम्हारे धर्म की बहुत ही हानि होरही है, बेटा ! (जन्म को) व्यर्थ मत बना ॥ ५ ॥ क्षत्रिय प्रजा के पालन के निमित्त क्रूर कर्म (संग्राम में शत्रु दलन,) करने

के लिये भुजा से रचे गए हैं, वह भुजबल से जीविका करते हैं ॥६॥ पूर्वकाल में वैश्रवण ने प्रसन्न होकर राज ऋषि मुचुकुन्द को पृथिवी का राज्य देना चाहा, पर उस ने ग्रहण नहीं किया ॥ ७ ॥यह कह कर कि अपने भुजबल से कमाए राज्य को भोगूं, मेरी यह कामना है, यह सुन कर वैश्रवण प्रसन्न और आश्चर्य हुआ ॥ ८ ॥ अनन्तर क्षत्रधर्म पर चलने वाले मुचुकुन्द ने सत्य ही अपने भुजबल से जीती हुई पृथिवी पर शासन किया॥९॥

मूल—यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः । चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा विन्दति भारत ॥ १० ॥ राजधर्मानवेक्षस्व पितृपैतामहोचितान् । नैतद् राजर्षिवृत्तं हि यत्र त्वं स्थातु मिच्छसि ॥ ११ ॥ नह्येतामाशिषं पाण्डुर्नचाहं न पितामहः । प्रयुक्तवन्तः पूर्वं ते यया चरसि मेधया ॥ १२ ॥ यज्ञो दानं तपः शौर्यं प्रज्ञासंतान मेव च ।माहात्म्यं बल मोजश्च नित्यमाशंसितं मया ॥ १३ ॥ भैक्षं विप्रतिषिद्धं ते कृपिर्नैवोप पद्यते । क्षत्रियोऽसि क्षतात् त्राता बाहुवीर्योपजीविता ॥ १४ ॥ पित्र्यमंशं महाबाहो निमग्नं पुनरुद्धर । साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनाथ नयेन वा ॥ १५ ॥ इतो दुःखतरं किं नु यदहं हीन बान्धवा । परपिण्ड मुदीक्षे वै त्वां सूत्वा मित्रनन्दन ॥ १६ ॥ युध्यस्व राजधर्मेण मा निमंज्जीः पितामहान् । मागमः क्षीण पुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम् ॥ १७ ॥

अर्थ—हे भारत ! प्रजाएं सुरक्षित हो कर जो धर्मकार्य करती हैं, उस के चौथे भाग को राजा प्राप्त करता है ॥ १० ॥ सो तू पिता पितामह के योग्य राज धर्मों की ओर दृष्टि डाल,

जिसमें तुम रहना चाहते हो, यह राजऋषियों का आचार नहीं है ॥ ११ ॥ तुम जिस बुद्धि के अनुसार आचरण कर रहे हो, इस की तो मैंने, तुम्हारे पिता ने वा तुम्हारे पितामह आदि ने कभी असीस नहीं दी थी ॥ १२ ॥ मैंने सदा तुम्हारे लिये यज्ञ दान तप, शौर्य, बुद्धि, सन्तान, माहात्म्य, बल और आयु वृद्धि का आशीर्वाद दिया है ॥ १३ ॥ भिक्षा मांगना तुम्हारे लिये निषिद्ध है, खेती भी तुम्हारे लिये युक्त नहीं, तुम क्षत्रिय हो क्षत (जुल्म) से बचाने वाले, भुजबल से तुम्हारी जीविका है ॥ १४ ॥ हे महाबाहो ! साम, दान, दण्ड, भेद वा और किसी उपाय से जैसे हो सके, अपने पिता के डूबे हुए भाग को फिर निकालो ॥ १५ ॥ हे मित्रों के आनन्द बढ़ाने वाले ! इस से बढ़ कर और क्या दुःख होगा, कि तुम को जन कर भी मैं बान्धवों से रहित हुई पराए अन्न की ओर देखती हूं ॥ १६ ॥ इस से राज धर्म के अनुसार युद्ध करो, पितरों का नाम मत डुबोओ, और तुम भाइयों समेत क्षीण पुण्य हुए पाप की गति के मत भागी बनो ॥ १७ ॥

अ० ३०(व०१३३-१३४) विदुला और उस के पुत्र का संवाद

मूल—अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनं । विदुलायाश्च संवादं पुत्रस्य च परंतप ॥ १ ॥ विदुला नाम राजन्या जगर्हे पुत्र मौरसं । निर्जितं सिन्धुराजेन शयानं दीनचेतसं ॥ २ ॥ अनन्दन मयाजात द्विषतां हर्षवर्धन । न मया त्वं न पित्रा च जातः क्वाभ्यागतोह्यसि ॥ ३ ॥ निर्मन्युश्च चाप्यसंख्येयः पुरुषः क्लीब साधनः । यावज्जीवं निराशोसि कल्याणाय धुरं वह

॥ ४ ॥ मात्मानं मवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः । मनः कृत्वा सुकल्याणं माभैस्त्वं प्रति संहर ॥ ५ ॥ उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजितः । अमित्रान् नन्दयन् सर्वान् निर्मानो बन्धु शोकदः ॥ ६ ॥ सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः । सुसंतोषः का पुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति ॥ ७ ॥ अप्यहेरारुजन् दंष्ट्रां माश्वेव निधनं व्रज । अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमेः ॥ ८ ॥ उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा स्वाप्सीः शत्रुनिर्जितः । मास्तंगमस्त्वं कृपणो विश्रूयस्व स्वकर्मणा ॥ ९ ॥ मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरं । मा स्म कस्य चिद् गेहे जनि राज्ञः खरो मृदुः ॥ १० ॥

अर्थ—हे परंतप ! इस में विदुला और उस के पुत्र के संवाद रूप पुराने इतिहास का उदाहरण देते हैं ॥ १ ॥ राजरानी विदुला ने, जब उस का सगा पुत्र सिन्धुराज से हार कर दीन चित्त हो कर उत्साह छोड़ बैठा था, तब, उस को इन शब्दों से धिकारा था ॥ २ ॥ हे शत्रुओं का हर्ष बढ़ाने वाले हे मुझ से जन्मे कुपुत्र ! न मुझ से न पिता से तू जन्मा है, (न जाने) तू कहां से आगया है ॥ ३ ॥ जिस में (शत्रु के प्रति) क्रोध नहीं, जिस का मन नपुंसकों वाला है, वह पुरुष नहीं गिना जाता, तू सदा के लिये आशा हीन हो बैठा है, उठ, कल्याण के लिये जुए को कन्धे पर उठा ॥ ४ ॥ मत अपना अपमान कर, मत थोड़े पर संतुष्ट हो, मन को पूरा कल्याणकारी बना कर भय को त्याग और (शत्रुओं का) संहार कर ॥ ५ ॥ उठ, हे कापुरुष ! हार खा कर सारे शत्रुओं के आनन्द को बढ़ाता हुआ और बन्धुओं को शोक देता हुआ निर्मान हो कर क्यों इस प्रकार पड़ा है

॥ ६ ॥ छोटी सी नदी थोड़े से झट भर जाती है, चूहे की अ-ञ्जलि झट भर जाती है, कापुरुष झट संतुष्ट हो जाता है, वह थोड़े से ही संतुष्ट हो बैठता है ॥ ७ ॥ विषैले सांप के दांत उखाड़ कर मरजा, पर कुत्ते की मौत न मर, तू अपने जीवन को संशय में डाल कर पराक्रम क्यों नहीं दिखलाता ॥ ८ ॥ उठ ! हे कापुरुष ! शत्रु से हार खा कर लेटने का समय नहीं, दीन होकर मत अस्त होजा, अपने कर्म से लोक में विख्यात हो ॥ ९ ॥ थोड़ी देर भी चमक कर मरजाना अच्छा, पर दीर्घ काल धुखते रहना अच्छा नहीं । (हे परमात्मन् !) किसी भी राजा के घर अत्यन्त कठोर वा अत्यन्त कोमल स्वभाव वाला पुत्र न जन्मे ॥ १० ॥

मूल—उद्भावय स्ववीर्यं वा तां वा गच्छ ध्रुवां गतिं । धर्मं पुत्राग्रतः कृत्वा किं निमित्तं हि जीवसि ॥ ११ ॥ इष्टापूर्तं हि ते क्लीब कीर्तिश्च सकला हता । विच्छिन्नं भोगमूलं ते किं निमित्तं हि जीवसि ॥ १२ ॥ शत्रुर्निमज्जता ग्राह्यो जंघायां प्रपतिष्यता । विपरिच्छिन्नमूलोऽपि न विषीदेत् कथञ्चन ॥ १३ ॥ कुरु सत्वं च मानं विद्धि पौरुषमात्मनः । उद्भावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि ॥ १४ ॥ यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतं । राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान् ॥ १५ ॥ दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः । विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ॥ १६ ॥ श्रुतेन तपसा वापि श्रिया वा विक्रमेण वा । जनान् योऽभिभवत्यन्यान् कर्मणा हि स वै पुमान् ॥ १७ ॥ अवल्गुकारिणं सत्सु कुलवंशस्य नाशनं । कलिं पुत्रप्रवादेन संजयत्वामजीजनं ॥ १८ ॥ निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यं

मरिनन्दनं । मास्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशं॥ १९ ॥ माधूमाय ज्वलात्यन्त माक्रम्य जहि शात्रवान् । ज्वलमूर्धन्य मित्राणां मुहूर्त मपि वा क्षणं ॥ २० ॥ आयमं हृदयं कृत्वा मृगयस्व पुनः स्वकं । परं विषहते यस्मात तस्मात् पुरुष उच्यते॥२१॥

अर्थ—हे पुत्र ! धर्म को आगे रख कर रणभूमि में चाहे अपनी शक्ति दिखला, चाहे वीरगति को प्राप्त होजा, किस लिये तू जीता है ॥ ११ ॥ अरे नपुंसक ! तेरे यज्ञ और नेकियां और यश सब धूल में मिल गए, तेरे आनन्द का मूल कट गया, फिर तू किस लिये जीता है ॥ १२ ॥ शूरवीर का कर्तव्य तो यह है, कि गिरता २ भी शत्रु को जंघा से पकड़ कर साथ ले मरे, जड़ कट जाने पर भी कभी उत्साहहीन न हो ॥ १३ ॥ अपने पौरुष को समझ, वीरता की और मान की रक्षा कर, और तेरे ही कारण से डूबते हुए वंश का स्वयमेव उद्धार कर ॥ १४ ॥ जिसके किसी बड़े अद्भुत कर्म का लोग वर्णन नहीं करते, वह केवल संख्या का बढ़ाने वाला है, वह न स्त्री है, न पुरुष है ॥ १५ ॥ दान, तप, सत्य, विद्या वा धन लाभ में जिस का यश नहीं फैलता, वह माता का मल ही है ॥ १६ ॥ विद्या, तप, ऐश्वर्य, पराक्रम वा नेकी से जो दूसरे लोगों को जीतता है, वह पुरुष है ॥ १७ ॥ हे सञ्जय भले पुरुषों के मध्य में ऐसे अयोग्य काम करने वाले, कुल पर कलंक लगाने वाले तुझ को मैंने पुत्र के नाम से कलियुग उत्पन्न किया है ॥ १८ ॥ मेरे समान मत कोई सीमन्तिनी ऐसे क्रोध रहित, उत्साह हीन, निर्वीर्य, शत्रुओं का आनन्द बढ़ाने वाले, पुत्र को जन्म दे ॥ १९ ॥ मत धुखता रह, अत्यन्त चमक, आक्रमण कर के शत्रु-

ओं को मार गिरा, मुहूर्त भर वा क्षण भर भी शत्रुओं के मस्तक पर चमक ॥ २० ॥ हृदय को लोहे का (सा कठोर) बनाकर फिर अपने राज्य को वापिस लाने में प्रवृत्त हो जा, जिस लिये पर (शत्रु) को दबा लेता है, इसी लिये पुरुष कहलाता है ॥२१॥

मूल—पुत्र उवाच—किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया । किमाभरण कृत्यं ते किं भोगैर्जीवितेन वा॥ २२ ॥ मातोवाच—भृत्यैर्विहीयमानानां परपिण्डोपजीविनां । कृपणा नामसत्त्वानां माऽवृत्ति मनुवर्तिथाः ॥ २३ ॥ स्वबाहुबल माश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानवः । स लोके लभते कीर्तिं परत्र च शुभांगतिं ॥ २४ ॥ यो हि तेजो यथाशक्ति न दर्शयति विक्रमात् । क्षत्रियो जीविता काङ्क्षी स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ २५ ॥ संजयो नामतश्च त्वं न च पश्यामि तत् त्वयि । अन्वर्थ नामा भव मे पुत्र मा व्यर्थनामकः ॥ २६ ॥ अहं महाकुले जाता ह्रदाद्ध्रद मिवा गता । ईश्वरी सर्व कल्याणी भर्त्रा परम पूजिता ॥ २७ ॥ यदा मां चैव भार्यां च द्रष्टासि भृशदुर्बलां । न तदा जीविते नार्थो भविता तव सञ्जय ॥ २८ ॥ वय माश्रयणीयाः स्म न श्रेतारः परस्य च । साऽन्यमासाद्य जीवन्ती परित्यक्ष्यामि जीवितं ॥ २९ ॥ यदि त्वा मनुपश्यामि परस्य प्रियवादिनं । पृष्ठतोऽनु व्रजन्तं वा का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ ३० ॥ नास्मिन् जातु कुले जातो गच्छेद् योऽन्यस्य पृष्ठतः । न त्वं परस्यानुचरस्तात जीवितु मर्हसि ॥ ३१ ॥ अहं हि क्षत्र हृदयं वेद यत् परिशाश्वतं। पूर्वैः पूर्वतरैः प्रोक्तं परैः परतरैरपि ॥ ३२ ॥ उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषं । अप्यपर्वाणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ॥ ३३ ॥

अर्थ—पुत्र बोला—यदि तुम मुझे ही न देखोगी, तो फिर तुम्हें सारी पृथिवी (के राज्य) भूषणों भोगों और जीने से भी क्या लाभ होगा ॥ २२ ॥ माता बोली—(मैं इन लोभों से तुझे उत्तेजित नहीं कर रही, किन्तु हे पुत्र) दूसरों के भरण पोषण से हीन हो कर, स्वयं पराये अन्न पर जीविका करते हुए दीन मलिन चित्त वालों का जीना मत जियो ॥ २३ ॥ अपने भुजबल के सहारे पर जो पुरुष जीता है, वह लोक में यश और परलोक में शुभगति पाता है ॥ २४ ॥ जो क्षत्रिय हो कर जीवन से प्यार करता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार पराक्रम से तेज नहीं प्रकट करता, उस को बुद्धिमान् चोर ही समझते हैं ॥ २५ ॥ तुम्हारा नाम संजय है, पर वह बात (जीत वाली) मैं तुझ में नहीं देखती हूं, मेरे बेटे ! सार्थक नाम वाले बनो, व्यर्थ नाम वाले न बनो ॥ २६ ॥ मैं महाकुल में उत्पन्न हुई, ह्रद से ह्रद में आई (कमलिनी) की भांति (महाकुल में आई), मैं पटरानी बनी, सारे कल्याण मेरे लिये रहे, पति से पूरा २ आदृत हुई॥२७॥ अब जब तुम मुझ को और अपनी धर्मपत्नी को अत्यन्त दुःखित देखोगे, तो हे संजय उस समय तुम को जीवित रहने की इच्छा न रहेगी ॥ २८ ॥ हम औरों को आश्रय देने वाले रहे हैं, लेने वाले नहीं हुए, सो यदि मुझे पराया आश्रय ले कर जीवन निर्वाह करना पड़ेगा, तो जीवन त्याग दूंगी ॥२९॥ यदि मैं शत्रु के सामने तुझे चापलूसी करते, वा उस के पीछे चलते देखूं, तो मेरे हृदय को क्या शान्ति हो सकती है॥ ३० ॥ किसी के पीछे चले, ऐसा पुरुष इस कुल में कभी नहीं जन्मा है, इस से दूसरे का सेवक बन कर हे तात ! तुझे जीना उचित नहीं

है ॥ ३१ ॥ मैं क्षत्रिय के हृदय को जानती हूं, जैसा कि सदा से चला आया है,जैसा कि हमारे बड़ों ने उन के भी बड़ों ने और बहुत ही पुराने विद्वानों ने कहा है ॥ ३२ ॥ उद्यम ही करे झुके नहीं, उद्यम ही पुरुष पन है, चाहे बिना जोड़ के टूट जाए, पर किसी के सामने झुके नहीं ॥ ३३ ॥

अ० ३१ (व० १३५-१३६) विदुला पुत्र संवाद

मूल—पुत्र उवाच—कृष्णायसस्येव च ते संहत्य हृदयं कृतं । मम मातस्त्व करुणे वीरप्रज्ञे ह्यमर्षणे ॥ १ ॥ अहो क्षत्रसमाचारो यत्र मामितरं यथा । नियोजयासि युद्धाय परमातेव मां यथा ॥ २ ॥ ईदृशं वचनं ब्रूयाद् भवती पुत्र मेकजं । किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया ॥ ३ ॥ किमाभरण कृत्येन किं भोगैर्जीवितेन वा । मयि वा संगरहते प्रिय पुत्रे विशेषतः ॥ ४ ॥ मातोवाच—सर्वावस्था हि विदुषां तात धर्मार्थ कारणात् । तावेवाभि समीक्ष्याहं संजय त्वामचूचुदं ॥ ५ ॥ असंभावित रूपस्त्वमानृशंस्यं हि करिष्यासि । तं त्वा मयशसा स्पृष्टं न ब्रूयां यदि संजय ॥ ६ ॥ खरीवात्सल्य माहुस्तान्निःसामर्थ्य महेतुकं । तव स्याद् यदि सद्वृत्तं तेन मे त्वं प्रियो भवेः ॥ ७ ॥ यो ह्येवमविनीतेन रमते पुत्र नप्तृणा । अनुत्थानवता चापि मोघं तस्य प्रजाफलं ॥ ८ ॥ युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः संजयेह जयाय च । जयन्वा वध्यमानो वा प्राप्नोतीन्द्रसलोकतां ॥ ९ ॥ आत्मानं वा परित्यज्य शत्रुं वा विनिपात्य च । अतोन्येन प्रकारेण शान्तिरस्य कुतो भवेत् ॥ १० ॥ अथ त्वां पूजयिष्यामि हत्वा वै सर्व सैन्धवान् । अहं पश्यामि विजयं कृच्छ्रभावितमेव ते ॥ ११॥

अर्थ--पुत्र बोला-हे वीरप्रज्ञावाली, क्रोधयुक्त और करुणा रहित

मेरी मातः तेरा हृदय मानो ब्रह्मा ने फ़ूलाद से घड़ कर बनाया है ॥ १ ॥ अहो क्षत्रियधर्म कैसा विचित्र है, कि जिस के कारण तुम मुझे युद्ध के लिये इस तरह लगा रही हो, जैसे पराई माता किसी को लगाए ॥ २ ॥ आप ऐसा वचन अपने इकलोते पुत्र को कह रही हैं, भला मुझे न देख कर तुम्हें इस सारी पृथिवी, भोग और जीवन से भी क्या लाभ होगा, और विशेष कर के जब तेरा प्यारा पुत्र ही रण में मारा गया ॥ ३—४ ॥ माता बोली—सुनो बेटा ! बुद्धिमान् पुरुष हर हालत में धर्म और अर्थ को सामने रखते हैं, उन्हीं दोनों को सामने रख कर हे संजय मैं तुझे प्रेर रही हूं ॥ ५ ॥ हे संजय तुम यदि ऐसे समय दया धर्म में पड़जाओ, और अपयश से ग्रस्त होते हुए को मैं कुछ न कहूं, तो तुम्हारा सारा मान उड़ जाएगा ॥ ६ ॥ जो सामर्थ्य से हीन और युक्ति युक्त नहीं है, ऐसे मातृप्रेम को बुद्धिमान् लोग गदही का प्रेम कहते हैं, तुम्हारा यदि आचरण सच्चा होगा, तब तुम मेरे प्रिय बनोगे ॥ ७ ॥ जो पुरुष अपने अशिक्षित और उत्साह हीन पुत्र पोते से आनन्द मनाता है, उस को सन्तान का फल कोई नहीं है ॥ ८ ॥ हे संजय ! क्षत्रिय लोक में युद्ध के लिये और जय के लिये रचा गया है, जीत कर वा सामने मर कर इन्द्र के लोक को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ अपना देह त्याग कर वा शत्रु को गिरा कर ही क्षत्रिय की शान्ति होसकती है, इस के सिवाय उस की शान्ति कैसे हो ॥ १० ॥ मैं तुम्हें उस समय आदर से देखूंगी, जब तुम सारे सैन्धवों को मार कर आओगे, मैं तुम्हारा विजय देख रही हूं हां कष्ट साध्य अवश्य है ॥११॥

मूल—पुत्र उवाच—अकोशस्यासहायस्य कुतः सिद्धिर्जयो मम । तन्मे परिणतप्रज्ञे सम्यक् प्रब्रूहि पृच्छते ॥ १२ ॥ करिष्यामि हि तत्सर्वं यथावदनुशासनं ॥ १३ ॥ मातोवाच—पुत्र नात्माऽवमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः । अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चापरे ॥ १४ ॥ उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु । भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ॥ १५ ॥ प्राज्ञस्य नृपतेराशु वृद्धिर्भवति पुत्रक । अभिवर्तति लक्ष्मीस्तं प्राचीमिव दिवाकरः ॥ १६ ॥ निदर्शनान्युपायांश्च बहून्युद्धर्षणानि च । अनुदर्शितरूपोसि पश्यामि कुरु पौरुषं ॥ १७ ॥ क्रुद्धान् लुब्धान् परिक्षीणानवलिप्तान् विमानितान् । स्पर्धिनश्चैव ये केचित् तान् युक्त उपधारय ॥ १८ ॥ एतेन त्वं प्रकारेण महतो भेत्स्यसे गणान् । ते त्वां प्रियं करिष्यन्ति पुरोधास्यन्ति च स्वयं ॥ १९ ॥ यदैव शत्रुर्जानीयात् सपत्नं त्यक्तजीवितं । तदैवास्मादुद्विजते सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ २० ॥ अस्ति नः कोशनिचयो महानविदितस्तव । तमहं वेद नान्यस्तमुपसंपादयामि ते ॥ २१ ॥ सन्ति नैकशता भूयः सुहृदस्तव संजय । सुखदुःखसहा वीर संग्रामादनिवर्तिनः ॥ २२ ॥ तादृशा हि सहाया वै पुरुषस्य बुभूषतः । इष्टं जिहीर्षतः किञ्चित् सचिवाः शत्रुकर्शन ॥ २३ ॥ पुत्र उवाच—उदके भूरियं धार्या मर्तव्यं प्रवणे मया । यस्य मे भवती नेत्री भविष्यद्भूतिदर्शिनी ॥ २४ ॥ अहं हि वचनं त्वत्तः शुश्रूषुरपरापरं । किञ्चित् किञ्चित् प्रतिवदंस्तूष्णीमासं मुहुर्मुहुः ॥ २५ ॥ अतृप्यन्नमृतस्येव कृच्छ्राल्लब्धस्य बान्धवात् । उद्यच्छाम्येष शत्रूणां नियमार्थं जयाय च ॥ २६ ॥ कुन्त्युवाच—

सदृश इव संक्षिप्तः प्रणुन्नोत्वाक्यसायकैः । तच्चकार तथा सर्वं यथावदनुशासनं ॥ २७ ॥ इदमुद्धर्षणं भीमं तेजोवर्धन मुत्तमं । राजानं श्रावयेन्मन्त्री सीदन्तं शत्रुपीडितं ॥ २८ ॥ इदं पुंसवनं चैव वीराजननमेव च । अभीक्ष्णं गर्भिणी श्रुत्वा ध्रुवं वीरं प्रजायते ॥ २९ ॥ विद्याशूरं तपः शूरं दानशूरं तपस्विनं । ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं साधुवादे च संमतं ॥ ३० ॥ अर्चिष्मन्तं बलोपेतं महाभागं महारथं । धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितं ॥ ३१ ॥ नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणां । ईदृशं क्षत्रिया सूते वीरं सत्यपराक्रमं ॥ ३२ ॥

अर्थ—पुत्र बोला-न मेरे कोश है, न साथी हैं, सो मुझे सिद्धि और विजय कैसे मिल सकती है, यह मैं पूछता हूं, हे परिपक्व बुद्धि वाली यह मुझे कहो । तुम्हारे अनुशासन का पूरी तरह पालन करूंगा ॥ १२–१३ ॥ माता बोली—हे पुत्र पहली असफलताओं को देख कर अपने आप को तुच्छ नहीं मान लेना चाहिये,कई काम जो पहले नहीं होसके वह होजाते हैं, और होकर बिगड़ जाते हैं ॥ १४ ॥ उठना चाहिये, जागना चाहिये, और कार्य अवश्य सिद्ध होगा, ऐसा मन में पक्का निश्चय करके निरन्तर उत्साह के साथ ऐश्वर्य के कामों में अपने आप को लगा देना चाहिये ॥ १५ ॥ हे बेटा ! समझ वाले राजा की जल्दी वृद्धि होती है, लक्ष्मी उस की ओर आती है, जैसे सूर्य पूर्व दिशा की ओर ॥ १६ ॥ मैंने जो यह बहुत से प्रमाण, उपाय और उत्साहजनक वचन कहे हैं, मैं तुम्हें उन के योग्य देखती हूं, तुम (शंका को त्याग कर) पराक्रम प्रकाशित करो

॥ १७ ॥ (तुम्हारे शत्रु के ऊपर) जो लोग क्रुद्ध हैं, जो लोभ के वश में हैं, जो (तुम्हारे शत्रु की वृद्धि से) दुर्बल हुए हैं, जो गर्व में भरे हुए हैं, जिनका उस ने अपमान किया है, और जो उस से स्पर्धा रखते हैं, उन सब को सावधानी से अपनी ओर मिलालो ॥ १८ ॥ इस रीति से तुम बहुत से जत्थों को उस से फोड़ दोगे, वह तुम्हारा प्रिय करेंगे और तुम्हें अपना अग्रणी बनालेंगे ॥ १९ ॥ ज्यूं ही कि शत्रु यह जान लेता है, कि मेरा शत्रु जीवन को हथेली पर रख कर युद्ध के निमित्त आ उपस्थित हुआ है, त्यों ही वह घर में रहने वाले सर्प की भांति उस से डरता है ॥ २० ॥ हे सञ्जय हमारे पास धन का बड़ा ढेर है. जिस का तुम्हें पता नहीं, केवल मैं उसे जानती हूं, और कोई नहीं, वह मैं तुझे देती हूं ॥ २१ ॥ और हे वीर तुम्हारे बहुत सुहृद भी हैं, जो सुख दुःख के साथी हैं, और संग्राम से कभी पीछे हटने वाले नहीं हैं ॥ २२ ॥ हे शत्रुनाशन! ऐसे साथी ही उस के मन्त्री हुआ करते हैं, जो अपनी वृद्धि चाहते हैं और अपने राज्य को वापिस लेना चाहते हैं ॥ २३ ॥ पुत्र बोला—हे मातः ! अति कल्याण देखने वाली तुम जिस की नेत्री हो, वह मैं अब या तो जल में डूबी की भांति अपनी भूमि का उद्धार करूंगा, या रण में मर जाऊंगा ॥ २४ ॥ मैं तुम से और २ वचन सुनना चाहता था, इस लिये चुप रहा, वा कुछ कुछ उत्तर देता रहा ॥ २५ ॥ जैसे बड़ी कठिनता से लाभ किये अमृत के पान से तृप्ति नहीं होती, इस प्रकार तेरे वचनों से तृप्त न हो कर सुनता रहा । अब मैं शत्रु के नाश और अपने विजय के निमित्त उद्योग करता हूं ॥ २६ ॥ कुन्ती

बोली—इस प्रकार चाबुक से मेरे हुए उत्तम घोड़े की भांति वचन रूपी बाणों से प्रेरे हुए सञ्जय ने माता की आज्ञानुसार वह सब पूरा कर दिखलाया ॥ २७ ॥ यह उत्साह जनक भयंकर वचन तेज का बढ़ाने वाला है, मन्त्री को चाहिये, कि शत्रुओं से पीड़ित दुःखित राजा को यह सुनावे ॥ २८ ॥ यह पुंसवन वीर का उत्पादक है, गर्भिणी इसे बार २ सुन कर निःसंदेह शूरवीर बेटे को जनती है ॥ २९ ॥ विद्याशूर, तपशूर, दानशूर, तपस्वी ब्राह्मणों की शोभा से चमकता हुआ, भले पुरुषों में आदरणीय ॥ ३० ॥ महा तेजस्वी, बल वाले, महा भाग, महारथी, धैर्य वाले, न दबने वाले, जीतने वाले, न हारने वाले, दुष्टों के सुधारने वाले, धर्मात्माओं के रक्षक, सच्चे पराक्रम वाले ऐसे शूरवीर को क्षत्रिया जनती है ॥ ३२ ॥

अ० ३२ (व० १३७) कुन्ती का संदेश

मूल—कुन्त्युवाच—एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः । यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ॥ १ ॥ माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतावुभौ । विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ॥ २ ॥ यत्र वः प्रेक्षमाणानां सर्वधर्मोपचायिनां । पाञ्चाली परुषाण्युक्ता को नु तत् क्षन्तुमर्हति ॥ ३ ॥ न राज्य हरणं दुःखं द्यूते चापि पराजयः । प्रव्राजनं सुतानां वा न मे तद् दुःखकारणं ॥ ४ ॥ यत्र सा बृहती श्यामा सभायां रुदती तदा । अश्रौषीत् परुषा वाचस्तन्मे दुःखतरं महत् ॥ ५ ॥ स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्म रता सदा । नाध्यगच्छत तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती॥ ६ ॥ तं वै ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्र भृतां-

वरं । अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं द्रौपद्याः पदवींचर ॥ ७ ॥ पाण्डवान् कुशलं पृच्छेः सपुत्रान् कृष्णया सह । मां च कुशलिनीं ब्रूयास्तेषु भूयो जनार्दन ॥ ८ ॥ अरिष्टं गच्छ पन्थानं पुत्रान् मे प्रति पालय ॥ ९ ॥ अभिवाद्याथतां कृष्णः कृत्वा चापि प्रदक्षिणं । निश्चक्राम महाबाहुः सिंहखेल गतिस्ततः ॥ १० ॥

अर्थ—कुन्ती बोली—अर्जुन को और सदा तय्यार भीम को मेरी ओर से यह वचन कहो ' क्षत्रिया जिस प्रयोजन के लिये पुत्र जनती है, उस का यह समय आगया है ' ॥ १ ॥ और क्षत्रधर्म में रत माद्रीपुत्रों से कहना, जीवन की परवाह न करके भी पराक्रम से कमाए भोगों को भोगो ॥ २ ॥ देखो तुम हरएक मर्यादा का पालन करते हो, पर तुम्हारे सामने द्रौपदी को जो ऐसे कठोर वचन कहे गए, कौन क्षत्रिय उस को सह सकता है ॥ ३ ॥ राज्य का छिन जाना, जुए में हार, वा पुत्रों का देश निकाला, यह मेरे दुःख का कारण नहीं ॥ ४ ॥ जैसा कि सभा में रुदन करती हुई, स्त्रीधर्म से युक्त (रजस्वला) उस सुन्दरी को कठोर वचन सुनने पड़े, यह मुझे बड़ा भारी दुःख है । जब कि द्रौपदी नाथ वाली हो कर भी कोई नाथ नहीं पासकी ॥ ५—६ ॥ हे महाबाहो ! सारे शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन को कहना, कि द्रौपदी के बताए मार्ग पर चलो ॥७॥ मेरी ओर से पुत्र कलत्र सहित पाण्डवों को कुशल पूछना, और मेरा कुशल उन को कहना ॥ ८ ॥ अब विघ्नों से रहित होकर मार्ग पर चलो, मेरे पुत्रों का प्रतिपालन करो ॥ ९ ॥ अनन्तर कुन्ती को प्रणाम और प्रदक्षिणा कर के सिंह की सी गति वाले महाबाहु कृष्ण बाहर निकले ॥ १० ॥

अ० ३३ (उ०१४४-१४६) कुन्ती कर्ण संवाद

मूल—कुन्त्युवाच—धिगस्त्वर्थं यत्कृते यं महान् ज्ञाति-वधः कृतः। वर्त्स्यते सुहृदां चैव युद्धेऽस्मिन् पराभवः॥ १॥ महत्यनर्थे निर्बन्धी वलवांश्च विशेषतः। कर्णः सदा पाण्डवानां तन्मेदहति मानसं॥ २॥ आशंसे त्वद्य कर्णस्य मनोऽहं पाण्डवान् प्रति। प्रसादयितु मासाद्य दर्शयन्ती यथातथं॥ ३॥ कस्मान्न कुर्याद्वचनं पथ्यं भ्रातृहितं तथा। इति कुन्ती विनिश्चित्य ययौ भागीरथीं प्रति॥ ४॥ आत्मजस्य ततस्तस्य घृणिनः सत्यसंगिनः। गंगातीरे पृथा श्रौषीद् वेदाध्ययन निःस्वनं॥ ५॥ आपृष्ठतापाङ्जप्त्वा स परिवृत्य यतव्रतः। दृष्ट्वा कुन्ती मुपातिष्ठ दाभिवाद्य कृताञ्जलिः॥ ६॥ कर्ण उवाच—राधेयोऽहमाधिरथिः कर्णस्त्वा माभि वादये। प्राप्ता किमर्थं भवती ब्रूहि किं करवाणिते॥ ७॥ कुन्त्युवाच—कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथःपिता। नासि सूत कुले जातः कर्ण तद्विद्धि मे वचः॥ ८॥ कानीनस्त्वं मया जातः पूर्वजः कुक्षिणा धृतः। कुन्तिराजस्य भवने पार्थ-स्त्वमसि पुत्रक॥ ९॥ स त्वं भ्रातृनसंबुध्य मोहाद् यदुपसेवसे। धार्तराष्ट्रान्न तद्युक्तं त्वयि पुत्र विशेषतः॥ १०॥ अर्जुनेनार्जितां पूर्वं हृतां लोभाद् साधुभिः। आच्छिद्य धार्तराष्ट्रेभ्यो भुङ्क्ष्व यौधिष्ठिरीं श्रियं॥ ११॥ अद्य पश्यन्तु कुरवः कर्णार्जुन समागमं। सौभ्रात्रेण समालक्ष्य संनमन्तामसाधवः॥ १२॥ कर्ण शोभिष्यसे नूनं पञ्चभिर्भ्रातृभिर्वृतः। सूतपुत्रेति मा शब्दः पार्थ-स्त्वमसि वीर्यवान्॥ १३॥

अर्थ—कुन्ती बोली—धन के प्रति धिक्कार है, जिस के

निमित्त यह बड़ा ज्ञातिवध सामने आया है, जब कि इस युद्ध में अपने सुहृदों को ही दबाना होगा ॥ १ ॥ कर्ण विशेषतः पाण्डवों के सदा अनर्थ में लगा रहता है और बलवान् भी है, यह बात मेरे मन को जलाती है ॥ २ ॥ इस से आज मैं कर्ण के निकट जा कर उसे सारा रहस्य यथार्थ कह कर उस के मन की मैल दूर कर के पाण्डवों की ओर झुकाऊंगी ॥ ३ ॥ भला वह अपने भले के और अपने भाइयों के हित के वचन को कैसे नहीं मानेगा, यह सोच कर कुन्ती गंगातट पर गई (जहां एकान्त में कर्ण सन्ध्या करने जाया करता था) ॥ ४ ॥ वहां गंगातट पर उस ने अपने दयाशील सत्यव्रत पुत्र का वेद का उच्चारण सुना ॥ ५ ॥ पीठ को धूप लगने तक नियम से जप कर के वह मुड़ कर (पीछे खड़ी) कुन्ती को देख हाथ जोड़ प्रणाम कर सामने खड़ा होगया ॥ ६ ॥ कर्ण बोला—मैं राधा और अधिरथ का पुत्र कर्ण अभिवादन करता हूं, आप किस निमित्त आई हैं, कहिये आप की क्या आज्ञा है ॥ ७ ॥ कुन्ती बोली—हे कर्ण तुम कुन्ती पुत्र हो, राधापुत्र नहीं, न तुम्हारा पिता अधिरथ है, और तुम सूतकुल में उत्पन्न नहीं हुए हो, मेरे इस वचन को सत्य समझो ॥ ८ ॥ मैंने कन्या अवस्था में तुम्हें अपनी कुक्षि में धारण कर के जन्म दिया है, तुम मेरे पलोठे पुत्र हो, हे बेटा तुम कुन्तिराज के भवन में उत्पन्न हुए हो, तुम पृथा के पुत्र हो ॥ ९ ॥ तुम अपने असली भाइयों को न जान कर भूल से धृतराष्ट्र के पुत्रों का सेवन करते हो, तुम्हारे लिये यह योग्य नहीं है ॥ १० ॥ पहले अर्जुन से कमाई वह राज्यलक्ष्मी, जिस को लोभ से नीचों ने छीन लिया है, तुम युधि-

ष्ठिर की उस लक्ष्मी को धृतराष्ट्र के पुत्रों से छीन कर भोगो ॥ ११ ॥ कौरव आज कर्ण और अर्जुन का भ्रातृरूप से समागम देखें, और दुर्जन झुकें ॥ १२ ॥ हे कर्ण तुम पांचों भाइयों से युक्त हो कर शोभा पाओगे, सूतपुत्र अब यह शब्द तुम्हारे लिये प्रयुक्त न हो, तुम पराक्रमी पार्थ हो ॥ १३ ॥

मूल—कर्ण उवाच—न चैतच्छ्रद्दधे वाक्यं क्षत्रिये भाषितं त्वया। धर्मद्वारं ममैतत्स्यान्नियोगकरणं तव ॥ १४ ॥ क्रियाकाले त्वनुक्रोशम कृत्वा त्वमिमं मम। हीनसंस्कारसमयमद्य नाम प्रचूचुदः ॥ १५ ॥ न वै मम हितं पूर्वं मातृवच्चेष्टितं त्वया। सा मां संबोधयस्यद्य केवलात्म हितैषिणी ॥ १६ ॥ अभ्राता विदितः पूर्वं युद्धकाले प्रकाशितः। पाण्डवान् यदि गच्छामि किं मां क्षत्रं वदिष्यति ॥ १७ ॥ सर्वकामैः संविभक्तः पूजितश्च यथासुखं। अहं वै धार्तराष्ट्राणां कुर्यां तदफलं कथं ॥ १८ ॥ उपनह्य परैर्वैरं ये मां नित्य मुपासते। मम प्राणेन ये शत्रून् शक्ताः प्रति समासितुं ॥ १९ ॥ मन्यन्ते ते कथं तेषामहं छिद्यां मनोरथं ॥ २० ॥ अयं हि कालः संप्राप्तो धार्तराष्ट्रोपजीविनां। निर्वेष्टव्यं मया तत्र प्राणानपरिरक्षता ॥ २१ ॥ अनवेक्ष्य कृतं पापा विकुर्वन्त्यनवस्थिताः। राजकिल्बिषिणां तेषां भर्तृपिण्डापहारिणां ॥ २२ ॥ नैवायं न परो लोको विद्यते पाप कर्मणां ॥ २३ ॥ आनृशंस्य मथोवृत्तं रक्षन् सत्पुरुषोचितं ॥ २४ ॥ अतोऽर्थकर मप्येतन्न करोम्यद्य ते वचः ॥ २५ ॥ न च तेऽयं समारम्भो मयि मोघो भविष्यति। संग्रामे न हनिष्यामि ते सुतानर्जुनादृते ॥ २६ ॥ अर्जुनं हि निहत्याजौ संप्राप्तं स्यात् फलं मया। यशसा चापि युज्येयं

निहतः सव्यसाचिना ॥ २७ ॥ न ते जातु न शिष्यन्ति पुत्राः पञ्च यशस्विनि । निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयि ॥ २८ ॥ इति कर्णवचः श्रुत्वा कुन्ती दुःखात्प्रवेपती । उवाच पुत्र माश्लिष्य कर्णं धैर्यादकम्पनं ॥ २९ ॥ एवं वैभाव्य मतेन भयं यास्यन्ति कौरवाः । यथा त्वं भाषसे कर्ण दैवं तु बलवत्तरं ॥ ३० ॥ त्वया चतुर्णां भ्रातॄणामभयं शत्रुकर्षन । दत्तं तत प्रतिजानीहि संगरप्रतिमोचनं ॥ ३१ ॥ अनामयं स्वस्ति चेति पृथाऽथो कर्ण मब्रवीत । तां कर्णोऽथ तथेत्युक्त्वा ततस्तौ जग्मतुः पृथक् ॥ ३२ ॥

अर्थ—कर्ण बोले-हे क्षत्रिये! मैं इस पर श्रद्धा नहीं करता, कि तुम ने जो वाक्य कहा, (कि दुर्योधन को त्याग कर पाण्डवों का साथ दे) तुम्हारी उस आज्ञा को मानना मेरे लिये धर्म का द्वार हो ॥ १४ ॥ कार्य काल (पालन पोषण और संस्कार करने के समय) तो मेरे ऊपर कोई भी दया न करके संस्कारों से हीन मुझ को आज तुमने आ घेरा है ॥ १५ ॥ पहले तुमने माता के समान मेरा कोई हितकार्य नहीं किया, आज तुम मुझे केवल अपने हित की इच्छा से जितलाती हो ॥ १६ ॥ पहले मैं उन का भाई कहके प्रसिद्ध न था. अब युद्ध के समय यदि ऐसा प्रसिद्ध करके पाण्डवों में जा मिलूं, तो यह क्षात्रिय मुझे क्या कहेंगे ॥ १७ ॥ धृतराष्ट्र के पुत्रों ने आज तक सब भोगों में मुझे साथी बनाए रक्खा, और अत्यन्त सत्कार किया है, इस सारी बात को मैं इस समय कैसे निष्फल कर दूं ॥ १८ ॥ शत्रुओं के साथ वैर बान्ध कर जो सदा मेरा सेवन करते हैं, जो मेरे बल के सहारे पर शत्रुओं को जीतने की शक्ति वाला अपने

को मानते हैं, उन के मनोरथ को मैं कैसे मूल से काट दूं॥१९-२०॥ दुर्योधन के आश्रितों को कुछ कर दिखलाने का यही समय आया है, सो मैं प्राणों की परवाह न कर के उस का पलटा दूंगा॥ २१ ॥ जो नीच पहले उपकार पर दृष्टि न दे कर समय पर बिगड़ खड़े होते हैं, उन निमकहरामी राजद्रोही पापकर्मियों का न यह लोक न परलोक रहता है॥ २२-२३॥ सो मैं सत्पुरुषों के योग्य सौजन्य और सदाचार की रक्षा करता हुआ, धृतराष्ट्र के पुत्रों के अर्थ तेरे पुत्रों से युद्ध करूंगा॥ २४॥ इस लिये लाभदायक भी तुम्हारी इस बात को अब मैं नहीं मान सकता हूं॥ २५॥ हां तुमने जो मुझे इतना अनुरोध किया है, यह भी निष्फल नहीं होगा, संग्राम में सिवाय अर्जुन के तेरे पुत्रों को नहीं मारूंगा॥ २६॥ संग्राम में अर्जुन को मार कर यहां फल लाभ करूंगा, अथवा अर्जुन के हाथ से मर कर यश पाऊंगा॥ २७॥ हे यशस्विनि! तेरे पांच पुत्र कदाचित् नष्ट न होंगे, या तो अर्जुन से रहित कर्ण सहित होंगे, वा मेरे मरने पर अर्जुन सहित होंगे॥ २८॥ इस प्रकार कर्ण की बात सुन कर दुःख से कांपती हुई कुन्ती धैर्य से न गिरने वाले कर्ण को आलिंगन करके यह वचन बोली॥ २९॥ हे कर्ण तुम जो बोलते हो, यह ऐसा ही होने वाला है, निःसंदेह कौरवों का क्षय होने को है, दैव बड़ा प्रबल है॥ ३०॥ हे शत्रुनाशन! तुम ने चारों भाइयों को अभय दान दिया है, उन को संग्राम में छोड़ देने की प्रतिज्ञा करो॥ ३१॥ अनन्तर कुन्ती कर्ण से यह वचन बोली, तुम्हारा कुशल हो, कल्याण हो, कर्ण ने उसे तथास्तु कहा, अनन्तर वह दोनों अलग २ चले गए॥ ३२॥

अ०१४(व०१४७-१५२) पाण्डवों के कुरुक्षेत्र में डेरे

मूल—आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्य मरिन्दमः । पाण्डवानां यथावृत्तं केशवः सर्वं मुक्तवान् ॥ १ ॥ कृतो यत्नो महांस्तत्र शमःस्यादिति भारत । धर्मस्य गत मानृण्यं नस्म वाच्याः विवक्षतां ॥ २ ॥ कृतास्त्रं मन्यते बाल आत्मान मविचक्षणः।युज्यतां वाहिनी साधु बलसाध्या हि मे मताः ॥ ३ ॥ सारवद् बलमस्माकं दुष्प्रधर्षं दुरासदं । धार्तराष्ट्रंबलं संख्ये हनिष्यति न संशयः ॥ ४ ॥ एवमुक्ते तु कृष्णेन संप्र हृष्यन् नरोत्तमाः ।, तेषां प्रहृष्टमनसां नादः समभवन्महान् ॥ ५ ॥ कुरवः मूल प्रतीकारं गुल्मैः स्थावरजंगमैः । स्कन्धावारेण महता प्रययुः पाण्डुनन्दनाः॥६ ॥ आसाद्यतु कुरुक्षेत्रं प्रभूतयवसेन्धन । निवेशयामास तदा सेनां राजा युधिष्ठिरः ॥ ७ ॥ शिबिरं मापय मास धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः। आसाद्य सरितं पुण्यां कुरुक्षेत्रे हिरण्वतीं ॥ ८ ॥ शिबिराणि महार्हाणि राज्ञां तत्र पृथक् पृथक् ॥ ९ ॥ तत्रासन् शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः । सर्वोपकरणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः ॥ १० ॥

अर्थ—हस्तिनापुर से उपप्लव्य में आ कर शत्रुनाशक श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को जो हुआ था, सब बतलाया ॥ १ ॥ हे भारत ! वहां मैंने बड़ा भारी यत्न किया, कि किसी प्रकार शान्ति हो सके, हम धर्म के अनृणी हुए हैं, अब हम किसी के आक्षेप योग्य नहीं रहे ॥ २ ॥ वह मूर्ख अपने को अस्त्रों में बलवान् समझता है, सो अब भली भांति सेना की तय्यारी कीजिये, वह अब बल से ही वश में होंगे, यह मेरा निश्चय है॥ ३ ॥

हमारी सेना दुर्जय है, बल वाली है, इस को जीतना वा इस का सामना करना आसान नहीं, यह रण में दुर्योधन की सेना को मारेगी इस में संशय नहीं ॥ ४ ॥ कृष्ण के ऐसा कहने पर शूरवीरों के रोम खिल गए, और प्रसन्न मन वालों का ऊंचा सिंहनाद उठा ॥ ५ ॥ स्थायी और जंगम (गश्त लगाने वाली) सेनाओं से मूल देश का प्रबन्ध कर के पाण्डव वहां सेना के साथ गए ॥ ६ ॥ कुरुक्षेत्र में पहुंच कर प्रभूत चारे और इन्धन वाले देश में राजा युधिष्ठिर ने सेना का निवेश किया ॥ ७ ॥ कुरुक्षेत्र में पवित्र हिरण्यवती नदी के निकट धृष्टद्युम्न ने छावनी का माप किया ॥ ८ ॥ वहां सभी राजाओं के अलग २ महार्ह कैंप लगे ॥ ९ ॥ वहां वेतनभोगी अनेक निपुण शिल्पी थे, और सारे साधनों से युक्त शास्त्रनिपुण वैद्य थे ॥ १० ॥

अ० ३५ (व० १५३-१५५) दुर्योधन को सेना सजाना

मूल—प्रतियाते तु दाशार्हे राजा दुर्योधनस्तदा । कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चाब्रवीदिदं ॥ १ ॥ अकृतेनैव कार्येण गतः पार्थानधोक्षजः । स एनान्मन्युनाविष्टो ध्रुवं धक्ष्यत्यसंशयं ॥ २ ॥ भाविता विग्रहः सोऽयं तुमुलो लोमहर्षणः । तस्मात् सांग्रामिकं सर्वं कारयध्वमतन्द्रिताः ॥ ३ ॥ प्रयाणं घुष्यतामद्यश्वो भूत इति माचिरं ॥ ४ ॥ व्युष्टायां रजन्यां हि राजा दुर्योधनस्ततः । व्यभजत् तान्यनीकानि दश चैकं च भारत ॥ ५ ॥ नर हस्ति रथाश्वानां सारं मध्यं च फल्गु च । सर्वेष्वेतेष्वनीकेषु संदिदेश नराधिपः ॥ ६ ॥ चतुर्युजो रथाः सर्वे सर्वे चोत्तमवाजिनः ॥ ७ ॥ धुर्ययोर्हययोरेकस्तथान्यौ पार्ष्णि सारथी । तौ चापि रथिनां

श्रेष्ठा रथी च हयवित्तथा ॥ ८॥ नगराणीव गुप्तानि दुराधर्षाणि शत्रुभिः । आसन् रथ सहस्राणि हेममालीनि सर्वशः ॥ ९ ॥

अर्थ—कृष्ण के लौट जाने पर राजा दुर्योधन कर्ण दुःशासन और शकुनि से यह बोले ॥ १ ॥ कृष्ण अकृतकार्य होकर पाण्डवों के पास गया है, वह क्रोध से भरा हुआ अब निःसंदेह उन को प्रचण्ड करेगा॥२॥ सो अब रौंगटे खड़ा करने वाला बड़ा भारी युद्ध अवश्य होगा, इस लिये निरालस्य हो कर युद्ध की सारी तय्यारी करो ॥ ३ ॥ अब देर न लगाओ, आज ही यह घोषणा दे दो, कि कल चढ़ाई होगी ॥ ४ ॥ अनन्तर रात बीतने पर राजा दुर्योधन ने उन ग्यारह सेनाओं का विभाग किया॥५॥ राजा ने सारी सेनाओं में हाथी घोड़े रथ और मनुष्यों में से उत्तम मध्यम और हीन को यथायोग्य आज्ञा दी ॥ ६ ॥ सब रथ उत्तम घोड़ों वाले थे, सब पर चार २ वीर थे ॥ ७ ॥ आगे चलने वाले घोड़ों पर एक, दो और-एक सारथि और एक पीछे, वह दोनों बड़े श्रेष्ठ रथज्ञाता थे,और घोड़ों की पहचान वाला एक रथी (रथयोद्धा) ॥ ८ ॥ नगरों की भांति सुरक्षित, शत्रुओं से न दबने वाले, सुनहरी मालाओं वाले चारों ओर सहस्रों रथ होगए ॥ ९ ॥

मूल—यथा रथास्तथा नागा बद्धकक्षाः स्वलंकृताः।बभूवुः सप्तपुरुषा रत्नवन्त इवाद्रयः ॥ १० ॥ द्वावंकुशधरौ तत्र द्वावुत्तम धनुर्धरौ । द्वौ वरासिधरौराजन्नेकः शक्तिपिनाकधृक् ॥ ११ ॥ आमुक्त कवचैर्युक्तैः सपताकै स्वलंकृतैः । सादिभिश्चोप पन्नास्तु तथा चायुतशो हयाः ॥ १२ ॥ नानारूप विकाराश्च नाना

कवच शास्त्रिणः । पदातिनो नरास्तत्र बभूवुर्हेमपमालिनः ॥ १३ ॥
रथस्यासन् दश गजा गजस्य दश वाजिनः। नरा दश हयस्यासन्
पादरक्षाः समन्ततः ॥ १४ ॥ रथस्य नागाः पञ्चाशन्नागस्या-
सन् शतं हयाः । हयस्य पुरुषाः सप्त भिन्न सन्धान कारिणः।१५।
सेना पञ्चशतं नागा रथास्तावन्त एव च । दशसेना च पृतना
पृतना दश वाहिनी ॥ १६ ॥ एवं व्यूढान्यनेकानि कौरवेयेन
धीमता । अक्षौहिण्यो दशैका च संख्याताः सप्त चैव हि ॥१७॥
नराणां पञ्चपञ्चाशदेषापत्तिर्विधीयते । सेनामुखं च तिस्रस्ता
गुल्म इत्याभि शब्दितं ॥ १८ ॥ त्रयो गुल्मा गणस्त्वासीद् गणा-
स्त्वयुतशोऽभवन्। दुर्योधनस्य सेनासु योत्स्यमानाः प्रहारिणः।१९।
तत्र दुर्योधनो राजा शूरान् बुद्धिमतो नरान् । प्रसमीक्ष्य महाबा-
हुश्चक्र सेनापतींस्तदा ॥ २० ॥ कृपं द्रोणं च शल्यं च सैन्धवं च
जयद्रथं । सुदक्षिणं च काम्बोजं कृतवर्माण मेव च ॥ २१ ॥
द्रोणपुत्रं च कर्णं च भूरिश्रवस मेव च । शकुनि सौबलं चैव बा-
ल्हीकं च महाबलं ॥ २२ ॥ दिवसे दिवसे तेषां प्रतिवेलं च भारत।
चक्रे स विविधाः पूजाः प्रत्यक्षं चैव भारत ॥ २३ ॥

अर्थ—रथों की भांति हाथी भी तय्यार किये गए उन पर सात २ वीर बैठे, ऐसे सजाए गए, मानों रत्नों से जटित पर्वत थे ॥ १० ॥ उन में से दो अंकुशधारी, दो धनुषधारी, दो तलवार धारी, एक शक्ति और त्रिशूल धारी ॥ ११ ॥ तथा कवच पहने हुए, झंडे लिये हुए, सजे हुए सावधान लाखों घोड़े चले ॥ १२ ॥ भांति २ के रूप भेष वाले भांति २ के कवच शस्त्र पहने सोने की मालाओं वाले प्यादे वहां सजे ॥ १३ ॥ एक रथ

के दस हाथी, एक हाथी के दस घोड़े, एक घोड़े के दस प्यादे चारों ओर पादरक्षक बनाए गए ॥ १४ ॥ और कहीं एक रथ के पचास हाथी, एक हाथी के सौ घोड़े, और एक घोड़े के सात पुरुष सहायक थे ॥ १५ ॥ पांचसौ हाथी और उतने ही रथों (१५०० घोड़े, और २५०० प्यादों) की एक सेना बनी । सेना के दसगुनी पृतना, पृतना से दसगुनी वाहिनी॥१६॥ इस प्रकार बुद्धिमान् दुर्योधन ने अनेक व्यूह रचे । ग्यारह अक्षौहिणी और सात अक्षौहिणियां (दोनों ओर की सारी) सेना थी ॥ १७ ॥ पचपन मनुष्यों की एक पत्ति, वा सेनामुख, तीन पत्तियों का एक गुल्म, तीन गुल्मों का एक गण, ऐसे लाखों गण दुर्योधन की सेना में शस्त्रधारी थे ॥ १८—१९ ॥ महाबाहु राजा दुर्योधन ने शूरवीर बुद्धिमान् पुरुषों को समझ कर सेनापति बनाया ॥ २० ॥ कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य, जयद्रथ, काम्बोजराज, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, शकुनि और महाबली बाल्हीक ॥ २१—२२ ॥ और हे भारत दिन २ हर घड़ी सब के सामने अनेक प्रकार से उन की पूजा करने लगे ॥ २३ ॥

अ०३६(व०१५६) भीष्म को प्रधान सेनापति बनाना

मूल—ततः शान्तनवं भीष्मं प्राञ्जलिर्धृतराष्ट्रजः । सह सर्वैर्महीपालैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥ ऋते सेना प्रणेतारं पृतना सुमहत्यपि । दीर्यते युद्ध मासाद्य पिपीलिकपुटं यथा ॥ २ ॥ न हि जातु द्वयोर्बुद्धिः समा भवति कर्हिचित् । शौर्यं च बलनेतॄणां स्पर्धते च परस्परं ॥ ३ ॥ भवानुशनसा तुल्यो हितैषी च सदा

मम । असंहार्यः स्थितो धर्मे स नः सेनापतिर्भव ॥ ४ ॥ भीष्म उवाच—एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत । यथैव हि भवन्तो मे तथैव मम पाण्डवाः ॥ ५ ॥ अपि चैव मया श्रेयो वाच्यं तेषां नराधिप । संयोद्धव्यं तवार्थाय यथा मे समयः कृतः ॥ ६ ॥ न त्वेवोत्सादनीया मे पाण्डोः पुत्रा जनाधिप । तस्माद् योधान् हनिष्यामि प्रयोगेणायुतं सदा ॥ ७ ॥ एवमेषां करिष्यामि निधनं कुरुनन्दन । न चेत्त मां हनिष्यन्ति पूर्वमेव समागमे ॥ ८ ॥ सेनापतिस्त्वहं राजन् समयेनापरेण ते । भविष्यामि यथाकामं तन्मे श्रोतुमर्हसि ॥ ९ ॥ कर्णो वा युध्यतां पूर्वमहं वा पृथिवीपते । स्पर्धते हि सदाऽत्यर्थं सूतपुत्रो मया रणे ॥ १० ॥ कर्ण उवाच—नाहं जीवति गांगेये राजन् योत्स्ये कथञ्चन । हते भीष्मे तु योत्स्यामि सह गांडीव धन्वना ॥ ११ ॥ ततः सेनापतिं चक्रे विधिवद् भूरिदक्षिणं । धृतराष्ट्रात्मजो भीष्मं सोऽभिषिक्तो व्यरोचत ॥ १२ ॥ ततो भेरीश्च शंखांश्च शतशोऽथ सहस्रशः । वादयामासुरव्यग्रा वादका राजशासनात ॥ १३ ॥ ततः सेनापतिं कृत्वा भीष्मं परबलार्दनं । वाच यित्वा द्विज श्रेष्ठान् गोभिर्निष्कैश्च भूरिशः ॥ १४ ॥ वर्धमानो जयाशिर्भिर्निर्ययौ सैनिकैर्वृतः । स्कन्धावारेण महता कुरुक्षेत्रं जगाम ह ॥ १५ ॥

अर्थ—तब दुर्योधन सब राजाओं को संगले हाथ जोड़ भीष्म से यह बोले ॥ १ ॥ हे पितामह ! सेनापति के बिना बहुत बड़ी सेना भी युद्ध को पा कर चींटियों के जत्थे की भांति तित्तर बित्तर होजाती है ॥ २ ॥ दो की बुद्धि कभी एक तुल्य नहीं होती । सेना के नेताओं का शौर्य एक दूसरे से बढ़ चढ़ कर होता है ॥ ३ ॥ आप शुक्राचार्य के तुल्य हैं और मेरे सदा हितैषी हैं, आप का कोई संहार कर नहीं सकता,. आप धर्म में

स्थित हैं, आप हमारे सेनाप[ति ब]नें ॥ ४ ॥ भीष्म बोले—ऐसे ही हो, हे महाबाहो जैसे तुम कहते हो, पर मेरे लिये जैसे तुम हो, वैसे पाण्डव भी हैं ॥ ५ ॥ इस लिये हे राजन् मैं उन के भी कल्याण की बात कहूंगा, हां युद्ध तेरे निमित्त करूंगा, यह मेरा नियम है ॥ ६ ॥ पाण्डु के पुत्रों का नाश कभी नहीं करूंगा, हां और दससहस्र वीरों को प्रति दिन मारूंगा ॥ ७ ॥ इस प्रकार मैं उन के वीरों का विनाश करूंगा, जब तक कि वह मुझे युद्ध में न मार देंगे ॥ ८ ॥ दूसरा हे राजन् ! मैं इस नियम से तेरा सेनापति बनूंगा, वह भी सुन लीजिये ॥ ९ ॥ पहले कर्ण युद्ध करे, वा मैं युद्ध करूं, क्योंकि कर्ण रण में मेरे साथ सदा स्पर्धा करता है ॥ १० ॥ कर्ण बोले—हे राजन् ! भीष्म के जीतेजी मैं कभी युद्ध नहीं करूंगा । भीष्म के मरने पर अर्जुन के साथ युद्ध करूंगा ॥ ११ ॥ तब दुर्योधन ने यथाविधि भीष्म को सेनापति बनाया, बहुत सी दक्षिणा दी, अभिषिक्त हुए भीष्म का तेज बढ़ गया ॥ १२ ॥ तब दुर्योधन की आज्ञा से बजाने वालों ने सैंकड़ों सहस्रों भेरियें और शंख बजाए ॥ १३ ॥ शत्रुसेना के पीड़ने वाले भीष्म को सेनापति बना कर और ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करवा गौएं और मोहरें दे कर, जय की असीसों से बधाइयें लेता हुआ सैनिकों से युक्त हुआ दुर्योधन निकला और भारी कैम्प के साथ कुरुक्षेत्र को गया ॥ १४ ॥

अ३७(व०१५७-१६३) कौरवों का युद्ध संदेश और पाण्डवों का उत्तर

मूल—ततो द्रुपदमानाय्य विराटं शिनि पुंगवं । धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं धृष्टकेतुं च पार्थिवं ॥ १ ॥ शिखण्डिनं च पाञ्चा-

रथं सहदेवं च मागधं। एतान् सप्त महाभागान् वीरान् युद्धाभि काङ्क्षिणः ॥ २ ॥ सेनाप्रणेतृन् विधिवदभ्यषिञ्चद्युधिष्ठिरः । सर्व सेनापतिं चात्र धृष्टद्युम्नं चकार ह ॥ ३ ॥ सर्वेषामेव तेषां तु समस्तानां महात्मनां । सेनापतिपतिं चक्रे गुडाकेशं धनञ्जयं ॥४॥ अर्जुनस्यापि नेता च संयन्ता चैव वाजिनां । संकर्षणानुजः श्रीमान् महाबुद्धिर्जनार्दनः ॥ ५ ॥ द्वावेव तु महाराज तस्माद् युद्धादपेयतुः । रौहिणेयश्च वार्ष्णेयो रुक्मी च वसुधाधिपः ॥ ६ ॥ हिरण्वत्यां निविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु । न्यविशन्त महाराज कौरवेया यथाविधि ॥ ७ ॥ तत्र दुर्योधनो राजा निवेश्य बल मोजसा। संमानयित्वा नृपतीन् न्यस्य गुल्मां स्तथैव च ॥८ ॥ संभाषित्वा च कर्णेन भ्रात्रा दुःशासनेन च । सौबलेन च राजेन्द्र मन्त्रयित्वा नरर्षभ ॥ ९ ॥ आहूयोपह्वरे राजन्नुलूक मिद मब्रवीत् । उलूक गच्छ कैतव्य पाण्डवान् सह सोमकान् ॥ १० ॥

अर्थ—उधर द्रुप विराट सात्यकि धृष्टद्युम्न धृष्टकेतु शिखण्डी और मगध के राजा सहदेव इन सात युद्ध प्रिय वीरों को बुला कर राजा युधिष्ठिर ने यथाविधि सेनापति के तौर पर अभिषिक्त किया, और धृष्टद्युम्न को सर्वसेनापति बनाया ॥ १-३ ॥ उन सब महानुभावों के ऊपर अर्जुन को सेनापतियों का पति बनाया ॥ ४ ॥ बलराम के छोटे भाई महाबुद्धि श्रीमान् कृष्ण अर्जुन के नेता और घोड़ों के सारथि बने ॥ ५ ॥ हे महाराज उस युद्ध से दो ही अलग रहे, बलराम यादव और राजा रुक्मी ॥ ६ ॥ हिरण्वती के निकट पाण्डवों के छावनी डालने पर, कौरवों ने उत्तम ढंग पर अपनी छावनी डाली ॥७॥ राजा दुर्योधन ने अपना सेनानिवेश कर, राजाओं का आदर

सत्कार कर, और मांर्चे लगा कर, कर्ण, दुःशासन और शकुनि के साथ मन्त्रणा कर के एकान्त में उलूक को बुला कर उसे यह कहा, हे उलूक जुआरिये पाण्डवों के और सोमकों के पास जाओ, और जा कर कृष्ण के सामने मेरा संदेश दो ॥ ८—१० ॥

मूल—सेनानिवेशं संप्राप्तः कैतव्यः पाण्डवस्य ह । समागतः पाण्डवैर्युधिष्ठिर मभाषत ॥ ११ ॥ अभिज्ञो दूत वाक्यानां यथोक्तं ब्रुवतो मम । दुर्योधनसमादेशं श्रुत्वा न क्रोद्धुमर्हसि॥१२॥ युधिष्ठिर उवाच—उलूक न भयं तेऽस्ति ब्रूहि त्वं विगतज्वरः॥१३॥ ततो द्युतिमतां मध्ये पाण्डवानां महात्मनां । सृंजयानां च मत्स्यानां कृष्णस्य च यशस्विनः ॥ १४ ॥ भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह । इदं त्वामब्रवीद् राजा धार्तराष्ट्रो महामनाः ॥ १५ ॥ अमर्षं राज्यहरणं वनवासं च पाण्डव । द्रौपद्याश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ १६ ॥ लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्र मकर्दमं । समः पन्था भृतास्तेऽश्वाः श्वो युध्यस्व स केशवः ॥ १७ ॥ असमागम्य भीष्मेण संयुगं किं विकत्थसे । द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतु मिच्छसि तन्मृषा ॥ १८ ॥ कथमाश्यामप ध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा । रणे जीवन् विमुच्येत पदा भूमि मुपस्पृशन् ॥ १९ ॥ किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां न बुध्यसे राज चमूं समेतां । दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्यां ॥ २० ॥ प्राच्यैः प्रतीच्यै रथ दाक्षिणात्यै रुदीच्य कांबोजशकैः खशैश्च । शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमुख्यदेश्यैर्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्र कांच्यैः ॥ २१ ॥ इत्येवमुक्त्वा राजानं पुनर्जिष्णु मभाषत ॥ २२ ॥ जानामि ते वासुदेवं सहायं जानामि ते गांडिवं तालमात्रं । जानाम्येतद् त्वादृशो नास्ति योद्धा जानानस्ते

राज्य मेतद्धरामि ॥ २३ ॥ त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विल-
पतस्तव । भूयश्चैव प्रशासिष्ये निहत्य त्वां सबान्धवं ॥ २४ ॥
क्व तदा गांडिवं तेऽभूद्यत्त्वं दास पणैर्जितः । क्व तदा भीमसे-
नस्य बलमासीच्च फाल्गुन ॥ २५ ॥ सगदाद् भीमसेनाद्वा पार्थो
द्वा स गांडिवात् । न वै मोक्षस्तदात्रोऽभूद् विना कृष्णामनिन्दि-
तां ॥ २६ ॥ न भयाद्वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन । राज्यं
प्रतिप्रदास्यामि युध्यस्व सह केशवः ॥ २७ ॥ वासुदेवसहस्रं वा
फाल्गुनानां शतानि वा । आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो-
दश ॥ २८ ॥

अर्थ—उलूक पाण्डवों के सेनानिवेश में पहुंच कर सारे
पाण्डवों से मिल कर युधिष्ठिर से बोला ॥ ११ ॥ आप दूतों
की बात के जानने वाले हैं, इस लिये यथोक्त कहे दुर्योधन के
संदेश को सुन कर आप मेरे ऊपर क्रोध न कीजियेगा ॥१२॥
युधिष्ठिर बोले, हे उलूक तुझे कोई भय नहीं, निःशंक हो कर
कहो ॥ १३ ॥ तब महात्मा तेजस्वी पाण्डवों, सृंजयों, मत्स्यों
यशस्वी कृष्ण और सारे राजाओं के मध्य में वह यह वचन
बोला । उदारचित्त राजा दुर्योधन ने तुझे यह वचन कहा है
॥ १४—१५ ॥ हे पाण्डव ! सहार न सकना, राज्य का छिन-
ना, वनवास और द्रौपदी का क्लेश इन को स्मरण कर के पुरुष
बन ॥ १६ ॥ लोहे का सार निकल आया, कुरुक्षेत्र बिना कीं-
चड़ के है, मार्ग साफ होगए हैं, तेरे घोड़े पुष्ट हैं, अब कल कृष्ण
को संग ले कर युद्ध कर ॥ १७ ॥ भीष्म के साथ जुटे बिना
क्या तुम अपनी प्रशंसा करते हो, और महातेजस्वी द्रोण को जो
तुम जीतना चाहते हो, यह झूठ है ॥ १८ ॥ कैसे वह पुरुष जिस

का यह दोनों अनिष्ट सोचें, जो इन के दारुण कर्म के सामने आजाए, रणभूमि को पाओं से छूकर रण में बच कर निकल सकता है ॥ १९ ॥ क्या कूप मण्डूक की भांति तुम इकट्ठी हुई इस राजसेना को नहीं देखते हो, जो देवताओं से रक्षित स्वर्ग की भांति पूर्व पच्छिम उत्तर दक्षिण के शूरवीरों, कांबोज, शक, खश, शाल्व कुरुदेशों के रहने वाले मत्स्य म्लेच्छ पुलिन्द द्राविड़ आन्ध्र और कांची के शूरवीरों और राजाओं से रक्षित है और देव तुल्य दुर्जय है ॥ २०—२१ ॥ राजा से यह कहकर फिर अर्जुन से बोला ॥ २२ ॥ मैं जानता हूं, कि कृष्ण तेरा सारथि है, जानता हूं, कि तेरा गांडीव तालजितना बड़ा है, और यह जानता हूं, कि तेरे जैसा योद्धा नहीं है, यह सब जानता हुआ तेरे राज्य को छीनता हूं ॥ २३ ॥ तेरे रोते २ ही तेरहवर्ष मैंने राज्य भोगा है, और अब साथियों समेत तुम्हें मार कर फिर भोगूंगा ॥ २४ ॥ तेरा गांडीव उस समय कहां था, जब तू हे दास पासों से जीता गया था, और हे अर्जुन उस समय भीमसेन का बल कहां था ॥ २५ ॥ उस समय गदायुक्त भीम से वा गांडीव युक्त अर्जुन से तुम्हारा छुटकारा न हुआ, बिना द्रौपदी (स्त्री) का सहारा लिये ॥ २६ ॥ हे अर्जुन न मैं कृष्ण के भय से न तेरे भय से राज्य दूंगा कृष्ण के संग मिल कर युद्ध कर ॥ २७ ॥ सहस्रों कृष्ण और सैंकड़ों अर्जुन मेरे न चूकने वाले बाण को पा कर दसों दिशाओं में भाग जाएंगे ॥ २८ ॥

मूल—उलूकस्य तु तद्वाक्यं पापं दारुण मीरितं । श्रुत्वा विचुक्षुभे पार्थो ललाटं चाप्य मार्जयत् ॥ २९ ॥ तदवस्थं तदा दृष्ट्वा पार्थं सा समितिर्नृप । नामृष्यन्त महाराज पाण्डवानां महा-

रथाः ॥ ३० ॥ अधिक्षेपेण कृष्णस्य पार्थस्य च महात्मनः। श्रुत्वा ते पुरुषव्याघ्राः क्रोधाज्जज्वलु रच्युत ॥ ३१ ॥ धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः। केकया भ्रातरः पञ्च राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ३२ ॥ द्रौपद्याभिमन्युश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः। भीमसेनश्च विक्रान्तो यमजौ च महारथौ ॥ ३३ ॥ उत्पेतु रासनात् सर्वे क्रोधसंरक्तलोचनाः ॥ ३४ ॥ तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः। उदतिष्ठत स वेगेन क्रोधेन प्रज्वलन्निव ॥ ३५ ॥ उद्वृत्य सहसा नेत्रे दन्तान् कटकटाय्य च। हस्तं हस्ते न निष्पिष्य उलूकं वाक्य मब्रवीत ॥ ३६ ॥ श्रुतं ते वचनं मूर्ख शृणु वाक्यं दुरासदं। सर्व क्षत्रस्य मध्ये तं यद्वक्ष्यामि सुयोधनं ॥ ३७ ॥ अस्माभिः प्रीतिकामैस्तु भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः। मर्षितं ते दुराचार तत्त्वं न वहु मन्यसे ॥ ३८ ॥ प्रेषितश्च हृषीकेशः शमाकाङ्क्षी कुरून् प्रति। कुलस्य हितकामेन धर्मराजेन धीमता ॥ ३९ ॥ त्वं कालचोदितो नूनं गन्तुकामो यमक्षयं। गच्छस्वाहवमस्माभिस्तच्च श्वो भविता ध्रुवं ॥ ४० ॥ मयापि च प्रतिज्ञातो वधः सभ्रातृकस्य ते। स तथा भविता पाप नात्र कार्या विचारणा ॥ ४१ ॥ वेला मतिक्रमेत्सद्यः सागरो वरुणालयः। पर्वताश्च विशीर्येयुर्मयोक्तं न मृषा भवेत् ॥ ४२ ॥

अर्थ—उलूक के इस दारुण वचन को सुन कर अर्जुन क्षोभ में आया और ललाट (पर आए पसीने) को पोंछा।२९। ऐसी अवस्था में अर्जुन को देख कर पाण्डव और दूसरे सभ्य सह नहीं सके ॥३० ॥ कृष्ण और अर्जुन को की गई झिड़क को सुन कर वह पुरुषवर क्रोध से जलने लगे ॥ ३१ ॥ धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकि, पांचों भाई केकय, घटोत्कच, द्रौपदी के पुत्र,

अभिमन्यु, धृष्टकेतु, भीमसेन, नकुल, सहदेव, यह सब आसनों से उठ खड़े हुए और इन के नेत्र लाल हो गए ॥ ३२—३४ ॥ उन के आकार और भाव के जानने वाले कुन्तीपुत्र भीम, क्रोध से प्रचण्ड हो वेग से उठे ॥ ३५ ॥ नेत्रों को फाड़ कर और दांतों को कड़कड़ा कर, हाथ को हाथ से निपीड़ कर, उलूक से यह वाक्य बोले ॥ ३६ ॥ सुन लिया है तेरा वचन हे मूर्ख अब तू वह दुर्धर्ष वचन सुन, जो सारे क्षत्रियों के मध्य में तू उस सुयोधन को कहेगा ॥ ३७ ॥ हमने अपने बड़े भाई का प्रेम चाहते हुए तेरा सब सहन किया है, पर हे दुराचारी तू उस का आदर नहीं करता है ॥ ३८ ॥ बुद्धिमान् धर्मराज ने कुल के हित की इच्छा से कृष्ण को कुरुओं की ओर शान्ति के अर्थ भेजा ॥ ३९ ॥ तू काल से प्रेरा हुआ यम के घर जाना चाहता है, सो हमारे साथ युद्ध में संगत हो, युद्ध कल निःसंदेह होगा ॥ ४० ॥ मैंने भी तेरे भाई (दुःशासन) के और तेरे वध की प्रतिज्ञा की हुई है, वह हे नीच अवश्य पूरी होगी, इस में संदेह न रख ॥ ४१ ॥ समुद्र ज्वार भाटा त्याग दे, पर्वत चूर्ण विचूर्ण होजायं, पर मेरा कहा हुआ झूठा नहीं होगा ॥ ४२ ॥

मूल—उवाच फाल्गुनो वाक्यं भीमसेनं स्मयन्निव । भीमसेन न ते सन्ति येषां वैरं त्वया सह ॥ ४३ ॥ उलूकश्च न ते वाच्यः परुषं पुरुषोत्तम । दूताः किमपराध्यन्ते यथोक्तस्यानु भाषिणः ॥ ४४ ॥ एवमुक्त्वा महाबाहुः सुहृदः समभाषत । श्रुतं वस्तस्य पापस्य धार्तराष्ट्रस्य भाषितं ॥ ४५ ॥ कुत्सनं वासुदेवस्य मम चैव विशेषतः । श्रुत्वा भवन्तः संरब्धा अस्माकं हितकाम्यया ॥ ४६ ॥ प्रभावाद् वासुदेवस्य भवतां च प्रयत्नतः । समग्रं पार्थिवं

सत्रं सर्वं न गणयाम्यहं ॥ ४७ ॥ भवाद्भिः समनुज्ञातो वाक्यमस्य यदुत्तरं । उलूके प्रापयिष्यामि यद्वक्ष्यति सुयोधनं ॥ ४८ ॥ श्वो भूते कत्थितस्यास्य प्रतिवाक्यं चमूमुखे । गांडीवेनाभिधास्यामि क्लीबा हि वचनोत्तराः ॥ ४९ ॥ ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रशशंसुर्धनञ्जयं । तेन वचनोपचारेण विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ५० ॥ युधिष्ठिर उवाच—उलूक मद्वचो ब्रूहि गत्वा तात सुयोधनं । स्वेन वृत्तेन मे वृत्तं नाधिगन्तुं त्वमर्हसि ॥ ५१ ॥ न चाहं कामये पाप मपि कीट पिपीलयोः । किं पुनर्ज्ञातिषुवधं कामयेय कथञ्चन ॥ ५२ ॥ एतदर्थं मया तात पञ्च ग्रामा वृता पुरा । कथं तव सुदुर्बुद्धे न प्रेक्ष्ये व्यसनं महत् ॥ ५३ ॥ स त्वं कामपरी तात्मा मूढभावाच्च कत्थसे । तथैव वासुदेवस्य न गृह्णासि हितं वचः ॥ ५४ ॥ किं चेदानीं बहूक्तेन युध्यस्व सह बान्धवैः । श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत्त तथास्तु तत् ॥ ५५ ॥ उलूकस्तु ततो राजन् धर्मपुत्रं युधिष्ठिरं । आमन्त्र्य प्रययौ तत्र यत्र राजा सुयोधनः॥५६॥

अर्थ—तब अर्जुन मुसकरा कर भीमसेन से बोले, हे भीमसेन वह मरे ही जानो, जिनका तुम्हारे संग वैर है । किन्तु हे पुरुषोत्तम आपने उलूक को कठोर वचन न कहना चाहिये, दूतों का क्या अपराध है, वह तो केवल उस का अनुवाद करते हैं, जो कुछ उन्हें कहा गया है ॥ ४४ ॥ यह कह कर फिर वह महाबाहु अपने सुहृदों से बोला । आपने उस पापी दुर्योधन का वचन सुन लिया है ॥ ४५ ॥ जिस में कृष्ण की और मेरी विशेष कर के निन्दा की गई है, सुन कर के हमारे हित कामना से आप सब जोश में आगए हैं ॥ ४६ ॥ कृष्ण के प्रभाव से और आप के प्रयत्न से, मैं उन के सारे राजमण्डल और क्षत्रमण्डल

को कुछ नहीं समझता हूं ॥ ४७ ॥ आप की अनुज्ञा ले कर इस का उत्तर उलूक को दे देता हूं, जो वह सुयोधन को जाकर कहेगा ॥ ४८ ॥ वह यह है, कि तुम्हारी इस आत्मश्लाघा का उत्तर कल सेना के आगे खड़ा होकर गांडीव से दूंगा, ऐसी उत्तेजना का वाणी से उत्तर देने वाले नपुंसक होते हैं ॥ ४९ ॥ तब सब राजे उस के वचन व्यवहार से विस्मित हो उस की प्रशंसा करने लगे ॥ ५० ॥ अब युधिष्ठिर बोले—हे उलूक सुयोधन को जा कर मेरा यह वचन कहो, अपने आचरण से तुम मेरे आचरण को नहीं पा सक्ते हो ॥ ५१ ॥ मैं कीड़े मकौड़े का भी अनिष्ट नहीं चाहता, क्या फिर ज्ञातियों का वध कभी भी चाहूं ॥५२॥ इसी लिये मैंने हे तात पांच ही गाओं स्वीकार कर लिये थे, (जब तुमने उतना भी न माना, तो) हे दुर्बुद्धे कैसे मैं तेरी इस बड़ी विपदा को न देखूं ॥ ५३ ॥ सो तू लालच से भरा हुआ मूढता से अपनी श्लाघा कर रहा है; और कृष्ण के भी हित-वचन को नहीं सुनता है ॥ ५४ ॥ अब बहुत कहने से क्या अपने साथियों समेत आकर युद्ध करो, हमने तुम्हारा वाक्य सुन लिया, तात्पर्य जान लिया, जो आप को अभीष्ट है, वही हो॥५५॥ तब हे राजन् उलूक धर्मपुत्र युधिष्ठिर से आज्ञा ले कर वहां गया, जहां दुर्योधन था ॥ ५६ ॥

अ० ३८ (व० १९५-१९६) सेनाओं का सामने सामने आना

मूल—ततः प्रभाते विमले धार्तराष्ट्रेण चोदिताः । दुर्योधनेन राजानः प्रययुः पाण्डवान् प्रति ॥ १ ॥ आप्लाव्य शुचयः सर्वे स्रग्विणः शुक्लवाससः । गृहीतशस्त्रा ध्वजिनः स्वस्ति वाच्य हुता-

न्वयः ॥ २ ॥ सर्वे ब्रह्मविदः शूराः सर्वे सुचरित व्रताः । सर्वे कामकृतश्चैव सर्वे चाहव लक्षणाः ॥ ३ ॥ आहवेषु परांल्लोकान् जिगीषन्तो महाबलाः । एकाग्रमनसः सर्वे श्रद्दधानाः परस्परं॥४॥ विन्दानु विन्दावावन्त्यौ केकया बाह्लिकैः सह । प्रययुः सर्व एवैते भारद्वाज पुरोगमाः ॥ ५ ॥ अश्वत्थामा शान्तनवः सैन्धवोऽथ जयद्रथः । गान्धारराजः शकुनिः प्राच्यो दीच्याश्च सर्वशः ॥६॥ एते महारथाः सर्वे द्वितीये निर्ययुर्बले ॥ ७ ॥ शलो भूरिश्रवाः शल्यः कौसल्योऽथ बृहद्रथः । एते पश्चादनुगता धार्तराष्ट्र पुरोगमाः ॥ ८ ॥ ते समेत्य यथान्यायं धार्तराष्ट्रा महाबलाः । कुरुक्षेत्रस्य पश्चार्धे ह्यवातिष्ठन्त दंशिताः ॥ ९ ॥ दुर्योधनस्तु शिबिरं कारयामास भारत । यथैव हास्तिनपुरं द्वितीयं समलंकृतं ॥१०॥ तादृशान्येव दुर्गाणि राज्ञामपि महीपतिः । कारयामास कौरव्यः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ११ ॥ पञ्चयोजन मुत्सृज्य मण्डलं तद्रणाजिरं । सेनानिवेशास्ते राजन्नाविशञ्छत संघशः ॥ १२ ॥ तेषां दुर्योधनो राजा स सैन्यानां महात्मनां । व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमं ॥ १३ ॥ सनागाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः । सर्वांस्तान् कौरवो राजा विधिवत् प्रत्यवेक्षत॥१४।

अर्थ—तब प्रभात का चांदना होने पर दुर्योधन से प्रेरे हुए सब राजाओं ने स्नान कर शुद्ध हो मालाएं श्वेत वस्त्र और शस्त्र धारण कर पाण्डवों के प्रतियोग के लिये झंडे खड़े किये, और स्वस्तिवाचन कर अग्निहोत्र किया ॥ १—२ ॥ सब ब्रह्मवेत्ता शूरवीर ब्रह्मचर्य व्रत पूरे किये हुए इरादों के पक्के युद्ध के चिन्हों वाले, युद्ध में शत्रुओं को जीतने की इच्छा वाले महाबली एकाग्रमन आपस में विश्वास वाले ॥ ३—४ ॥ अवन्ति के विन्द

अनुविन्द केकय और वाल्हीक यह सब द्रोणाचार्य को आगे कर के एक ओर चढ़े ॥ ५ ॥ अश्वत्थामा भीष्म जयद्रथ शकुनि पश्चिमोत्तर के राजे ॥ ६ ॥ यह सब महारथी दूसरे दल में निकले ॥ ७ ॥ शल भूरिश्रवा शल्य और बृहद्रथ यह सब दुर्योधनसमेत पीछे चले ॥ ८ ॥ धृतराष्ट्र के पक्ष वाले वह सब महाबली मिल कर कवच पहरे हुए कुरुक्षेत्र के पश्चिमी अर्धभाग में खड़े हुए दुर्योधन ने अपने कैंप को ऐसा सजाया, मानों दूसरा हस्तिनापुर था ॥ ९ ॥ दूसरे राजाओं के सैंकड़ों सहस्रों दुर्ग भी दुर्योधन ने वैसे ही बनवाए ॥ १० ॥ वह रणांगन पांच योजन की परिधि में बना, जहां सैंकड़ों दलों में सेनाएं खड़ी हुईं ॥ ११ ॥ राजा दुर्योधन ने हाथी घोड़े मनुष्यों समेत अपने सारे सैनिकों और दर्शकों के लिये उत्तम भक्ष्य भोज्य की व्यवस्था कर दी। जो शिल्पोपजीवी थे, उन सब की कौरव राजा ने यथायोग्य व्यवस्था कर दी ॥ १२—१४ ॥

मूल—तथैव राजा कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः। धृष्टद्युम्न मुखान् वीरांश्चोदयामास भारत ॥ १५ ॥ अभिमन्युं बृहन्तं च द्रौपदेयांश्च सर्वशः। धृष्टद्युम्न मुखानेतान् प्राहिणोत् पाण्डुनन्दनः ॥ १६ ॥ भीमं च युयुधानं च पाण्डवं च धनञ्जयं। द्वितीयं प्रेषयामास बलस्कन्धं युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥ स्वयमेव ततः पश्चाद् विराट द्रुपदान्वितः। अथापरैर्महीपालैः सह प्रायान्महीपतिः॥१८॥ कोशसंचयवाहांश्च कोष्ठागारं तथैव च। गजानीकेन संपन्नः शनैः प्रायाद् युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥ तत्र भेरी सहस्राणि शंखानाम युतानि च। व्यवादयन्त संहृष्टाः सहस्रायुतशो नराः॥ २० ॥

अर्थ—वैसे ही धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने भी धृष्टद्युम्न आदि वीरों को आज्ञा दी ॥ १५ ॥ युधिष्ठिर अभिमन्यु, बृहन्त और द्रौपदी के पुत्रों के संग धृष्टद्युम्न आदि को अग्रिम दल में भेजा ॥ १६ ॥ भीम, युयुधान और अर्जुन को दूसरे सेनादल में भेजा ॥ १७ ॥ उन से पीछे स्वयं राजा युधिष्ठिर विराट द्रुपद और दूसरे राजाओं के संग चढ़ा ॥ १८ ॥ कोश के डेरों और अन्नाजादि के डेरों का संग्रह कर हाथियों की सेना के साथ चला ॥ १९ ॥ वहां प्रसन्न हुए सहस्रों वीर सहस्रों और लाखों भेरियों और शंखों को बजाने लगे ॥ २० ॥

उद्योगपर्व समाप्त हुआ ॥

७००) रु० इनाम.

श्रीवाल्मीकि रामायण की टीका पर।

—:०:—

(क) पं० राजाराम जी प्रोफेसर डी० ए० वी० कालेज लाहौर ने श्री वाल्मीकि रामायण का हिन्दी में उल्था किया है, वह ऐसा अद्वितीय और प्रामाणिक उल्था हुआ है, कि उस पर प्रसन्न होकर पञ्जाब यूनीवर्सिटी ने ५००) रु० और पञ्जाब गवर्नमेन्ट ने १००) रु० पण्डित जी को इनाम दिया है (१) इसमें मूल संस्कृत भी साथ है, (२) हिन्दी टीका बड़ी ही सरल है, जिसको बच्चे भी चाव से पढ़ते हैं, (३) कण्ठ करने योग्य उत्तम२ श्लोकों पर निशान दिये हैं॥

यह जीवन को सुधारकर नया जीवन बना देने वाली पुस्तक हरएक घर में अवश्य होने योग्य है। ऐसी उत्तम और इतनी बड़ी पुस्तक का मूल्य ५। सुनहरी अक्षरों की जिल्द वाली ५॥।)

पण्डित जी संस्कृत के माने हुए विद्वान् हैं, उनकी और भी सभी पुस्तक बड़ी योग्यता की हैं, और बड़ी भी सरल हैं, जैसाकि—

(ख) श्री मद्भगवद्गीता—इस पर भी पण्डित जी को गवर्नमेन्ट से १०० इनाम मिला है। मूल श्लोक के नीचे पद का अर्थ, फिर अन्वयार्थ, फिर भाष्य है। मूल्य २)

सफलजीवन ॥)

मनुस्मृति—हिन्दी भाष्य—पुराने सात भाष्यों के, अर्थ भेद भी और दूसरी स्मृतियों के हवाले भी साथ हैं। इस पर भी १००) इनाम

मूल्य ३)